

~ ૩૫ ~ વત્રમય જીવની



भगवान् बुद्ध
चित्रमय जीवनी

Edited by
Raja Ram Mohan Roy
Library Foundation
Calcutta



भगवान् बुद्ध के विविध रूप

भगवान् बुद्ध : चित्रमय जीवनी

हेरमन हेस्से

लिप्यंतरण

शिवनारायण पंत

प्रथम संस्करण : 2002

प्रकाशक : दिल्ली पुस्तक सदन

30/36, गली नं 9, विश्वात नगर

शाहदरा, दिल्ली-110032

सर्वाधिकार : सुरक्षित

आवरण : मनजीत

मूल्य : 250.00 रुपये

मुद्रक : बी के ऑफसेट

नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

ISBN - 81 7878-810-5



प्रस्तावना

आरम्भ में, जब तीन सहस्र लोक उत्पन्न किए जा रहे थे, सब पदार्थ उत्पन्न हो गए, परन्तु अभी जड़ और चेतन वस्तुओं में कोई भेद न था। यह ब्रह्मांड एक शून्य उजाड़ था, जिसमें न सूर्य घूमता था और न चन्द्र। दुःख-सुख और सत्-असत् में कोई भेद न था। जब ब्राह्मणीय देवता अपने शारीरिक प्रकाश के साथ पृथ्वी पर उतरे, वे अपना भोजन पृथ्वी की मोटाई से लेते थे, इसलिए लोभ और पेटूषण का स्वभाव प्रादुर्भूत हुआ, और वे वन की लताओं और सुवासित द्रव्यों को एक दूसरे के बाद खाने लगे। जब उनका प्रकाश क्रमशः लोप हो गया तो सूर्य-चन्द्र प्रकट हो गए। विवाह और कृषि की अवस्था पैदा हुई, और राजा-प्रजा तथा पिता-पुत्र-सम्बन्धी नियम स्थापित हो गए। तब अधिवासियों को ऊपर नीलाकाश की ओर देखने पर नक्षत्र घूमते हुए दिखाई दिए। बाद को नीचे की ओर दृष्टि डालने पर उन्होंने देखा कि पृथ्वी अधिक ठोस होती जा रही है। दो तत्त्वों, अस्ति और नास्ति ने द्यो-पृथ्वी का रूप धारण कर लिया और उनके बीच अन्तरिक्ष में मनुष्य उत्पन्न हुए; मैले और साफ पवन के प्रभाव से, प्रकृति में अपने आप द्वन्द्व पैदा हो गए। पृथ्वी पर पर्वत दृढ़ खड़े थे, नक्षत्र ऊपर बिखरे हुए थे, और जड़ पदार्थ फैल और बढ़ रहे थे। अन्त को उनमें मतभेद हो गया, और वे छियानबे श्रेणियों में विभक्त हो गए; तत्त्व पच्चीस श्रेणियों में बाँटे गए।

हमारे परमगुरु, लोक-ज्येष्ठ शाक्य ने ही अद्भुत तत्त्व का उपदेश दिया है। उसने बारह निदान समझाए हैं और अठारह अनुपम धर्म¹ उपार्जन किए हैं। उसने अपने आपको देवों और मनुष्यों का गुरु (शास्ता देवमनुष्यानाम्), अथवा सर्वज्ञ कहा है। केवल उसी ने चार प्रकार की सृष्टि² को अग्नि-कुंड (संसार) से निकाला, और जीवन की तीन अवस्थाओं³ को अन्धकार के निवास से मुक्त किया

- 1 ये धर्म हैं—सम्यक् कर्म, सम्यक् वचन और सम्यक् सकल्प, भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान, प्रज्ञा, भोक्ष, शान्त मन इत्यादि।
- 2 अर्थात् गर्भ से, (i) अडों से, (ii) आर्द्रता से, (iii) अथवा अलौकिक रीति से उत्पन्न हुई सृष्टि।
- 3 जीवन की तीन अवस्था—(i) काम-जगत्, (ii) रूप-जगत्, (iii) अरूप-जगत्।

है वह क्लेश रूपा नदी को पार करके निर्वाण-रूपा तट पर जा पहुँचा है

जब हमारा मुनि ने नाग नदी अर्थात् निरजना नदी पर बाधिज्ञान प्राप्त किया, तब प्राणियों की नौ श्रेणियाँ¹ मोक्ष की आशा करने लगी। तब इस ज्योति के मृगदाव (काशी) में जाने से जीवन के छ² मार्गों की धर्म-पिपासा शांत हुई।

ज्यो ही उन्होंने धर्म-चक्र को फिराना आरम्भ किया, सबसे पहले पाँच मनुष्यों³ ने उनके उपदेश का लाभ उठाया। फिर उन्होंने शील-सोपान का उपदेश दिया, और सहस्रो लोगों ने उनके सामने सिर नवाया। इस पर उनका ब्रह्मनाद गजगृह में सुनाई दिया, जिससे असंख्य आत्माओं का उद्धार हुआ।

माता-पिता के प्रेम का बदला चुकाने के लिए जब वे कपिलवस्तु वापस आये तब उन्हें बहुत-से ऐसे शिष्य मिले, जिनको उनके उपदेशों पर श्रद्धा थी। उन्होंने सबसे पहले अज्ञात कौडिन्य को उपदेश देकर भिक्षु बनाया।

उन्होंने अपने जीवन में अन्तिम दीक्षा सुभद्र⁴ को दी, जिससे उसके जीवन का अन्तिम काल उसकी मूल-अभिलाषा के अनुरूप हो।

वे सद्य की स्थापना और रक्षा करते हुए अस्सी वर्ष तक जीते रहे। उन्होंने नौ सभाओं में अपने निर्वाण के सिद्धांत का प्रचार किया।

साधारण अनुयायियों को वे केवल पंचशील की ही शिक्षा देते थे, परंतु भिक्षुओं को अपराधों के सात स्कंधों का आशय खूब खोलकर समझाया करते थे। वे समझते थे कि इस लोक के अधिवासियों के बड़े-से-बड़े पाप भी शील की वृद्धि से दूर हो जाते हैं, और मेरी विनय की सम्यक् शिक्षा से छोटे-से-छोटे दोष भी नष्ट हो जाते हैं।

जब गुरुदेव लोगो को उसकी योग्यताओं के अनुसार उपदेश तथा परित्राण देने की इच्छा करते, तब वे उन सब युक्तियों को छोड़ देते जो दूसरे मनुष्य के लिए अतीव उपयुक्त थीं। अन्त में इस धराधाम पर भगवान् का धर्मोपदेश-काल जब समाप्ति को पहुँच चुका और वे अपने कार्य में कृतकार्य हो चुके तब उनका प्रतिबिम्ब शाल वृक्षों की दो श्रेणियों के बीच लोप हो गया। उस समय मनुष्य और देवता की कौन कहे, साँप और प्रेत भी शोकार्त थे। उन सबके आंसुओं से शाल-तरुओं के नीचे की भूमि भीगकर कीचड़ हो गई। जिनको सबसे अधिक

1. नौ श्रेणियाँ पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं के उप-विभाग हैं, इनमें से प्रत्येक तीन-तीन उपविभागों में बाँटी गई है।

2. जीवन के छ मार्ग ये हैं—मानव, देव, प्रेत, तिर्यग्योनि, असुर और नरक।

3. पंचवर्गीय भिक्षुओं अर्थात् कौडिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित को ही बुद्ध ने पहले-पहल ऋषिपत्तन में धर्मचक्र का उपदेश दिया था।

4. बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र था।

शाक हुआ उन्होंने अपने सारे शरीर पर रक्त के आसू बहाए, जिससे उनके शरीर कुसुमित पेड़ों के समान दिखाई देते थे।

हमारे गुरुदेव के निर्वाण प्राप्त करने के अनन्तर धर्म के योग्य उपदेशक प्रकट हुए। उन्होंने एक बार बिहार की गुहा में और दूसरी बार वैशाली में इकट्ठे होकर बुद्ध के पवित्र ग्रन्थों का संग्रह किया। विनय के बड़े-बड़े सरक्षकों में अठारह भिन्न-भिन्न विभाग उत्पन्न हो गए। अनेक मतों और ऐतिह्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के त्रिपिटक एक-दूसरे से भिन्न हैं। इनकी भिन्नता छोटी-छोटी बातों पर है।

प्रत्येक सम्प्रदाय के अपने ऐतिह्य हैं जो गुरु से शिष्य को मिले हैं। ये ऐतिह्य एक-दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक की पूरी-पूरी व्याख्या है, जिससे वे आपस में मिश्रित नहीं हो सकते।

आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय निम्न परिधान के अचल को सीधा, और दूसरे तीन निकाय इसे बेडौल काटना बताते हैं। 2. वही निकाय निवास के लिए अलग-अलग कमरों की आज्ञा देता है, परंतु आर्य-सम्मिति-निकाय रस्सियों के बनाये हुए घेरे में जुदा-जुदा बिछौने नियुक्त करता है। 3. आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय भिक्षा सीधे हाथ में पकड़ लेता है किन्तु आर्यमहासंधिक-निकाय भिक्षा रख देने के लिए स्थान पर चिढ़ कर देता है।

पश्चिम (भारत) में इन निकायों के अनेक उप-सम्प्रदाय हैं। इनके मूल भिन्न-भिन्न हैं। परंतु निरन्तर ऐतिह्य के मुख्य निकाय केवल चार हैं। वे आगे दिए जाते हैं—

1.

आर्यमहासंधिक-निकाय सात भागों में बंटा हुआ है। इसके तीन पिटकों में से प्रत्येक में 1,00,000 श्लोक, अथवा सारे 3,00,000 श्लोक हैं।

2.

आर्यस्थविर-निकाय के तीन उपविभाग हैं। इसके तीन पिटकों में श्लोकों की संख्या पूर्वोल्लिखित निकाय के श्लोकों के ही बराबर है।

3.

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय सब पदार्थों के अस्तित्व को मानता है। यह निकाय चार उपविभागों में विभक्त है। इसके तीन पिटकों में श्लोकों की संख्या उतनी ही है जितनी कि ऊपर के निकाय में है।

4.

आर्यसम्मिति-निकाय के चार उपविभाग हैं। इसके त्रिपिटकों में 2,00,000 श्लोक

है, केवल विनयपिटक के ही श्लोको की संख्या 30,000 है। परंतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस विभाग के विषय में इन निकायों के कुछ ऐतिह्यो में भारी मतभेद है।

भारत के पाचों खंडों और दक्षिण-सागर के द्वीपों में लोग चार ही निकाय बताते हैं। परंतु भिन्न-भिन्न स्थानों में प्रत्येक निकाय के भक्तों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

मगध (मध्य भारत) में सर्वास्तिवाद-निकाय का जोर सबसे ज्यादा है। लाट¹ और सिंधु में अधिक अनुयायी सम्मतिनिकाय के, उत्तर-खंड (उत्तर-भारत) में सब लोग सर्वास्तिवाद-निकाय के माननेवाले हैं, यद्यपि कभी-कभी महासधिक-निकाय के अनुयायी भी मिल जाते हैं। दक्षिण (दक्षिण-भारत) की ओर सब स्थविरनिकाय के अनुयायी हैं, यद्यपि दूसरे निकायों के भक्त भी मौजूद हैं। पूर्वी सीमान्त प्रदेशों² में चारों निकायों के अनुयायी मिले-जुले हैं।

सिंहल द्वीप (लंका) में सब आर्यस्थविर-निकाय के अनुयायी हैं और आर्यमहासधिक-निकाय को अस्वीकार करते हैं।

दक्षिण-सागर के द्वीपों में—जिनमें दस से अधिक देश हैं—प्रायः एकमात्र मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का ही सर्वत्र प्रचार है। यद्यपि कभी-कभी कुछ लोग सम्मति-निकाय के भी उपासक रहे हैं, और हाल ही में दूसरे दो निकायों के भी थोड़े-से अनुयायी मिले हैं। पश्चिम से गिनने पर सबसे पहले पो-लू-शी (पुलूशिह) द्वीप है और फिर मो-लो-यू (मलायू) देश जो कि अब श्रीभोज का (सुमात्रा में) देश है, मो-हो-सिन (महासिन) द्वीप, होलिंग (कलिंग) द्वीप (जावा में), तन-तन द्वीप (नतूना द्वीप), पेम-पेन द्वीप, पो-ली (बाली) द्वीप, कु-लुन द्वीप (पूलो कानडोर), फो-शिह-पू-लो (भोजपुर) द्वीप, ओ-शन द्वीप और मो-चिया-मैन द्वीप है।

कुछ और भी छोटे-छोटे द्वीप हैं। उन सबका उल्लेख यहां नहीं हो सकता। इन सब देशों ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है, और एक मयालू (श्रीभोज) को छोड़कर जहां कि थोड़े-से लोग महायान के अनुयायी हैं, बहुधा लोग हीनयान-संप्रदाय के माननेवाले हैं।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलने से मनुष्य (पैदल) एक मास में पोह-नन (कूओ) में, जो पहले फ़ू-नन कहलाता था, पहुंच जाता है। प्राचीन काल में इस देश के अधिवासी नग्न रहा करते थे। ये लोग बहुधा आकाश (देवताओं) के उपासक थे।

1 लाट शायद राजपूताना या देहली में कोई स्थान रहा हो। लेसन (Lassen) के मतानुसार 'लाट' राष्ट्र का सूचक है।

2 नालंद विहार से 500 योजन तक पूर्व की ओर जाने पर, सारा देश पूर्वी सीमांत कहलाता है।

फिर बाद को, यहा बौद्ध धर्म फैला, परंतु अब एक दुष्ट राजा ने इस धर्म को जड से उखाड़कर देश से बाहर निकाल दिया है। अब बौद्ध सघ का यहां कोई भी मनुष्य नहीं है परंतु दूसरे धर्मों के अनुयायी (विधर्मी) मिले-जुले रहते हैं। यह प्रदेश जम्बूद्वीप का दक्षिणी कोना है, और समुद्र के द्वीपों में से एक द्वीप नहीं। पूर्वी हिस्सा (अर्थात् चीन) में बौद्ध जनता बहुधा धर्मगुप्त-निकाय की अनुयायी है, किन्तु क्वन चुग (शेन-सी) में कुछ स्थानों के लोग, प्राचीन काल से, महासघिक-निकाय और धर्मगुप्त-निकाय दोनों को मानते हैं। प्राचीन काल में किअंग-नन (यंग-ट्ज़ी-किअंग नदी के दक्षिण) और लिंग-पियाओ (श्रेणी अर्थात् क्वग-त्तुंग और क्वग-सी के दक्षिण) में सर्वास्तिवाद-निकाय फैल चुका है। जब हम कहते हैं कि विनय दशाध्याय अथवा चतुर्वर्ग में विभक्त है तब ये नाम विशेषतः (उन) निकायों के ग्रहण किए हुए मूलग्रंथों के भागों अथवा गट्ठों से लिये गए हैं। इन निकायों की विशिष्टताओं और इनकी शिक्षा के प्रभेदों की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से पता लगता है उनमें बहुत-सी बातों पर मतभेद है। जिस बात को एक महत्त्व देता है उसे दूसरा वैसी नहीं समझता, और जिसकी एक में आज्ञा है उसका दूसरे में निषेध है।

चार निकायों में से कौन-से महायान के साथ अथवा हीनयान के साथ लगाने चाहिए, इसका निश्चय नहीं है।

उत्तर-भारत में और दक्षिण-सागर के द्वीपों में लोग प्रायः हीनयान के अनुयायी हैं, परंतु चीन में महायान के भक्त हैं। दूसरे स्थानों में कोई एक के अनुसार चलता है और कोई दूसरे के अनुसार।

जो लोग बोधिसत्त्वों की उपासना करते और महायानसूत्रों को पढ़ते हैं वे महायानी, और जो ये बातें नहीं करते, वे हीनयानी कहलाते हैं। महायान के केवल दो प्रकार हैं। पहला माध्यमिक और दूसरा योग। इनमें से पहले का मत है कि जिसे सामान्यतः अस्ति कहते हैं वह वास्तव में नास्ति है, और प्रत्येक वस्तु, माया के सदृश, एक खाली आभास-मात्र है। दूसरा कहता है कि वस्तुतः अन्तःविचारों के सिवा बाह्य वस्तु कोई नहीं, और सब वस्तुओं का अस्तित्व केवल हमारे मन में ही है। (शब्दशः—सब वस्तुएँ केवल हमारा मन ही हैं)।

ये दोनों दर्शन पूर्णतः आर्यमत के अनुसार हैं। दोनों समान रूप से सत्य के सदृश हैं और हमें निर्वाण तक ले जाते हैं। दोनों का लक्ष्य क्लेश का विनाश और प्राणि-मात्र का उद्धार है। यदि हम इनमें से किसी एक के अनुसार आचरण करेंगे तो दूसरे किनारे (निर्वाण) पर जा पहुँचेंगे, और यदि हम उनसे मुख मोड़ लेंगे तो पुनर्जन्मरूपी महासागर में डूबे रहेंगे। दोनों पद्धतियाँ समान रूप से भारत में सिखाई जाती हैं, क्योंकि आवश्यक बातों में उसका आपस में भेद नहीं है।

हमारे अभी 'ज्ञान-चक्षु' नहीं। हम उनमें सच और झूठ को कैसे पहचान सकते हैं ?

हमें ठीक वैसे ही करना चाहिए जैसे कि हमारे पूर्वाधिकारियों ने किया है, और उनके विषय में अपना निर्णय करने का कष्ट नहीं उठाना चाहिए।

विनय की पुस्तकें क्रमशः परिवर्धित की गई थी, परन्तु वे दुर्बोध हो गईं। यहाँ तक कि उनका पारायण एक पूरे जीवन का काम हो गया है। गुरुओं और शिष्यों ने एक निराली रीति ग्रहण की है। वे प्रकरण को छोटे-छोटे खंडों में अलग करके उन पर संवाद करते हैं। वे अपराधों से सबंध रखनेवाले लेखों का वर्णन, उन्हें वाक्यों में विभक्त करके, करते हैं। इस रीति में जितना परिश्रम होता है, उसके लिए इतने बड़े उद्यम का प्रयोजन है जितना कि एक पर्वत बनाने के लिए चाहिए; और लाभ उतना ही कठिन है जितना कि विस्तीर्ण महासागर से मोतियों की प्राप्ति। ग्रंथकर्ताओं को यत्न करना चाहिए कि उनके वर्णित विषय को पाठक सुगमता से समझ जाए। उन्हें ऐसी गूढ़ भाषा का व्यवहार न करना चाहिए जिसके लिए बाद को, दूसरों के उपहास करने पर, समाधान की आवश्यकता हो।

जब नदी में बाढ़ आने से उसका जल गहरे कुएँ में भर गया हो उस समय कुएँ का शुद्ध जल पान करने की इच्छा रखनेवाला प्यासा मनुष्य अपने जीवन को जोखिम में डालकर ही जिस प्रकार उसे प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार बहुत-से लोगों के हाथों में से गुजरने के बाद विनय का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परन्तु विनय के केवल मूल पाठ को देखें तो वहाँ यह बात नहीं।

छोटे अथवा बड़े अपराधों का निर्णय करने के लिए केवल थोड़ी-सी पवित्रता ही पर्याप्त होती है। अभियोगों का निर्णय करने के निमित्त उपायों की व्याख्या में मनुष्य को आधा दिन भी नहीं लगता। भारत और दक्षिण-सागर के द्वीपों में भिक्षुओं में अध्ययन का व्यापक उद्देश्य ऐसा ही है। दिव्य भूमि (चीन) में दूसरों के प्रति कर्तव्य (औचित्य) की शिक्षा का प्रचार सर्वत्र है; लोग अपने राजा तथा अपने माता-पिता का पूजन और सेवन करते हैं, वे अपने बड़ों का आदर करते और उनके अधीन रहते हैं। उनका जीवन सरल और उनका चरित्र शांत और प्रिय है। वे वही लेते हैं, जिसे ईमानदारी से ले सकते हैं।

पितृभक्त सत्तान और राजभक्त प्रजा बड़ी सावधानी से कार्य करती और मितव्ययी है। सम्राट् अपनी करोड़ों प्रजाओं पर हितभाव से शासन करता और उषाकाल से अभागे लोगों¹ पर बड़े यत्न से (शब्दशः—'अपनी चिंता और जोर डालकर') दया करता है। उसके मंत्री, जिनके मन सारी-सारी रात राज्य-कार्यों

1 शब्दार्थ—'जैसे वे खाइयों में गिरे हों।'

पर विचार करते रहते हैं अपने कतव्य को आदर (शब्दशः हाथ बाधे) और ध्यान (शब्दशः—‘मानो बर्फ पर चल रहे हों’) से पूरा करते हैं।

कभी-कभी एक सम्राट् त्रियान¹ के लिए बड़ा मार्ग खोल देता और सैकड़ों पीठे तैयार करके अध्यापकों को निमंत्रित करता है। कभी-कभी वह अपने सारे राज्य में चैत्य बनवाता है ताकि समस्त बुद्धिमान् लोग अपने मन को बुद्ध-धर्म की ओर प्रवृत्त करें। अथवा वह अपने राज्य में यत्र-त्रत सघाराम बनवाता है ताकि सभी अज्ञानी अपने पुण्य को परिपक्व करने के लिए वहां जाकर उपासना करें। किसान अपने खेतों में हर्ष से गाते और व्यापारी अपने पोतों पर अथवा अपने छकड़ों पर आनन्द से राग अलापते हैं। वास्तव में कुक्कुटों की पूजा करनेवाले लोग (अर्थात् कोरिया), हाथियों का अभिवंदन करनेवाले लोग (भारत) और चिन-लिन (शब्दार्थ, स्वर्ण-प्रतिवासी) तथा यू-लिन (शब्दार्थ, रत्न-पर्वत) के प्रदेशों के अधिवासी सम्राट् की सभा में आकर पादवन्दन करते हैं। हमारे लोग शांति अवस्था में शांतिपूर्वक अपना कारबार करते हैं (अथवा ‘शांति और सुख हमारे उद्देश्य हैं’), और प्रत्येक बात ऐसी पूर्ण है कि उसमें और बुद्धि की गुंजाइश नहीं।

जिन चीनी भिक्षुओं ने घर-बार छोड़ दिया है, वे नियमों का पालन करते और व्याख्यान देते हैं। शिष्यगण गभीरतापूर्वक अध्ययन करते और अपने-अपने गुरुओं के पढ़ाए हुए अतीव गहरे सिद्धांतों को समझते हैं। ऐसे भी लोग हैं, जो सांसारिक बंधनों से मुक्त होकर किसी गहरी दरी में एकांतवास कर रहे हैं। वहां वे अपने विचारों को शांत करने में लगे हुए, पथरीली नदी के जल से मुंह धोते और वृक्षाकीर्ण वनों में बैठते हैं। परंतु ऊपर से चले आनेवाले कुछ अशुद्ध उल्थाओं के कारण विनय के नियम की हानि हुई है, और नित्य दोहराई हुई भूलें रीतियां बन गई हैं, जो कि मूल सिद्धांतों के विपरीत हैं। इसलिए, आर्य-शिक्षा और भारत में वस्तुतः प्रचलित बड़ी-बड़ी रीतियों के अनुसार, हमने बड़ी सावधानी से आगे दिए लेख लिखे हैं। इनकी संख्या चालीस है, और मैंने इन्हें चार ग्रंथ-खंडों में विभक्त किया है। इसका नाम है ‘नन-है-ची-कुएई-नै-फा-चूअन’, अर्थात् ‘दक्षिण-समुद्र से स्वदेश भेजा हुआ पवित्र धर्म का इतिहास।’ इसके साथ मैं आपके पास अपनी एक दूसरी रचना, ‘ता-त’ अग-सी-यू-कू-फा-कओ-सेंग-चू ‘अन’ अर्थात् ‘उन विश्रुत भिक्षुओं के वृत्तांत जिन्होंने महा ‘त-अग’ कुल (618 ई.—907 ई.) के अधीन धर्म-जिज्ञासा के लिए भारत और उसके समीपवर्ती देशों की यात्रा की थी;’ और कई सूत्र और शास्त्र, सब मिलाकर, दस पुस्तकें भेज रहा हूं। मुझे आशा है कि पूज्यपाद भिक्षुगण, जो अपने धर्म-प्रचार में तत्पर हैं और जिनमें किसी प्रकार का

1. धर्मसंग्रह के अनुसार, श्रावकयान, प्रत्येक—बुद्धयान और महायान।

पक्षपात नहीं बुद्ध भगवान् की शिक्षा तथा आचरण के अनुसार विवेकपूर्वक आचरण करेंगे, और ग्रन्थकर्ता को तुच्छ समझने के कारण इस ग्रन्थ में वर्णित महत्त्वपूर्ण नियमों की उपेक्षा न करेंगे।

मैंने उन्हीं धर्मानुष्ठानों का मोटा-मोटा वर्णन किया है जो कि विनयवाद से मिलते हैं, और आपके सम्मुख उन्हीं शब्दों को रखा है जिनका आधार मेरे आचार्यों के प्रमाण हैं। यदि आप मेरे इस लेख को पढ़ेंगे तो एक भी पग चलने के बिना, आप भारत के समस्त पंचप्रदेशों की यात्रा कर लेंगे, और एक ही मिनट देने पर आप भावी सहस्रो युगों के लिए तमोमय मार्ग का दर्पण बन जाएंगे।

इस पुस्तक में वर्णित सभी बातें आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के अनुसार हैं, इसलिए दूसरे निकायों की शिक्षा के साथ इन्हें गड़बड़ न कर देना चाहिए। इस ग्रन्थ के विषय प्रायः दशाध्याय के विनय से मिलते हैं।

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के तीन उप-विभाग हैं—1. धर्मगुप्त;
2. महीशासक; 3. काश्यपीय।

“एक कासापन मिले बाबा,... एक कासापन मिले बाबा, कोई...इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय्य वा।”

पुकारने वाले उस व्यक्ति की पीठ सर्वथा झुक गयी थी। लाठी के सहारे, वह कठिनाई से एक-एक डग चल रहा था। पैर लडखड़ाते थे। हाथ कापते थे और सिर किसी वायु-विकम्पित फुनगी-सा हिल रहा था, ग्रीवा पर वह भार रूप प्रतीत होता था। बोल निकलने के साथ ही मुंह से बहुत-सी लार टपक पड़ती, जिसे उसके रुखे चीथड़े तुरन्त पी जाते। मक्खिया उस पर भिनभिना रही थीं।

उस अद्भुत जीवधारी के भौह श्वेत थे, और दृष्टि काली पड़ गयी थी।

वह इस प्रकार चल रहा था, मानो धरती पर कुछ खोज रहा है। पीछा करते नटखट लडकों में से एक ने पूछा—“बाबा, क्या खोजता है ?”

“अपनी युवावस्था”—दूसरा बोला, और शेष सब खिलखिलाकर हंस दिए।

“ले बाबा, यह कासापन”—दल के बालक ने उस पुरुष के हाथों में ककर रख दिया। कंकर का भान होने पर, बाबा ने अपनी लकड़ी चलाई, पर वे चपल बालक क्या उसकी पहुंच में आते ? उन्होंने जोर से अट्टहास किया और तालिया वजाईं।

राजमार्ग पर काफी भीड़ थी।

हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर बढ़ रहा था। मैं कब से बाबा को देख रहा था—

“रथ रोको,” मैंने कहा।

“.. .. .”

“आर्य छन्न, अश्वों को अविलम्ब रोको।”

राजरथ रुक गया। मैं नीचे उतर पड़ा।

जब से उस देहधारी को देखा, मेरे जी में न जाने क्या हो गया था। तन में कम्पन भर गया था। मन में सिहरन थी। ऐसा पुरुष तो मैंने आज पहली बार देखा था।

‘क्या है कुमार ? छन्ना ने पूछा।

‘देखो, देखो आर्य, इस व्यक्ति को क्या हो गया है ? इसका क्या खो गया है ? बालक कहते हैं कि इसका यौवन खो गया है, तुम दूढ़ दो न छन्ना।’

आर्य छन्न कैसे है, वे तो नितान्त मौन रहे।

मेरी आंखों में आसू भर आए। गद्गद कंठ से पूछा,—‘श्रेष्ठ छदक, कहां न, यह पुरुष कौन है ?’

सम्भवतः मेरे अश्रु-दल देख आर्य ने उत्तर दिया—

‘यह वृद्ध है कुमार।’

‘वृद्ध क्या होता है, आर्य ?’

‘जरा-जर्जरित जीव को वृद्ध कहते हैं। इसे अब अधिक दिन नहीं जीना है।’

‘सौम्य छत्र, इसके केश श्वेत क्यों हो गए हैं ?’

‘आयु के कारण।’

‘आयु क्या वस्तु है आर्य ?’

‘कालक्षेप को आयु कहते हैं कुमार।’

‘इसके दांत कहा गए, और इसकी पीठ औरों के समान सीधी क्यों नहीं है आर्य ?’

‘यह जरावस्था का धर्म है कुमार।’

‘यदि वह धर्म है, तो क्या सबको धारण करना पड़ता है ?’

‘यथार्थ है देव।’

‘अय्य छत्र, क्या तुम भी एक दिन ऐसे हो जाओगे ?’

‘हा कुमार।’

—और अब तो छन्दक के मुख पर वेदना-भाव स्पष्ट झलक आया। उसकी दृष्टि में भी करुणा भर आई।

‘और क्या मैं भी बूढ़ा हो जाऊंगा, क्या यह अनिवार्य है ?’

‘देव ! आप, हम और सभी मनुष्यों के लिए जरावस्था है, जो अनिवार्य है।’

मैं तों स्तब्ध रह गया। निष्कम्प दीपशिखा-सा अचपल जलता रहा। मेरे सम्मुख अपनी जरावस्था का चित्र घूमने लगा—

टेढ़े-मेढ़े झुके दंड का सहारा लिये चल रहा हूँ...सारे अंग शिथिल पड़ गए हैं, एक-एक पग लड़खड़ाते हैं... श्वेत केशी हू। अरदन मुख से लार टपकती है। मक्खियां मडरा रही हैं। और सबसे अधिक कष्टदायी है कि उत्पीडक, दुष्ट, वाचाल बालक मेरी हंसी उड़ा रहे हैं। हाथ मे कासापन के नाम पर ककर रख जाते हैं। पीछे से अन्तरीय खींचते हैं... बारम्बार पूछते हैं...बाबा, तेरी अम्बपाली कहां गई ?

मैंने अपने मुख पर हाथ फिराया..।

वालवृंद का सुस्पष्ट हास और करतल-रव मेरे समक्ष प्रतिध्वनित-आलोकित हो उठा। मैं अपने ही बस में न रहा। क्षिप्रतापूर्वक राजरथ में आरूढ़ हुआ।

“भद्र, बस उद्यान जाना रहने दो। रथ तुरन्त लौटा लो।”
 “कुमार को क्या हुआ है ?”—छन्दक व्यथित हो उठा।
 “कुछ नहीं छत्र, घबराओ नहीं। रथ हेमन्त-प्रासाद लौटा लो।”
 छन्दक ने कहा—“जो आज्ञा देव।”

रथ लौटकर चलने लगा।

—“मैं वृद्धावस्था को मिटा दूंगा।” मैंने मन-ही-मन कहा।

मैंने पूछा—“छन्दक, वह वृद्ध गेंटी-रोटी क्यों पुकारता था ?”

“वह भूखा था देव।”

“वह भूखा क्यों रहता है, आर्य ?”

“क्योंकि उसके पास खाने को रोटी नहीं है।”

“रोटी नहीं है तो भात क्यों नहीं खाता है ?”

“उसके पास न रोटी है, न भात। खाने को कुछ भी नहीं है।”

“है !... आर्य छत्र, मिथ्या तो नहीं कहते ?”

“नहीं, मैं कुमार का सेवक हूँ, कुमार से मिथ्या-भाषण कैसे करूंगा ?”

“तो क्या ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें रोटी दुर्लभ है ?”

“कुमार देव का कथन यथार्थ है।”

“फिर वे भूखे ही रहते होंगे, भूखे ही सोते होंगे ?”

“हां, कुमार।”

—“मैं भूख को मिटा दूंगा।” मैंने अपने निश्चय से कहा।

“और भद्र छन्दक।”

“आज्ञा हो आर्य।”

“वह कार्षापण द्रव्य क्यों भागता था ?”

“खाद्य-क्रय के निमित्त।”

“तो क्या खाद्य का क्रय-विक्रय होता है ?”

“परम भट्टारक महाराज के राज्य में भी होने लगा है।”

“खाद्य-विक्रय तो पाप है छत्रा ?”

“पाप है कुमार।”

“तो, परम भट्टारक भी पाप के भागी होंगे, छन्दक ?”

“ऐसा न कहिए कुमार, ऐसा सोचना भी पाप है। शान्तम् पापम्, शान्त पापम्।”

—“मैं खाद्य-विक्रय को मिटा दूंगा।” मेरी मुड्डिया बध गई।

“कुमार को क्या हो गया है ?”

भोले छत्रा के कोष में इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न कहा ?

यशोधरा नहीं मानी। मुझे अमरु-आवृत्त आसंदी पर बैठना ही पड़ा।

“यश, क्या सचमुच रात हो आई है ?”

“आर्यपुत्र विश्राम करे, दो पहर रात्रि बीत चुकी है।”

“यशोधरे जीवन में विश्राम नहीं है।”

“देव की दासी क्या उत्तर दे ?”

“मैंने कई बार कहा आर्य, अपने को दासी न कहो। तुमने एक क्षण भी न माना।”

“तुखी न हो देव, मेरे देवी कहाने का समय अभी नहीं आया। लगता है वह शुभ दिन दूर नहीं।”

और मैंने देखा, यशोधरा के अभिनीत नेत्रों में बड़े-बड़े आसू डबडबा आए हैं। बड़ी देर से जो रुलाई वह रोके बैठी थी, एक ज्वार की तरह उठी, और उस कचनागी की वेत्रयष्टि-देही को झकझोर गई। बोली—“देवी के रहते आज आर्य इतने अवसन्न क्यों हैं ?”

“सुभगे, सायंकाल को राजोद्यान जाते समय, मैंने एक त्रस्त, दुर्बलताग्रस्त व्यक्ति देखा। आर्य छन्दक ने बताया, यह वृद्ध है। और सुनो तो यशोधरा, छन्दक ने कहा—“सबके लिए वृद्ध होना अनिवार्य है। तब से मैं सोच रहा हूँ, वार्द्धक्य को कैसे भिटा दूँ ?”

“देव, अपराध क्षमा हो, घटने-बढ़ने, बनने-मिटने और गिरने-उठने की सतत क्रिया पर ही ससार निर्भर है।”

“उचित कहती हो...यश..”

“रुक क्यों गये आर्य ?”

“और यश...”

“कहिए नाथ।”

“मैं सोचता हूँ...”

“देव सोचते हैं, क्या सोचते हैं ?”

“मैं सोचता था यशोधरा, एक दिन तुम भी वृद्धा हो जाओगी। तुम्हारे ये सावन-घन से सघन कंश श्वेत हो जाएंगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये आश्विन के निरभ्र नभ-से निर्मल-नयन धुधले-मंद हो जाएंगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये पद्मपुष्पों से कपोल मुरझा जाएंगे, यशोधरा ! ये अविवर दंत एक-एक कर गिर जाएंगे। मुख से...” मैं आगे कुछ न कह सका।

पर, यशोधरा रुक न सकी, बोली—“कपिलवस्तु की राजवधू जरावस्था से नहीं डरती, कुमार ! जो अवश्यम्भावी है, उसके लिए सोच क्या ? उसके लिए क्या शोक और क्या अनुताप देव ?”

“किन्तु, वह भी क्या जीवन, जिसमें जरावस्था हो ?”

“क्षमा हो देव, जीवन ही में जरा आती है। शैशव, यौवन और जरा—कालगति के विराम चिह्न है।

“मनुष्य अवश्यम्भावी दुर्दान्त महाकाल की गति फेर देगा।”

यश का मन लजवन्ती-सा लजा गया। बड़ी-बड़ी पलके उन्मट बदलियाँ-सी झुक आई, बोली—“देव, रात बहुत वीन चली है।”

“तुम जाओ यशोधरा, राहुल जग जाएगा।”

“देव।”

“देवि, तुमने एक दिन भी मेरी बात नहीं मानी।”

“आर्यपुत्र, शैवालिका भोजन लिये कब से खड़ी है।”

और ‘भोजन’ शब्द ने मुझ पर वज्रवार किया—“हा, हां ... यशोधरे ! वह वृद्ध रोटी का टुकड़ा माग रहा था। वह रो-रो कर ‘रोटी-रोटी’ पुकार रहा था। ‘एक कासापन दो, बाबा एक कासापन दो...रोटी का टुकड़ा मिले अय्य बा, रोटी का टुकड़ा।’ मधुकठिनि, उसका दीन स्वर अब भी मेरे कानों में गूँज रहा है। उस भूखे वृद्ध की जरा-जीर्ण प्रतिमा मेरी आखों के सम्मुख प्रत्यक्ष खड़ी है राहुलमाता।..

“...वह अभागा अब भी भूखा होगा। तुमने कभी सोचा यश, लोग भूखे क्यों रहते हैं ? भूखे रहने को मजबूर क्यों है ? मैंने छत्रा से कहा था, आर्य छत्र, राजकोष में, कहते हैं अनन्त धनराशि है। कोंटि-कोंटि स्वर्ण-रोप्य मुद्राएँ हैं, इस वृद्ध को कुछ दिला देना।

“तब छन्दक ने उत्तर दिया...‘कोष पर राज-परिषद का अधिकार है।’ तो मैंने पूछा, राजपरिषद लोगों को भूखा मारंगी ?”

“ऐसा न कहिए नाथ ! राज-परिषद सर्वोपरि सत्ता है, उसके अधिकार के विषय में प्रश्न उठाना, ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने के तुल्य है।”

“छन्दक ने यही कहा था, तन्वि ! यह छत्रा, यह न करो, वह न करो, यह न कहो, वह न कहो आदि के अतिरिक्त और भी कुछ जानता है, या नहीं ?

“तब मैंने कहा, ‘मेरा हीरक-हार इसे दे दो छन्दक।’ तो, उसकी विव्रमता बोली...‘कठोर राजाज्ञा है कि आप बाह्य व्यक्ति से न संभाषण करें, न अन्य व्यवहार-सम्बन्ध ही रखें।’

“...तो, क्या चारुलोचने, हम राजाज्ञा के बंदी हैं ? क्या सिद्धार्थ कुमार किसी सत्ता के अनीतिपूर्ण आदेश का दास है ? क्या मैं इसलिए राजपुत्र हूँ कि लोग भूख से तड़पें ? तुम.. तुम यह क्या कहती हो कि राजाज्ञा लोकहित के लिए प्रकाशित होती है ! तो तुम्हीं बताओ, लक्ष-लक्ष जनता को भूखा रखने में प्रजा का क्या हित देखा गया है ? मैं स्पष्ट सुन रहा हूँ यशोधरे, इसमें किसी अन्यायी वर्ग का लोभ रो रहा है। तुम मानो या न मानो, यशोधरा, मैं स्पष्ट देख रहा हूँ कि जन-जन की

रोटी और रोटी के अधिकार निहित स्वाथ वर्ग विशेष द्वारा मुष्टिबद्ध है

“सुकेशि, रात बीतनेवाली है, अन्धकार जानेवाला है, और नया उजेला आने वाला है। कल का सूरज उगने दो, मैं कहता हूँ, सिद्धार्थ कहता है, कल का सूरज उगने दो, मैं अपनी आवाज उठाऊंगा। जिनके पेट खाली है, और जिनके अधिकार छिन गये है, उन सबको लेकर मैं परम भट्टारक के प्रासाद में प्रार्थी होऊंगा। यदि महाराज और परिषद ने मेरे विनम्र, निर्वैर निवेदन को स्वीकार किया तो ठीक, अन्यथा, अस्वीकार किया तो याद रखो यशोधरे, मैं तुम्हारे आभिजात्य-वर्गों में वह आग लगाऊंगा जो सहस्राब्दियों तक नहीं बुझ सकेगी। सुहासिनि, मैं श्रेष्ठियों की उस सैन्य-सुरक्षित बद्ध मुष्टि को तोड़ दूंगा, और रोटी को आजाद करूंगा।

“विकल न हो राजकन्ये, सिद्धार्थ पागल नहीं हो गया है। प्रस्तुत प्रश्नों से पलायन करना जीवन नहीं है। देवि, देवि, वह वृद्ध इस समय कहा होगा ? देखो न, कितनी प्रखर हिमवर्षा हो रही है। नीचे द्रुम-वल्लरिया तुषारपात के आघात से विच्छिन्न पड़ी हैं। गगनागन में तारे कॉप रहे हैं। तुम्हारे अरुण अधरों पर प्रकम्प की लहर व्याप्त है। यशोधरा, कहो उस वृद्ध की क्या दशा होगी ? उसके तन पर मात्र एक अधोवसन था। न जानें वह कहां ठिठुर रहा होगा !

“जिसमें एक भी प्राणी भूखा है, वह कैसा जनतन्त्र है ? जिसमें एक भी व्यक्ति नंगा है, वह कैसा गणतन्त्र है ?

“मैं...मैं राजाज्ञा से द्रोह करूंगा। मैं उस वृद्ध के पास जाऊंगा और उसके बुढ़ापे को जवानी में बदल दूंगा। दारिद्र्य से झुका उसका सिर द्रोह से तन जाएगा। मध्यदेश का भावी सम्राट् एक साधारण व्यक्ति से मिलने में असमर्थ। वह रे सम्राट्। ह...हं...हं..., देवि, मैं भूख को मिटा दूंगा... मैं आयु की अवधि को मिटा दूंगा।

“परम भट्टारक प्रातः स्मरणीय, महामहिम महाराज शुद्धोधन के राज्य में जहां सुरापी सामन्त और व्यभिचरित श्रेष्ठीगण प्रमाद प्रमत्त विचरते हैं, शाक्य-वधु, वहां वृद्ध और अबल-अपाहित्र रोटी-रोटी को तरसते हैं, भूखा रहने को बाध्य है, मर जाने को मजबूर है। उत्तुंग अट्टालिकावन्ती कपिला में, जहां कुल कन्याये प्रतिपल परिधान पलटती है, वहां मनुष्य अर्द्धनग्न भटक रहा है...और मैं कहता हूँ, आर्यावर्त की अभंग एव परम पवित्र न्याय परम्परा के नाम पर कहता हूँ, इस पुजीभूत पाप का भार पुण्यश्लोक परम भट्टारक पर है...मुझ पर है, और यशोधरे, तुम पर है...और राहुल पर है और छन्दक पर है, और इस शैवालिका पर है, उस जीवान्तक देवदत्त पर है...शैवालिके...शै वा लि के. भोजन का थाल लौटा ले जाओ, शैवालिके, परम-भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जनता को भूखे मारने के अपराधी हैं। जाओ, जाओ, नगर-नगर, घर-घर और चौराहों पर घोषणा कर दो कि समस्त धर्मभूमि के भूखे, भिखमगे और अछूत नर-नारायण इस अपराधी सम्राट् का न्याय करेंगे...करेंगे न, राहुल माता ?

“शैवालिके ! तुम्हारी स्वामिनी . अहा . देवी यशोधरा इसलिए सुवेशधारणी

सदलकृता है कि काटि-काटि निस्सहाय नर-नारी नग्न रहने को बाध्य कर दिए गये है। कपिलवस्तु के इस नभचुम्बी वातायन से मैं दसों दिशा के दासों को पुकार-पुकारकर कहता हूँ कि ओ रे, ओ...तुम कैसे दास हो, जो यह भी नहीं जानते कि इन स्वामियों, स्वामिनियों और स्वामी-पुत्री की लालिमा में तुम्हारा अपना अभिशोषित लहू छटपटा रहा है ! वे लाख-लाख प्राणी, जिनके मास-मज्जा से राजमहल आलोकित है, अब अधिक दिन बलि न वनेंगे। जिस पल वे एकत्र हो समवेत स्वर में अन्न, अधिकार और वस्त्र का विजयघोष लहराएंगे, उस दिन देखना यशोधरा, सिंहासन झूलुठित होंगे। और राजमुकुटों की नीलामी होगी। देवि, एक न एक दिन महाराज, महारानी और नवजात युवराज को जनसमूह के आगे-आगे विधवा कपिलवस्तु के राजमार्गों पर नगे पैरों चलना पड़ेगा और 'जनता की जय' कहने को बाध्य होना पड़ेगा। पार्षद, पंडित और वेदपाठी विप्रगण अब प्रजा को अधिक दिन भ्रम में न रख सकेंगे। मैं कहूँगा—द्रव्य में नहीं, दरिद्र में नारायण है। स्वामी नहीं, जो सबका संवक है, वही हरि-जन है। बदलेगा, युग, दशा, दिशा और व्यवस्था बदलेगा, अवस्था बदलेगी। प्रारब्ध, परमेश्वर और पाप-पुण्य की परिभाषाये आमूल परिवर्तित होंगी। यशोधरे, काप रही हो ? अभी तो वह दिन दूर है...

“जरा निकट बैठो देवबाला, मुझे न जाने क्या हो गया है। आज की रात्रि मुझसे न जाने क्या-क्या कह रही है। लगता है, कहीं दूर से कोई मुझे पुकार रहा है।... हे पुकारनेवाले, मैं आऊंगा, जरूर आऊंगा...

“देवि, निकट सिंहद्वार पर शहनाइया बजने लगी, तो क्या भोर हो गया ? मैं तुम्हारे रतनारे नयनों की गुलाबी नींद हरनेवाला अपराधी बन गया। दंड दो चाहे क्षमा करो।

“शैवालिके, आर्य छन्दक को बुलाओ।

“तुम जाओ राहुलमाता, कपिलवस्तु का भावी युवराज जाग गया होगा। वह राजअम्बा की राह देखता होगा।...जाओ देवि, क्षमा करना ! मेरी त्रुटिया मन में न लाना।”

और कोई पदांगुलियां पूजकर, उष्ण ओसविन्दु चढ़ा गयी।

उसके जाने पर, जाने कब तक, मैं वैसा ही बैठा रहा।

स्थिर, पर अस्थिर ! मैं बैठा ही रहा.. सम्मुख रथ था, राजपथ था, वृद्ध था और मेरे कानों में गूँज रहा था—

“एक कासापन मिले बाबा...एक कासापन मिले बाबा...कोई इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय्य बा ?”

मैं चौककर उठ बैठा।

हम लोग शाक्य हैं। शाक्य स्वामिपुत्र हैं। स्वामी क्षत्रिय है, शक्ति के उपासक। एक हाथ में नाश और दूसरे में निर्माण लिये शाक्यो ने वसुन्धरा विजय किया है।

कद में लम्बे, उन्नत-ललाट वृषभस्कन्ध और विशाल-वक्ष, ऐसे इन सिंहवण शाक्यों ने अपने आजानु बाहुओं के धनुष-टकार से दस्युओं का दमन किया और अनेक बार इतिहास के पृष्ठों पर एकछत्र राज्य किया।

फिर भी ये शाक्य न जाने कैसे हैं, बड़े ही सरल, पर स्वाभिमानी, यो कही 'दम्भी'। पुरुष इनके कठोर-वर्ग, वर्ण और वैर के विश्वासी। स्त्रिया तृण के समान तन्वगी, किन्तु लोह-शलाका से भी सबल। इन अभगयौवना शाक्य-सुन्दरियों के दो गुण—उनकी मदवन्ती कजरारी आखों में युगान्तरों का सम्मोहन और उनके प्रवाल-सदृश अधरो में छलाछल रस। एक बार जिसने एक विन्दु पान किया, जन्म-जन्मान्तरों के लिए समझो सुध-बुध भूल गया। इसी मस्ती की खुमारी में शाक्य लडते थे। फिर हार से अधिक उनकी जीत होती थी। जीत कर फिर लडते, लड कर मरते थे, जीवित होते और फिर मर जाने का वैचेन हां उठते।

मुझे बतलाया गया : अनेक आड़े अवसरों पर, विपक्षी को परास्त करने के पूर्व अन्तिम अस्त्र रूप में शाक्यबाला (गुप्तचर कन्या) समारागण में लाई गई और उसके एक दृष्टिपात पर शत्रु-सैनिकों ने चरणों में समर्पण कर दिया और उनके शस्त्रास्त्र उस बाला की पगधूलि बन गए।

ऐसी शाक्य-कुल कान्ताओं की कीर्ति जब समस्त आर्यावृत्त में फैल गयी, तो आए दिन उन्हें रानी या दासी बना लेने के लिए शूरवीरों के गले कटने लगे। कुछ शाक्य देश छोड़ विदेश चले गये। उन्हें भाग्य से अधिक भुजबल का भरोसा था। शत्रु की निर्बलता से वे परिचित थे।

शाक्य वर्ण, वश और रक्त की श्रेष्ठता के समर्थक थे। समर्थक ही नहीं, अन्धभक्त थे। जब सीमान्तक में जाकर बस गये, तो रक्तशुद्धि का मोह और भय उनमें इतना घर कर गया कि वे अपनी ही कुल कन्याओं का पाणिग्रहण करने लगे। अपनी ही अगमनीया बालाओं से ब्याह रचाने लगे, और इसकी पूर्व कथा यो है—

पुराकाल में इक्ष्वाकु शाक्यों के परम पितामह थे। इक्ष्वाकु ने अपनी प्रिया मनापा की नखज्योति में प्रेम का प्रकाश देखा। मनापा के पुत्र को, जो सबसे छोटा था, राज्य देना स्वीकार किया। उपयुक्त अवसर आने पर मनापा ने अपने सौत-पुत्रों को निर्वासित कर दिया। उल्कामुख, करडु, हत्थिनिक और सिनीसूर नामक चार अग्रज उपस्थित हुए।

ये निर्वासित राजपुत्र हिमालय में वास करने लगे। जहाँ एक सुन्दर सरोवर था और पास ही महाशाक्य वन था। इसी वन में चारों शाक्य बन्धुओं ने अपना डेरा डाला। अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर तो वे थे ही, अपना रंग-रूप बिगड़ जाने

के भय से उन्होंने वर्षों तक अपनी वहनो से सहवास किया।

और एक दिन राजा इक्ष्वाकु ने अपने महामात्य से पूछा-

“कहाँ है भो, इस समय मेरे कुमार ?”

बोला वह—

“महाराज, हिमवान के समीप सरोवर के तट पर महाशाक्य वन में है। वही इस समय वे रहते हैं और जाति तथा वर्ण के क्षय-भय से अपनी भगिनियों के साथ सवास करते हैं।” सुनकर भूपति ने अपने मपूतो की सराहना की।

इससे शाक्यों का रक्त शुद्ध बना रहा या नहीं, परन्तु श्रेय सब अशुद्ध हो गया। शाक्य-सन्तान अत्यन्त विलासी, प्रमादी और क्रूर बनी। इस प्रकार उनका कुल-क्षय हुआ। जब कुल-क्षय हुआ, तो उसके परिणाम में सनातन धर्म का क्षय अनिवार्य था। धर्म-क्षय से समस्त शाक्य समुदाय में वासना, पाप और हिंसा बढ़ी। पाप ने वासना को, वासना ने हिंसा को वेग दिया। हिंसा ने वैर-विरोध की वृद्धि की, और इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहा।

धीरे-धीरे भुवन-मोहिनी शाक्य-वधुए ‘भ्रष्ट’ हो गई।

कितना कठोर और निष्ठुर शब्द है यह ‘भ्रष्ट’ और मैं इसे अपने ही आदि पुरुषों के लिए प्रयुक्त कर रहा हूँ। न करूँ, तो क्या इतिहास को झुठला दूँ ?

स्वकुल एवं जातिघातक बन्धु-वर्ग, इन्द्रियसुख और भोग-लिप्सा—महापातक के प्रणेता बने। अपने ही कुलजनो का वे सहार करने लगे। सुरा, सुन्दरी और साम्राज्य से उनके विनाश का सगम बना।

जब शाक्यों की, शासको की यह दशा थी, तो शासितों की अवस्था का अनुमान सहज लग सकता है।

यों जब धर्म, कर्म, और मर्म की ग्लानि हो रही थी, तब जरूरी हो गया कि मैं पुनः धर्म की स्थापना करूँ। ज्ञान की जोत जलाऊँ। अज्ञान का तिमिर दूर करूँ। अविद्या के स्थान पर विद्या को और दानव के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठापित करूँ।

तभी न सार्थक होगा मेरा नाम ‘सिद्धार्थ’ ?

3

शैपालिका कहने लगी—

“तब महाराज ने संकेत से अंगरक्षकों को परे कर दिया। और छन्दक से पूछा—‘भद्र सारथि ! क्या कुमार उद्यान-भूमि की सैर कर चुका ? क्या वहाँ की शोभा से वह प्रसन्न हुआ ?’

आर्य छन्दक के मुँह से तो बोल न निकलते थे। किसी प्रकार मानो अपने को वश में कर, वे बोले—

‘कुमार सिद्धार्थ राजोद्यान की सैर को गए ही नहीं, कृपानाथ’। मार्ग-मध्य से ही लौट आए। मैंने बहुधा अनुनय-विनय की।

परम भट्टारक साँच में पड़ गए।

उनके प्रशस्त ललाट पर उदित चिन्ता की रेखाएं स्पष्ट दीख रही थीं। वकिम ध्रुओं का सहज सकुचन सुलक्षित था। पूछा—

‘भद्र ! जाते समय चिरजीवी सिद्धार्थ ने क्या देखा ?’

यह प्रश्न सुनकर तो, छन्दक असमजस में पड़ गए। कुमार, मैं झूठ नहीं बोलूंगी, न पिशुनवचन कहना मुझे आता है, न कभी रस्ती-भर ‘डधर-उधर’ करती हूँ।.. त, छन्दक तो मन्न रह गये। उनके दुर्बल तन का कम्पन और मन का पणितप झलकने लगा।

आर्य छन्दक के मौन ने परम भट्टारक को व्यग्र कर दिया। तनिक रोष से पूछा—‘बोलो ?’

और देव के श्री मुख से अचानक यह सुनकर मैं चौक पड़ी। शरीर में ठंडी लहर दौड़ने लगी। छाती धडकने लगी। देखो न, कुमार ! अभी तक कलेजा काप रहा है। जरा अपना हाथ लाओ—”

“रहने दें शैवालिका, फिर किसी दिन देख लूंगा। तेरी धडकन ऐसी-वैसी नहीं कि सहज ही मर जायेगी। पर...तनिक संक्षेप में कह ।” मैंने कहा।

“तो कुमार ! मैंने स्तम्भ का कोना कसकर पकड़ लिया और मुह पर वाम कर धर लिया, कही, डरकर ‘ओह’ न कह बैठूँ !..

भयभीत हो छन्दक ने निवेदन किया—‘देवपुत्र ने एक जात हुए वृद्ध पुरुष को देखा।’

‘वृद्ध ?’—आर्य-अधिराज चौककर दो पग पीछे हट गए। बोले—

‘छन्दक, सिद्धार्थ ने शेषनाग देखा होता तो कोई बात नहीं थी। छन्दक, सिद्धार्थ ने हिंस्र-व्याघ्र का खुला मुख देखा होता तो कोई बात नहीं थी। भद्र, सिद्धार्थ ने महाकाल के कराल डाढ़ और ज्वालामुखी की गोद देखी होती, तो मैं उसे बधाई देता ।...किन्तु...किन्तु, हाय रे अभाग छन्द, जानते हो, किसी वृद्ध भिखारी के दर्शन का प्रतिफल ?’

आर्य छन्दक ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

‘तो फिर छन्दक, तुमने राजाज्ञा का उल्लंघन क्यों किया ?’ महाराज आवेश में थे।

‘अपराध क्षमा हो शाक्येन्द्र !’

महाराज के सुतीक्ष्ण, सुसीप-लोचनों में मुक्ताफल-से जल-दल झलके—‘तुम और सिद्धार्थ मुझे समान हो। तुम्हें क्या कहूं छन्ना ?’

छन्दक सिर नवाए रहे।

तब महाराज ने कहा—‘जाओ !’

अवसर देख, मैं अलिजर की वारि-पूर्णि के मिस प्रकट हो गयी।

‘कौन ?’—पीछे मुड़कर परम भट्टारक ने मुझे देखा—‘शैवालि, तू है।’ सुरा तो ला री, बहुत दिन हुए तेरे कुटिल कर्गों से विष की एक प्याली पिए।’

‘मैं तो कुमार, लजाकर रह गयी। अहो मेरे भाग्य !’ इतने दास-दासी और परिचारक हैं परन्तु महाराज को तो शैवालिका, शैवालिका की ही धुन।...

‘जब मैंने पद्मराग मणि के महापात्र का आच्छादन हटाया तो कुमार, सच कहती हूँ, उसकी गंध से मैं बेसुध होने लगी। पर महाराज की सेवा की सुध थी, अतः मैंने स्वतः कहा—‘शैवालिके क्या कर रही हैं ? आज तीस वरस से तू परम भट्टारक की प्रधान परिचारिका है। जिन अगम अन्तःपुरों में सिन्धु देश की अश्विकाओ-सी प्रमत्त रानिया विहार करती हैं, उनमें भी तेरा अरांक गमन है। तेरे लिए गज्य क किसी गृह, अन्तःगृह, कक्ष में प्रवेश निषिद्ध नहीं !... यदि तू ही यो अपना कर्तव्य भूल जायेगी !’

‘अच्छा, शैवालिके तू थक गयी होगी, शेष वृत्तान्त कल सुनेंगे’—मैंने ऊब कर अन्तिम अस्त्र चलाया। शैवालिका को मृत्यु दण्ड स्वीकार पर अपना वाक्यभंग नहीं। कहने लगी—‘सचमुच, महामायाजात ! मैं विस्तार के पार चली गई। तो, परम भट्टारक ने सागर पति के भेजे अभसार-पात्र से एक घूंट लेकर आदेशा—‘नगर नायक !’

‘मैं दौड़ी-दौड़ी प्रहरियों के पास गई। उन्हें सूचना दी।

‘नगर नायक तत्काल उपस्थित हुए। परम भट्टारक को यथाविधि प्रणाम कर, एक ओर दक्ष मुद्रा में खड़े हो गए।

महाराज के हाथ में पात्र था। क्या कहूँ कुमार, उस अभसार-पात्र में लहराता सुरा का रंग ! मानो किसी गोरी की उजली एड़ियों पर अलक्तक की परछाईया लहरा रही हों। दूसरे घूट पर श्रीमुख ने कहा—‘भद्र ! नगर के अशुभ समाचार कहो !’

‘वह गरीब चौक पड़ा। स्तब्ध रह गया।

‘नायक, राजाज्ञा-द्वारा नगर में किसी वृद्ध का प्रवेश वर्जित है। कल सन्ध्या को सिद्धार्थकुमार ने उद्यानभूमि जाते एक वृद्ध पुरुष देखा...वृद्ध ने कैसे प्रवेश किया ?’ नायक चुप रहे।

महाराज के नेत्र अरुण हो गये। रोष के आवेग में अधर फड़कने लगे—‘वह घृणित, दरिद्र, भिखमंगा वृद्ध राजमार्ग पर, कुलपुत्रों और कुलकन्याओं के लिए सुरक्षित पथ पर, किसकी आज्ञा से विचरण कर रहा था ?’

‘अपराध क्षमा हो महाराज...अपराध क्षमा.. महामहिम !’

‘अपराध क्षमा नहीं !—प्रहरी, महाबलाधिपति ?’

बलाधिपति के आगमन तक निस्तब्धता रही !...उसे जब महाराज ने विस्फारित आरक्त नयनों से देखा, तो सहम गया। वही कृशागौतमी का प्रेमी...

परम भट्टारक ने बलाधिपति से कहा—‘नगर नायक को आजन्म कारावास। परिपद की सम्मति ले लेना।’

नायक को प्रहरी ले चले

तब महाराज ने मेरी ओर देखा। मैं समझ गयी कि बलाधिपति से गुप्त मन्त्रणा करना चाहते हैं। मैं टल गयी और स्तम्भ की ओट आ गयी।

परम भट्टारक ने आज पहली बार तीसरा पात्र खाली किया था। मैं रह-रह कर काप जाती थी। उनकी चिन्ता और वेदना अधिक सघन हो उठी थी। गम्भीर स्वर में बोले—

रिपुदमन देवदत्त !. कुमार के प्रासादों का पहरा एक योजन तक बढ़ा दो। पूर्व राजाज्ञा का कठोरतापूर्वक पालन हो। राजमार्गों और राजोद्यानों के अतिरिक्त, कुलसम्बन्धियों के किसी आवास और उसके निकट भी किसी वृद्ध, पगु, कोढ़ी, रुग्ण, अपाहिज, दरिद्री की परछाई तक नहीं पहुँचे, अन्यथा जानते हो परिणाम ?”

‘मेरी मृत्यु।’

‘ठीक।’

‘और..’ महाराज ने स्वर मद कर कहा—‘हेमन्त-प्रासाद में नृत्यों का आयोजन करो। आमोद-प्रमोद और क्रीडा-केलि से उसे गुजारित करो। उसके रस, रास, रमण की रेलमपेल से इन्द्रपुरी फीकी पड़ जाए। परिषद की स्वीकृति से जितनी द्रव्यराशि ले सको, लो और सुरा-सुन्दरियों का समारोह मनाओ !...सिद्धार्थ का मन जिसमें रम जाय, वह, करो। कृशागैतमी...हा, मुझे स्मरण है, उससे तुम्हारा ब्याह हो जाएगा।..कृशागैतमी को नचाओ। हास, लास, उल्लास और रास की रचना हो। तुम भी नाचो और कुमार का मन भी नाचे। खूब नाचो...ताक् धिन्...ताक् धिन् थैई थैई थाक्..।’

महाराज स्वयं नाचने लगे।

सैन्य-अभिवादन कर रिपुदमन चले गये। मैंने अन्य सेवकों की सहायता से महाराज को शयन कराया। बड़ी देर तक मैं पद-सेवा करती रही। ऐसी उद्धेलित मनोदशा में मैंने महामहिम को आज पहली बार देखा था। मैं तो महाराज की चर्या से परिचित हूँ।

फिर तन्द्रा में उनके अधरों में स्पन्दन हुआ...‘ऐसा न हो...महामाया... ऐसा न हो पार्षदी, कुमार राज्य न करे...घर से बेघर हो जाय...ज्योतिषी बम्हनों की वाणी सार्थक हो जाय.. ऐसा न हो कुमार घर छोड़ जाए, और कालदेवल का पूर्वकथन सच निकले...’

मैंने हौले से उनके आंसू पोछ दिये, कुमार।

फिर भी महाराज के श्रीमुख से रह-रहकर यही शब्द निकलते थे...‘ऐसा न हो..ऐसा न हो...कि सिद्ध...मेरा सिद्धा...राज्य न करे. हे भगवान्..!’

मैं आर्य सम्राट् की रजत केश-राशि सहलाती रही।

—वे तन्द्रावश हो गये।’

‘तू जा शैवालिके’—मैंने उससे कहा, और वातायन में आकर खड़ा हो गया।
दूर-दूर तक अधवा के भावी-ज्यो अन्ध तमस छाया था।

4

‘मैं’ निश्चय से बुद्ध होऊंगा’—लोक की दशा देख मैंने विचार किया—‘मैं निश्चय ही बुद्ध होऊंगा।’ मैंने अन्तस्सरोवर में झाँककर देखा और यही प्रण किया।
इन दिनों मैं तुपित नामक देवलोक में रहता था। तब एक दिन, भावी बुद्ध के जन्म का अनुकूल अवसर आया जान सुक्क (शुल्क), सुयाम, सतुपित, निर्माणरति, सुनिर्मित, परिनिर्मित-वशवर्ती और महाब्रह्मा मेरे पास आए। ये दस हजार लोको के अधिष्ठाता देव थे। बोले वे—‘भगवान्, आपने दस पारमिताओं की पूर्ति, इसलिए न की कि आप मार का अवतार लें या ब्रह्म बनें, या वसुधा के चक्रवर्ती सम्राट् कहलाए। लोक-परलोक में ऐसी तो कोई पद-प्रतिष्ठा नहीं, जो प्रभु को न प्राप्त हो। तथापि, नाथ, उठिए और लोक का कल्याण कीजिए।

‘महामेदिनी का मंगलकामी मन प्रजा के पाप-ताप से तप गया है। उसे पुण्य और शान्ति का अमृत दीजिए, दयामय, !. मनुष्य मनुष्य का वैरी हां चला है ! पिता पुत्र से और भाई भाई से बिलग हो रहा है। मा आज बेटे को दूध पिलाने से मुकर रही है और भगिनी के दिए भोजन में भाई की मृत्यु फल रही है। और सहोदर की छाया में ही सहोदरा कौमार्य व्यभिचरित है नाथ। पति की नजरो में पत्नी देवी नहीं, नर-नारायण की जनेता नारी नहीं, मानवी नहीं, योनि मात्र रह गई है। उसे, करुणासिन्धु, पुरुष ने अपनी नग्न-वासना का साधन समझ लिया है। और स्त्री भी विपथगामिनी हो चली है योगेश्वर। उसकी बाहों में पुरुष ससृति को शरण नहीं। उसकी भुजाएँ सीमित हो गई हैं। उसके दूध में विलास के रक्त की गंध आती है। प्रभु ! उसकी प्रपुष्ट जघाओं पर राष्ट्र के रक्षक शूरवीर शिशु नहीं खेलते; निर्बल, कामुक और रुग्ण मनु-पुत्र अपनी तृष्णा का भार उतारते हैं।...

‘अब विलम्ब न कीजिए लोकेश्वर ! पर्वतों की प्रलम्ब ऊँचाइयाँ प्रतिपल नीची होती जा रही हैं। देवभूमि के प्रहरी नगराज हिमालय की चोटी पर असुर अपना आसन जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं। . सरिताओं का जल सूखने लगा है और गंगा-यमुना की धाराएँ अपनी पुण्य-परम्परा की लीक छोड़ने लगी हैं। क्षमा हो नाथ, सुरसरि विपथगामिनी हो चली है। जब जगदम्बा ही अपने पथ का परित्याग कर देगी तो कपूत पुत्रों का भ्रष्ट होना असहज न रहेगा।. .

‘कृपण धनिकों की भौंति वृक्षों ने फलदान देना बन्द कर दिया है। आर्यावर्त की शस्य-श्यामला पुण्यभूमि पर आज के मानव का मन बदल गया है। वह अपने से ही ईर्ष्या करता है और उसका द्वेष अपने ही प्रति है। वह शोषण की चरम सीमा

पर पहुँच गया है। पृथ्वी, अनल, जनिल, वरुण और नभोमण्डल की सीमाएँ ओर अछोर-छोर दूषित हो चले हैं। दिवाकर का तेजस उस दोष को भस्म करने में असमर्थ हो चला है, भुवनेश्वर। कि जब से दिवाकर ने कुमारी कुन्ती से छल किया, ओर उसकी असूर्यपश्या देही को अपने सकाम नेत्रों से देखा, तब से कुन्ती के शीलभग का अभिशाप देवलोक में पाप की परछाईया लेकर मडरा रहा है।...

‘और प्रभो ! लोक का कल्याण केवल तेज और शक्ति से ही नहीं होगा। भगवन् भक्ति और अनुगति भी इसके निमित्त कम ही उतरेगी। लोक को संहार की नहीं रचना की आवश्यकता है। संहार तो मर्यादा पुरुषोत्तम ने किया ही है। संहार का अनुष्ठान गोकुलवासी ने भी रचा था, सो कल की ही तो बात है। विश्व की नव रचना का यह विधान आपके हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होगा तीर्थकर ! अपनी आपदाओं और व्यथाओं के बीच वसुन्धरा खोलते सागरो की मछली ज्यों तड़प रही हैं। उस अपनी सेवा का, अपने स्नेहाश्रु का एक बिन्दु दीजिए नाथ, उसका उद्धार होगा। जगत् का वर्तमान अमंगल जितना भयकर है, उतना ही समीप है उसका मंगल। हमें विश्वास है कि सृजन की शक्तियाँ विनाश की वृत्तियों को सदा के लिए बुझा देगी। हिंसा का ताड़व हो चुका। अब अहिंसा के लीला लास्य से लोक का कल्याण कीजिए, कृपानाथ ! सत्य, अहिंसा और प्रेम की त्रिपथगा के संगम पर आर्य-संस्कृति की स्थापना कीजिए. देर न हो, करुणाकर ! कोटि-कोटि सन्तप्त आत्माओं की तड़पन आपको पुकार रही है। अपने कमल-कोमल करुणाविलोचन खोलो.. खोलो.. खोलो हे महाप्रभु !

तुम्हारे बुद्धत्व का मुहुर्न और काल आ गया है सुगत !”

मैं आखे मूढ़ बैठा था। देवों की अनुनय-विनय सुन मेरा हृदय भर आया। मैंने कहा—‘देवो ! तुम्हारी कामना पूर्ण होगी परन्तु उसके पूर्व मुझे पाँच पुण्यफलों पर विचार कर लेना है। मैं देवलोक से प्रस्थान कर भरत-भूमि पर जन्म लेने के लिए व्याकुल हूँ। जानते हो, उस भव्य, भद्र भूमा के प्रति मेरा प्रेम। मैं राम और सीता का साकेत देखने के लिए लालायित हूँ। मैं उस मथुरा का दर्शन करूँगा, जहाँ दनुज पछाड़े जाते हैं, जहाँ नृशंस कंस के वंश का ध्वंस होता है। जहाँ जमुना-कछारों में, करील के कुंजों में अब भी उस तरस रसनदिनी बासुरियों के स्वर गूँज रहे हैं। मैं राधा का गोकुल देखूँगा। उस सेवा और करुणामूर्ति कुमारिका के विराग की लौ अपने में जगा सका तो अपने को धन्य समझूँगा।

‘धन्य है, वह धरित्री जहाँ देवगंगा बहती है। जहाँ सलिलवती क्षिप्र के तट पर महाकाल का ताण्डव चल रहा है, जिसकी प्रत्येक पदथाप पर क्रांतिमय भूगोल दबता-उछलता है और प्रत्येक पदचाप पर युगान्तरों के भूचाल आते हैं। जिसके प्रत्येक पद परिचालन पर रत्नाकरो का उद्देलित हृदय ज्वार से भर जाता है। जरूर जन्म लूँगा मैं उस महादेश में, जहाँ के लोगों ने धन को नहीं, धर्म को अपना ध्येय माना है। जहाँ बारी-बारी से ऋतु-परिवर्तन आते हैं। जहाँ की अन्तहीन बहुरंगिणी धरती पर नील वितान तना है। देवो, धन्य है वह देश, वहाँ जन्म लेकर मैं अपना अहोभाग्य

ही समझूंगा, बड़ा उपकार होगा उस धरणी का जो मुझे झेलेगी। बड़ा आभार मानूंगा उस जननी का जो अपने पयोधरो का अमृत पान कराएगी। उद्गम कैसे होगा उन शुद्ध नाम पिता से जो मुझे जीवन-दान देकर लोक-सेवा का अवसर देगे। जानते हो, देवगण। सेवा का अवसर पाना ही, सबसे बड़ी वर प्राप्ति है। और देवा, इस समय मनुष्य की आयु-अवधि क्या है ?

‘एक सौ वर्ष।’

‘ठीक है। अन्यथा मनुष्य का आयुकाल सहस्र वर्ष होने पर बुद्ध का जन्म लेना अनुचित है। क्योंकि ऐसे समय मनुष्य जन्म, जरा और मरण को भूल जाता है। भूलना मानव स्वभाव है और अपने स्वभाव की परिधि में वह सुख और दुःख को समा लेता है। वह अपने पर किए उपकार का बहुत जल्दी भूल जाता है, तभी न मनुष्य की कृतघ्नता के समक्ष श्वान की कृतज्ञता आदर्श रूप में प्रस्तुत की गई है।’

‘ज्योतिर्मय। विश्व को ज्योति दो, मनुष्य का स्वभाव विस्मृति के गर्त में गिरे, न गिरे, उसका उद्धार कीजिए रूपनिधान। जिस प्रकार एक हजार वर्ष अधिक है मनुष्य के समुचित उद्धार के लिए, उसी प्रकार सौ से कम वर्ष भी अनुपयुक्त है, क्योंकि ऐसे अल्पजीवी मृत्यु के अतिचारी होने की संभावना है। और प्रभो, किसी अविचारी, अतिचारी को दिया उपदेश मुचिककन घट की पेंदी पर गिरे जल के समान है। पाषाणों की गोद में बोये बीज की तरह है। वधिर के सम्मुख बजी बीन की भाँति है। इसलिए, हे अमिताभ। खोलो, खोलो अपने ये अमितप्रभ नेत्र और जरा वसुन्धरा की ओर देखो, उसकी गुहार का उत्तर दो, दयानिधे। उत्तुंग शैल-शिखर पर खड़ा प्रज्ञाचक्षु पुरुष जिस भाँति चतुर्दिक् प्रजा को देखता है, उसी भाँति हे सुभद्र। हे सर्वत्र नेत्रवाले। धर्मरूपी प्रासाद की उत्तुंग अटा पर चढ़कर सब जनता को देखो।’

पलक खुले। हाथ मे रखी गोल गुठली की तरह मैंने पृथ्वीतल को देखा। समस्त भूलोक, चर-अचर, पृथ्वी-पाताल, गिरि-निर्झर, वन-वनान्तर, पर्वत-उपत्यका और सप्तसिन्धु देखे, इस तरह देखे सप्तसिन्धु कि प्रातःकालीन पद्म-पंखुरिया के एकान्त कोने पर जल की अकेली बूंद पड़ी हो। काल देखा। देश देखे। अपना भावी कुल-परिवार देखा, और देखी अपनी अम्बा, उसकी कालायु देखी...मेरी आंख में आंसू भर आए, यह तो मुझे जन्म देते ही लोक छोड़, परलोक चली जाएगी कि जैसे कोई नित्य का पथी देस छोड़ परदेस चला जाता है।

देवगणों की पुकार फिर मेरे कानों में आई और मैंने उन्हें अपना निश्चय बता दिया—‘ठीक है, सुर सपूतो। बुद्ध भूलोक में जन्म लेगा, ताकि संसार का सम्यक् सत्पथ प्रदर्शित करे, लेकिन, नहीं जानते क्या तुम कि भरतखण्ड को छोड़ शेष तीन भूखण्डों में तो सम्बुद्ध का अवतार नहीं होता, केवल धन्य भूमिभाग भारतवर्ष में ही उनका प्रादुर्भाव होता है। और इसमें भी मध्यदेश सभी पुण्य-प्राण पुरुषों की प्रिय भूमि है। यहीं उत्पन्न होते हैं बुद्ध, यहीं जन्म लेते हैं प्रधान-अप्रधान शिष्य और

अस्सी महाशिष्य। यहीं चक्रवर्ती का जन्म होता है। बड़े-बड़े ज्ञानी, पंडित, मेधावी, धुरधुर, विद्वान् और साधक, सन्यासी, साधु, विरागी, तपस्वी और त्यागी यहीं जन्म स्वीकार कर मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त होते हैं। इस लोक में जन्म लिये बिना, किसी को मुक्ति नहीं मिलती। देव, तुम अपने वर्ग को मनुष्य से बड़ा बखानते हो। संसार तुम्हें 'अमर' कहता है, परन्तु तुम्हारी मुक्ति तो तभी संभव है, जब तुम लोक में जन्म लो। लोक-जन्मा जीव इस दृष्टि से तुमसे अधिक भाग्यवान् है। संघर्ष रहित है तुम्हारा जीवन, किन्तु धन्य हैं वे लोग जिनका जीवन संघर्षमय है। और मधुर है वह फल, जो संघर्षोपरान्त प्राप्त होता है। व्यर्थ है वह सिद्धि जिसके पूर्व घोर-कठोर साधना न हो।'

फिर मैंने सोचा, इसी मध्य देश में स्थित है महानगरी कपिलवस्तु। यही मुझे जन्म लेना है। और मैंने अपने इस विचार को निश्चय की मुद्रा दी। यही होगा।

'नथावस्तु'—मैंने कहा।

और देवगण हर्षित वदन-मन लौट गए।

फिर चित्र-विचित्र सुमनों की बहुरंगी वर्षा हुई। मद-मद मारुत बहे। धरणी के अंग-अंग में आनन्द का कम्पन आया।

अन्धकार भयभीत होकर भाग चला और अत्याचार की गुहा के कृष्णनीड में अपने अस्त्र तेज करने लगा।

भावी बुद्ध के जन्म-निश्चय का अभिनन्दन हुआ। दिशाओं ने अपने शंख बजाए। सरोवर में सरोज ने अपने प्रसून सजाए। अम्बर से ज्योति-किरण छूटे। अदनी पर निर्मल कल-कल जल के उत्स फूटे।

चाद ढलककर विशाखा नक्षत्र में आ गया। कपिलवस्तु की राजरानी को जाने क्यों रोमांच हुआ।

'मैं निश्चय ही बुद्ध होऊंगा'—मैंने कहा।

फिर रात अधूरी बात की तरह जल्दी-जल्दी ढलने लगी।

5

बाल्यकाल की वह घटना कभी न भूल सकूंगा :

'देव...ओ देव् अ...

'देवदत्त ! बन्धु सुनो...बाण न मारो। इसे न मारो देवदत्त, मैं तुम्हारे पैरो पड़ता हूँ। देव...हाय-हाय तुम न माने आततायि !...'

फिर मैं सिसक-सिसककर रोने लगा।

बचपन की वह बात सदैव याद रहेगी। नन्हा विहग मेरे हृदय से लगा था।

उसक अगा से लहू की पतली धार बहकर उसकी श्वेत देह का रंग रही थी। मेर आसू उस रंग को न जमने देते थे। कपोत के निरीह नयनों में वेदना और करुणा का अत्यन्त मर्मवेधक भाव था। प्राणों की सारी ममता उड़ेलकर वह मेरी ओर देख रहा था।

देवदत्त समीप आया। खिलखिलाने लगा। उसकी छायाकृति देखते ही पछी ने अपने नयन मूढ़ लिये और दुबककर मुझसे चिपक गया। मेरा मन गद्गद हो गया।

निरस्त्र, निस्तहास पछियों और विहगों में भी ममत्व और जीवन की जो पुकार है, वह भी इस हिंस्र मनुष्य में नहीं।

मैं सोचता बैठा रहा—दूसरों को मारकर व्यक्ति कब तक जीवित रहेगा ? जिन पक्षियों को देखने मात्र से मन का मोह उमड़-उमड़ आता है, उन्हें कोई क्यों कर अपना लक्ष्य बना सकता है ? अपना भक्ष्य बना सकता है ? अवश्य, मानव-स्वभाव में कहीं-न-कहीं दानवता का अंश शेष है। केवल विनोद और मृगया के नाम पर, कोई किसी जीव को क्यों मारे ? देश की सीमा बढ़ाने के लिए समर क्यों ठाने ? तब तो ये योद्धा 'मनुष्य' को भी अपना शिकार बना सकते हैं। जो एक की मृत्यु को सहज मानता है, वह दूसरे मरण को असहज क्यों मानेगा ? तूणीर, वाण, निषण लिये फिरते हैं। इनके हाथ किसी नरभक्षी सिंह या भालू के पजे से कम है ?

व्यक्ति की प्रकृति को इस ओर से विमुख करना होगा। मानव-स्वभाव में गति-परिवर्तन आवश्यक है।

अपने कंधे पर कोमल कर का स्पर्श जान, मैंने पीछे देखा—छलाछल आखें भरे कृशा गौतमी खड़ी थी 'तुम जल ले आओ कुमार। तब तक मैं इसके घावों पर पट्टी बांध देती हूँ। यह देवदत्त बड़ा कायर है।'

गौतमी ने नभचारिणी खगी को अपने वक्ष से लिपटा लिया।

देवदत्त क्रोध से उसकी ओर देख रहा था। मैं जानता था कि यदि मैं यहाँ से टला तो देवदत्त गौतमी को पीड़ा देगा।

मैंने कहा—'देव, तुम भवन चलो, हम आते हैं।'

'पहले मेरा कपोत दो।'

गौतमी के हाथों में कपोत देख, उसके मन में ईर्ष्या हो आई थी।

'तुमने अपना कपोत तो मार डाला।' गौतमी बोली।

'तू मत बोल गी।'

'तुमसे कौन बोलता है कायर...दिन-भर चिड़ियों को मारता फिरता है। एक दो सिंह मारे तो जाने...तुझे...'

'अच्छा, फिर कह री।'

'फिर क्यों कहूँ ? मैं क्या तेरी दासी हूँ रे। मैं अस्मिर्दन रूपवर्मन की कन्या हूँ।'

'तभी तो तेरी बात सुनता हूँ। अब मैं सिंह लेकर ही लौटूंगा।...अच्छा, मेरा

कपात द दे

‘यह कपात नही, मुक्ता-आहारिणी हसिनी हे। तुम वकटव इसे लेकर क्या करोगे ? इसके प्राण ही लोगे।’

फिर वह मेरी ओर मुड़कर बोला—‘कुमार, यह पंछी मेरे बाण से विद्ध होकर गिरा है।’

मैंने कोई उत्तर नहीं दिया।

वह अपने दुराग्रह पर अटल रहा—‘सुनते हो, इस हसिनी का शिकार मैंने किया है।’

गौतमी बोली—‘सिद्धार्थ, पंछी को यो अपने अक से न लगाओ। तुम्हारे रेशमी वस्त्र उसके बहते शोणित से लाल हो जाएंगे।’

‘कपडो का क्या है गौतमी, मुझे तो ऐसा लग रहा है यह बाण मुझी को लगा है।’ फिर मैंने उस श्वेत-मेघवर्ण राजहसिनी के परो मे फंसा हुआ शर धीमे-धीमे निकाला। उसका फलक लहू से आरक्त था। हसिनी मेरी ओर भीगे नयनों से देख रही थी।

देवदत्त ने कहा—‘कुमार ! क्षुद्र पछियो के प्रति ऐसी कातर करुणा तुम्हे शाभा नही देती। यह तो निगी कायरता है। मैं देख रहा हू कि तुम्हारी आखों मे वही विलक्षण भाव छाया रहता है जो प्रायः रण से विमुख क्षत्रियों की आखों मे होता है। आज तुम एक पछी पर शर-सधान देखकर इस प्रकार विचलित हो गए, सम्भव है कल समरांगण में किसी विपक्षी की मृत्यु तुम्हें अधिक अन्तर-बेधक प्रतीत हो। खैर, मे इस वहस मे नही पड़ूंगा, मेरा शिकार मुझे दे दो।’

मैं चुप था, परन्तु कृशा से न रहा गया—‘देव, तुममें इतनी भी शर्म नही कि कुमार ने जिस घायल पछी को अपना पछी माना, उसके लिए अभद्र शब्दों का प्रयोग करते लजाओ।’

‘सिद्धार्थ, शिकार मेरे शर से गिरा है, मुझे दे दो, मैं चला जाऊंगा।’

‘मैंने न कहा था कि, तुम अपने कपोत की हत्या कर चुके। अब कौन-सा शिकार माग रहे हो ? और, दूसरों को वीरता का उपदेश देने वाले ! शिकार क्या किसी से मागा जाता है ?’ गौतमी का रोष था।

तब मैं बोला—‘तुमने देवदत्त, अपने पछी को मार दिया, गौतमी यह ठीक कहती है। माना कि शर तुम्हारा था, किन्तु पछी के प्राण तो मैंने बचाए।’

‘तुम तो प्रतिदिन एक न एक पशु की जान बचाने का दम्भ दिखाते रहे हो। उस दिन हम आखेट के लिए गए थे। वन की पगडंडियों पर जब हमारे घोड़े सरपट दौड़े जा रहे थे, तुमने अचानक रुककर अपना अवलक्ष अश्व (काले रंग का अबलक्ष घोड़ा) खड़ा कर दिया ! बात सिर्फ इतनी ही थी कि तुम्हारे घोड़े का श्वास चढ़ गया था। उस पर दया कर तुम रुक गए थे। और तुम्हारी इस अनोखी दया के शुभ परिणाम मे हमें अपने शिकार से हाथ धोना पड़ा।’

इस बीच गौतमी ने वह रक्तस्नात बाण देवदत्त के हाथों में धमाते हुए कहा—“लो अपना यह शर, संभालकर रखा इसे। फिर किसी हसिनी की हत्या के काम आवेगा।” और तनिक ईषत् स्मिति से उसकी अधरज-लालिमा और गहरी हो गई।

तर्क में देवदत्त कम न था। उसने कहा—“गौतमी, यदि मैं अपने धनुष पर अपना बाण न चढ़ाता, तो, कुमार के हाथों में यह हंस कैसे आता?”

मैंने उत्तर दिया—“देव, विश्व के समस्त प्राणियों को देह और जीव प्रभु ने दिया है। याद है, उस दिन महर्षि असित ने क्या कहा था? ईश्वर के दिए इस जीवन को नष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी को यह हक नहीं है कि वह किसी की हिंसा करे। सीधी-सी बात है, तुमने इस भोले प्राणी को मारने का प्रयत्न किया, तुम इसके देह-प्राण पर अपना अधिकार खो चुके। अब यदि यह मेरी सुश्रूषा से स्वस्थ हो जाए, तो मेरा न कहोगे इसे?”

चपल गौतमी बेचैन खड़ी थी। वह कभी इस पैर पर खड़ी रहती, कभी उस पैर पर खड़ी रहकर, दूसरे पैर की पगलली अपनी हथेली में लेती। उजली हथेली में, उसकी अरुण एंडी सुहावनी लग रही थी। फिर से उसके चेहरे पर चपल मुस्कान लहराई और मैं जान गया कि वह फिर कुछ कहेगी। बोली—“महारथी देवदत्त। ससार में मारनेवाले से, बचानेवाला बड़ा होता है। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे ‘पुत्र’। अब तुम जा सकते हो।”

“मैं अपना हंस लेकर ही लौटूंगा।”

“कह जा दिया, नहीं मिलेगा”—गौतमी झल्लाई—“अच्छा, तुम दोनों वहां दूर, सामने कचनार के तले खड़े रहो। इधर से मैं हंस को छोड़ती हूँ, यह जिस के पास चला जाएगा उसी का हो जायेगा। किन्तु फिर बखेडा न करना पहले से बताये देती हूँ।” गौतमी ने अपनी नीलम-नगजडी-सुनहरी-अँगूठीवाली उगली उठाकर, उसे अधरो तक छुआकर कहा।

और तब हम सबने विस्मयपूर्वक देखा—वह राजहसिनी अपनी मोहक मंद गति से चलती देवदत्त के निकट गई। दो पल रुकी, और ‘कूँ-कूँ’ के कलरव में कुछ कहकर, तुरत मेरे पैरों से चिपट गई।

मैं तो चुप रहा पर गौतमी ने बड़े जोर से खोंसकर विजय की घोषणा की।

नीचा मुह किए देवदत्त चला गया। परन्तु हम दोनों उसे देखते सहम गये, क्योंकि उसके चेहरे पर कालिमा उभर आई थी, मन का अशुभ निश्चय जिसमें झलक रहा था।

कपोत के लिए कृशा ने अपनी ओढ़नी की पट्टिया बनाई।

हम उसे कुंजों की छाया में ले गए।

गौतमी उसे अपने पतले ओठों से चूमती-पुचकारती रही। जब हम उसकी परिचर्या कर चुके तो कृशा बोली—“सुनो सिद्धार्थ।”

मैंने उसका अनिवार्य लोचना की ओर देखा अतल सागर की मोन गभीरता उनमें थी। सामने की शिला पर वह बैठ गई। इधर-उधर उसने देखा। कपोत का अपने वक्ष में और सुरक्षित कर लिया, फिर कहने को प्रस्तुत हुई।

मुझे भय था कि गौतमी वही कहेगी, जिसे सुनने को मैं अप्रस्तुत हूँ।

पर वह तो कुछ और ही 'सदेस' लाई

'कुमार, अपने मन को मत भारना। मेरी सहेली को जानते हो। वही, जो नाग-नृत्य के दिन मेरी बाई ओर थी। वही इकहरी देहवाली। गोरी-गोरी। जिसकी नाक में नीलम की कील थी। सुतीक्ष्ण, दीर्घ, नील नेत्रों में एक पारदर्शी पारस था, जिस पर चाहे तो कोई अपने मन का कचन परख सकता है। उसी भोली वाला की विनती मैं तुमसे निवेदित करना चाहती हूँ सिद्धार्थ। अन्यथा जानते हो, कृशा गौतमी ने आज तक कितनी का मुँह न जोहा।'

'जानता हूँ गौतमी, तुमसे जो परिचय है वह न्यूनतम नहीं सनातन है।'

कृशा मुस्करा दी। उसके अनमोल कपोल आरक्त हो उठे। कहने लगी—'मेरी वही सहेली तुम्हारे सपने देखती है।'

मैं स्तब्ध था। ऐसी स्थिति पर क्या जवाब दूँ, यही सोचता रह गया।

मैंने नजरें उठाई। कृशा गौतमी एकटक मेरी ओर देख रही थी। आंखें मिलते ही लजाकर उसने दृष्टि नीची कर ली।

अब मैं उसे भली प्रकार देख सकता था। पन्द्रह वर्ष की वह बहुत ही चपल किशोरी थी। समस्त कपिलवस्तु, दूर और निकटस्थ जनपद नर्तकी के रूप में उसका नाम जानते थे। विधाता ने उसके चरणों को नृत्य की सारी गतियाँ देकर जन्म दिया था। उसके अलक-पलक नाचते थे, नयन-नासिका नाचते थे, अधर, बाणी, अलक नाचती थीं, अंगुनिया, बाहुमूल, कटि और चरण नाचते थे। उसकी गति में नृत्य था। उसकी सारी काया में नृत्य की भाया थी।

किसी अज्ञात किशोरी का स्वप्न निवेदन सुन मेरा हृदय उद्वेलित हो गया।

जिस ससार में साप और सपेरे बसते हैं, उसमें न रहने के मेरे निश्चय का क्या होगा? शोषकों, शासकों, सामन्तों, पुरोहितों और श्रेष्ठियों के भेष में विपथर साँपो के समुदाय जिस ससार में निश्चय होकर विचर रहे हैं, उसमें साधु कैसे रहेगा?

सापो का सम्बन्धी ही सर्प-लोक का वासी हो सकता है।

और ज्यो...ज्यों...मैं दुनिया में दूर ध्रुवों की खोज में जाना चाहता हूँ—नई ज्योति के नूतन आलोक के निमित्त दूर निकल जाना चाहता हूँ, त्यों, त्यों यह धरती अपने लिए सोचने को मुझे मजबूर क्यों कर देती है?

वयसधि के द्वार खड़ी वह तरुणी... मैंने तो उसे यों ही देखा था... यह मायाविनी गौतमी कौन-सी बला ले आई है?...

सहसा, मैंने यों ही पूछ लिया : 'और उसका नाम क्या है ?'

'उसका नाम बड़ा मधुर है कुमार ।'

‘मधुर हो या तिक्त कहो भी..’

सामने आचार्यवर आ रहे थे। मैंने अपना कपोत ले, चलना चाहा।

युवक-युवतियों का एकान्त सेवन हमारे यहां वर्जित था। आचार्य के पूर्वस्वर मेरे श्रवणों में मुखरित हो उठे—‘कुमार, इस जगत् में मार के उपहार अत्यन्त मोहक हैं। तुम उनके वक्रचक्र में न फसना। इस व्यूह में प्रवेश सरल है, पर उपवेश दुष्कर है’

परन्तु, गुरुवर नहीं जानते थे कि उसी दिन मैंने इस व्यूह से ‘निष्क्रमण’ करने का प्रण कर लिया था।..

आर्य तब तक निकट आ गए थे।

गौतमी उठ खड़ी हुई। कपोत देते कहने लगी—‘मेरी उस सगिनी कपोती का नाम है यशोधरा।’

‘यशोधरा’ नाम मुझे शोभन लगा।

नाग-नृत्य के दिन देखी उस शीतल, तन्वंगी, नील मीनाक्षी वाला की नृत्यमयी मुद्रा मेरे सम्मुख गतिमती हो गई।

और आचार्य के वचन ‘प्रश्नचिह्न’ बनकर दीर्घाकार धारण करने लगे। बढ़ते-बढ़ते उन्होंने मेरे समक्ष-स्थित चित्रों को ढक लिया, ढक लिया...।

और एक दिन जब यशोधरा हमारे यहां निमंत्रित थी। गौतमी भी आई थी। देवदत्त भी था।

देव ने सबको डरा दिया। वह आततायी न जाने कहां से सिंह का एक शावक पकड़ लाया। मेरा मन सहम गया। मनुष्य के स्वभाव-मूल में क्या क्रूरता ही है ?

और इन किशोरियों के मध्य, इन बालिकाओं के बीच कपोत, हिरन और नयूर के स्थान पर सिंह और शूकर ले आना, आर्य नारी की अवज्ञा नहीं तो उसके प्रति अभद्रता तो अवश्य है।

मैं एकान्त में जाकर आसू पोंछ आया। मेरे मन में आया कि देवदत्त को अच्छा पाठ पढ़ा दू। पर वह हमारा सम्बन्धी जो टहरा। यदि परिवार में विग्रह होगा तो कुल विभक्त हो जाएंगे और कुलों की विभक्ति कपिलवस्तु के शत्रुओं के हर्ष का कारण बनेगी।

सामने जो देखा गौतमी के कंधे पर अपनी गोगी बाह टिकाए एक अल्हड वाला खिलखिलाती आ रही थी। कोई बात रही होगी कि दोनों की हसी रुकती न थी। मुझे देखते ही किशोरी की वह चपल स्मिति पावसकालीन धूप-छाया की भाँति उड़ गई। तनिक वह लजा गई। पहले उसकी लाज लोचनो में झलकी। फिर कपोलो पर उसकी परछाईं निखर आई। और इन दोनों का रहस्य अधरसपुट में तालिमा की लहर

बनकर समा गया। फिर भी मुस्काने अमृत घोल गई।

जब वे और निकट आईं तो मैंने देखा—अरे, यह तो यशोधरा है। वही, जो नाग-नृत्य के दिन जी-भरकर नाची थी।

और मुझे भान आया—उस दिन अम्मा इसी के लिए कहती थीं। . इसी यशोधरा को अपनी बहू बना लेने के लिए विकल थी। अब-जब मैंने इसे देखा तो मा का वह चेहरा याद हो आया. यश की चर्चा से जो चमक उठा था। विचित्र है यह विश्व। मा को बेटा ही नहीं चाहिए, वहू भी चाहिए। बेटे से अधिक प्यार वह बहू को देना चाहती है। प्यार जो कालान्तर में बहू के आचल का दीपक बनकर, घर में उजला करता है।

गौतमी आगे बढ़ी।

यश भी बढ़ी। वह और समीप आ गई। फिर, ठिठकी, खड़ी रह गई।

मन-ही-मन तो कृशा गौतमी पर खीझ रही होगी, कि कृशा ने कहा लाकर खड़ा कर दिया। और अवश्य चिढ़ी थी वह अपने जी में। तभी न उसके कपाल पर दां सल पड़ गए थे। नेत्र अरुणतर हो गए थे और कपोलों की तालिमा दुहरी हो गई थी।

लेकिन, उस दिन की अपेक्षा भी, आज मुझे यश अच्छी लगी। पीली साड़ी पर नन्ही-जामुनिया चोली उसने पहनी थी। गहन नील अन्तरीय की गोट साड़ी के नीचे झलक रही थी। उसकी हल्की कलाइयों में मोतियों की दो-दो चूड़ियां थीं ओर मुझे याद है उसके कमनीय कवरी—जूड़े पर शेफाली की वेणी महक रही थी। ओर हा . उसके पीत—आस्तरण पर कृष्ण-चित्तिया थीं। यशोधरा के इस परिवेश ने मुझे विमोहित कर लिया और एक ही पल में मानो मैं किसी दूसरे लोक में पहुंच गया। यह वह लोक था, जिसमें सहस्रो वर्ष पूर्व मेरा अधिवास था।

गहन कान्तार। बासमती के क्षेत्र। सुदूर तक दूरिया। विस्तीर्ण नीलाकाश। नीच अछोर हरी धरती। दृष्टि की सीमा से असीम धान के खेत। झरते निर्झर। कलकल गाती पर्यस्वनी सरिताएं। सूनी पगडंडिया। उत्तुंग चट्टानें। विराट नगराज। ऊंचे-ऊंचे पेड़। लम्बे-लम्बे गाछ। हिंस्र पशु। पालतू प्राणी। गौ और चीते। सर्प और मछलिया।

इसी विकट वन में मैं रहता था। करौदी की मदविह्वला झाड़ियों में मेरी माद थी। अदूर ही कहीं से विचरण करती सिंहनी वह मेरे गुहाद्वार पर आ खड़ी हुई। उसकी चाल और दामिनी-सी गति देखकर मेरा मन मोहित हो गया। मुख और ग्रीवा पर सूनी दोपहरी की आधी धूप पड़ रही थी और पृष्ठभाग पर छाया झलक रही थी।

गुफा के सामने आकर वह निरीह नीची नजरो से कुछ खोजती प्रतीत हुई। मैं अपने ग्रीवा के केश लहराकर खड़ा हुआ। मेरा बाहर आना था कि देखा, एक बड़ा-सा केंसरी इसके पीछे, झाड़ियों को लाघकर, आ खड़ा हुआ है।

सिंहनी ने एक निरपेक्ष दृष्टि से उसकी ओर देखा और आगे बढ़कर मेरे पास

खड़ी हो गई।

सिहवाला का मेरे पास आना, आगतुक केसरी न देख सका और वाला पर झपटा, लेकिन मेरे एक ही थप्पड़ ने उसे वापिस लौटा दिया।

एक वनकन्या के सम्मुख अपना अपमान देख, वह दूने क्रोध से, दहाड़कर उछला। मैं तो प्रस्तुत था ही, फिर भी वड़ी देर तक हमारा द्वंद्व चलता रहा।

बड़ा अच्छा खेल था वह। कभी-कभी अपने विरोधी को सन्मार्ग पर लाने के लिए, उससे द्वंद्व भी आवश्यक हो जाता है। मेरे एक थप्पड़ और नाखून की चपेट से आगतुक केसरी लहलुहान हो गया था और उसके शत धूल से सन रहे थे। उसकी बाईं आख के करीब जो घाव था वह भयंकर था, और इससे उसकी दृष्टि में अवरोध आ गया था। और जब किसी व्यक्ति की दृष्टि में अवरोध आ जाता है तब उसका पतन और पराजय निश्चित है।

हारकर, दुम दबाकर वह चलता बना। सिंहनी मेरी ओर आई। पीपल की घनी छाया में हम बैठ गए और सकरुण, सतृष्ण लोचनों से मेरी ओर देखती हुई, वह मेरे घावों को सहलाने लगी।

यह स्नेहशील सिंह कन्या यशोधरा थी और कहना न होगा, कि वह पराजित सिंह, दूसरा कोई नहीं देवदत्त था।

फिर हम दम्पती बने और पूरा वह जन्म सुखपूर्वक बीता।

और आज मुझे देखकर विस्मय हुआ : वही वनराजकुमारी—नीलम देश की राजकन्या यशोधरा के रूप में मेरे सामने खड़ी है।

देवदत्त ! दे व द त्त ! सदा का मेरा परिचित ! सदा का मेरा शत्रु ! सदा का मेरा बन्धु और सदा का मेरा विपक्षी !

6

भरतखण्ड के मध्य प्रदेश में जन्म लेने का मैंने निश्चय किया। यह मध्यदेश आर्यावर्त के ठीक मध्य में है। पूर्व में कजगल नामक निगम है। उसके परे महाशाल वन है। ओर उससे भी परे प्रत्यन्त प्रदेश है। मध्य में है यह देश, पुण्य सलिला सालवती सरिता के इस छोर पर बसा है, दक्षिण-पूर्व में। और इस सालवतीय प्रान्तर से परे सीमान्त प्रदेश है। मध्य में है यह देश, दक्षिण में सेतकन्निक नगर के इस ओर है। मध्य में है यह देश, ब्राह्मणों का गाँव थूण है इसके पश्चिम में, जिसके पार सीमान्त प्रदेश है। मध्य में है यह देश, पर्वतकन्या उसीरध्वजा के इस ओर स्थित है, उत्तर में। उसीरध्वजा के पार सीमान्त का प्रदेश आ गया है।

नगराज हिमाचल की गोद में बसा है हमारा कपिलवस्तु। श्वेत गच्छिनी देवप्रतिमा पर जैसे कोई अरुण सुमन चढ़ा हा ऐसा लगता है हिमगिरि की गोद में

यह कपिलवस्तु। यह सुरम्य नगरी नेपाल के दक्षिण में है। वाराणसी यहाँ से, समीप ही है, दूरी कोई तीस योजन होगी। नगराज के निर्मल अन्तर से स्नेहधारा-सी निकली है पुण्यतोया रोहिणी नदी। यह हमारे कपिलवस्तु के बाहर-बाहर बहती है, या यो कहें, इसके किनारे-किनारे बसा है हमारा कपिलवस्तु। हमारा तात्पर्य मेरा अपना नहीं, शाक्यों का, क्योंकि शाक्यों ने ही तो इसे बनाया-बसाया, सजाया-सँवारा। मैंने तो कुछ नहीं किया, फिर भी मन में एक अलगाव में भरा लगाव तो रहा ही कि कपिलवस्तु नगर है हमारा। आखिर, कोई पूछे, तो मैं यही कहूँगा कि हम कपिलवस्तु के रहने वाले हैं।

कपिलवस्तु के एक छोर पर मगध देश और दूसरे छोर पर कोसल देश बसा था। इन दोनों देशों में सदैव युद्ध होता रहता और दोनों के बीच वैर का विषधर अपनी फुंकार-द्वारा विष का प्रसार करता जाता था। दोनों परस्पर सम्बन्धी थे। एक दूसरे को अपनी दुहिता देते परन्तु, कोई पिछला वैर था कि बारम्बार उठ खड़ा होता था। मगध और कोसल दोनों हमारे सम्बन्धी और पड़ोसी प्रदेश थे। यद्यपि उनके बीच घमासान घिरता, पर कपिलवस्तु ने कभी उसमें भाग न लिया, क्योंकि हमारी नीति थी शान्ति, सहअस्तित्व और तटस्थता की। भला, इन दो प्रमत्त गजराजों के सगर में नन्हा-सा कपिलवस्तु क्यों पड़े ? वह तो सुकोमल कमल नालवत् था। हमारे देश ने बहुतेरा प्रयत्न किया कि, ये उभय राष्ट्र सहअस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करें और शान्ति से रहें, और दूसरों को रहने दें। बड़े देश क्या यह नहीं जानते, या वे भूल जाते हैं कि हमारे इस अकाण्ड ताण्डव से छोटे देशों को हानि पहुँचती है। सो, मैं कह रहा था कि आयासपूर्वक कपिलवस्तु तटस्थ रहा। हमारी तटस्थता का एक कारण यह भी था कि कपिलवस्तु का राज्य अभी-अभी स्थापित हुआ था और हमें अपने देश और जनता की भलाई के लिए अनेक कल्याणकारी आयोजनों में बहुत बड़ा भाग लेना था और सचमुच, कई योजनाएँ थीं हमारे पास, जिनके द्वारा जन-जन की हित-साधना का स्वप्न पूरा होता था। अतः हमने इन दोनों हाथियों को लड़ने दिया (जब वे न मानें) और हम अपने निर्माण में निरत रहे। फिर हमारे पूर्वजों के देखते-देखते मगध और कोसल युद्ध के प्रतिफल निर्जन और निर्बल होते गए। युद्ध से किसी का लाभ नहीं होता। दोनों ही पक्षों की अपार हानि होती है। तो, एक ओर कोसल-मगध निर्बल होते गए, दूसरी ओर कपिलवस्तु का राज्य दिन-दिन समर्थ और समृद्ध होता गया। क्योंकि हमारे लोग शान्त और श्रमी थे, सन्तोषी थे। धीरे-धीरे कपिलवस्तु और उसके परम प्रतापी शाक्यों के अनन्त वैभव की गौरवगाथा, कीर्ति कपोती के पंखों पर चढ़कर देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर तक पहुँच गई। समस्त जम्बूद्वीप कपिलवस्तु के प्रताप से प्रभावित, प्रकाशित हुआ।

मुझे उस दिन शैवालिका की माँ आर्या ने बताया कि रोहिणी नदी के दूसरे किनारे जो देवदह नामक मेरी मातुल भूमि है वह भी कपिलवस्तु के समान ही रमणीय है मुझे ठीक-ठीक स्मरण है जब मैं छोटा था एक निशा नींद नहीं आ रही थी

यो ही विचारों में, भावनाओं में मन डोल रहा होगा, भ्रमण कर रहा होगा, जैसा आज किया करता है। मुझे सुलाते हुए आर्या बोली थी—“कुमार जो चुप सो जाओ तो हम तुम्हे रोहिणी नदी की दो राजकुमारियों की कहानी कहे।”

मैंने कहा—“मैं तो चुप ही सोया हूँ।” कहानी सुनने का लोभ मैं सवरण न कर सका, यह तो मुझमें आज भी है, खासकर कोई अच्छी कहानी हो तो उसे सुनने-सुनाने की चाह मन में उठ ही जाती है।

तब आर्या बोली—“यह तो जानते ही हो, रोहिणी के इस पार कपिलवस्तु और उस पार देवदह का राजनगर है। देवदह के राजा बड़े प्रतापी और सूरमा थे। उनके दो राजकन्याएँ थी—अति सुन्दर अति सुकुमारी। जिनके रूप की धूम शरदकालीन धूप की तरह समस्त धरती पर फैली थी। विगत कुछ वर्षों से कपिलवस्तु और देवदह के बीच इस बात पर विवाद चल रहा था कि—रोहिणी नदी का जल किसका है ? इस पर किसका स्वामित्व है ? एक राज्य कहता रोहिणी हमारी है। दूसरा इसका पूर्ण प्रतिवाद करता—नहीं, तुम्हारी नहीं हमारी है, क्योंकि हम इतने-उतने वरसों से यहाँ रहते हैं। साराश यह है कुमार, कि दोनों राज्यों में झगड़ा बढ़ गया और एक दिन दोनों ने एक-दूसरे को लड़ाई के लिए ललकार दिया।

बड़ी घनघोर थी वह लड़ाई। मैंने तो नहीं देखी, शैवालिका के पापा ने उसमें भाग लिया था ...”

मुझे याद है यहाँ आकर आर्या रुक गयी थी। उनका कण्ठ भर आया था और उन्होंने आँचल से आँखें पोछी थी।

“तो कुमार इस युद्ध में सहस्रो वीर काम आए। रोहिणी नदी के ठंडे जल के लिए दोनों तीर के वीरवरो का उष्ण लहू बहा। रोहिणी नदी के जल की धाराओं का रंग पलट गया—पहले श्वेत थी। अब लाल होकर लहराने लगीं। कपिलवस्तु के शाक्य राजा ने देवदह के कोलिय राजा को हरा दिया। शाक्यों की जीत पर जीत हुई। अतः मेरे उन्होंने हमारी शर्तों पर शाक्य राजा से संधि कर ली। और कुमार, क्या तुम्हें नीद आ गई, मैं कहती हूँ संधि ही नहीं की गई, नदी की जल धाराओं का समस्त अधिकार भी कपिलवस्तु की जनपद को मिला। कोलिय राजा ने अपनी उन दोनों सुन्दर, अति सुन्दर राजकन्याओं का विवाह शाक्यराज से कर दिया...और जानते हो, कौन थी वे राजकन्याएँ ?”

“नहीं, तुम्हीं बताओ।”

“कोलिय राजा की उन राजपुत्रियों का नाम है, महामाया और प्रजापति गौतमी।”

“महामाया तो मेरी माँ थी ना आर्या ?”

“हाँ”

“और प्रजापति देवी ?”

“वह भी तुम्हारी माँ है सिद्धार्थ।”—कहते, एक छाया मूर्ति ने भीतर, हमारे कक्ष में प्रवेश किया। आर्या उठ खड़ी हुई। मैंने रत्नदीप के झिलमिल प्रकाश में मा

प्रजापति की इकहरी छाया देखी। उनक श्वेत-रक्त वदन पर मधुर मुस्कान थी। उन्होंने मुझे अपने अक मे भर लिया और मेरी देह सहलाने लगीं। फिर मुझे नींद आ गई होगी।

7

फिर एक दिन मैंने छन्दक से यो कहा—
 “भद्र सारथि। अच्छे-अच्छे, उत्तम रथों को जोतो। आज मे उद्यान-भूमि की छवि देखने जाऊंगा। सब साथी भी चलेंगे। देवदत्त और कृशा गौतमी को भी बुलाओ और गौतमी की वह जो सहेली है न...क्या नाम है उसका,...अजी, वही महाराज दण्डपाणि की पुत्री.. हा. याद आया, यशोधरा। उसे भी बुलवाओ। हम सब राजोद्यान की शोभा का दर्शन करेंगे।”

कुछ देर से छन्दक लौट आया—“देव। राज परिवार के उत्तम रथ तैयार हे, अब आप जो उचित समझे, आदेश दीजिए।”

“और साथी क्या सब आ गए?”

“दीर्घायु हो देव, वे सब प्रतीक्षालय मे कुमार की प्रतीक्षा कर रहे है।”

“अच्छा जाओ, उन्हें हमारा सधन्यवाद कुशल कहो।”

“जो आज्ञा देव।”

“जरा सुनो तो, कुमारी यशोधरा भी आई हैं न?”

“अवश्य, वे भी प्रस्तुत है, अभी राजमाता प्रजापति के कक्ष में गई हैं।” और जाते-जाते छन्दक एक मुखर मुस्कान छोड गया। मैं अविलम्ब ही तैयार हुआ। परिवेश पहनते समय मेरे मुंह से गीत की वह कड़ी गूज-गूज जाती थी, जो यशोधरा ने उस दिन सुनाई थी।

प्रशस्त राजपथ पर अपार भीड थी। सांध्यकालीन सुबेला में हमारे स्वर्ण-रथ शनै-शनै. बढ़ रहे थे। मेरे रथ का वाहक अश्वराज बलाहक था। बलाहक नभचारी था। आकाश मे उड़ना उसके लिए साधारण बात थी। रंग उसका पूर्ण अवदात, विलकुल उजला था। सिर उसका श्याम था और मुज-जैसे उसके अयाल थे। कहते है जब से अश्व रत्न बलाहक कपिला मे आया, तब से समस्त नगरी की ऋद्धि-सिद्धि मे वृद्धि हुई।

सुमन्द वयार का स्पर्श पाते हुए, कपिलवस्तु की शोभा निरखते हुए, पारस्परिक व्यग्य-विनोद के बीच हम बढ़ रहे थे कि देवदत्त ने पूछा—“छन्दक, हमारा यह पुर-पट्टन कितना लम्बा-चौड़ा है?”

“देवकुमार, चारो दिशाओं पर विजय-पताका फहरानेवाले मूर्धाभिषिक्त नरराज शुद्धोधन की यह नगरी पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में बारह योजन है। उत्तर से

दक्षिण तक इसकी चौड़ाई सात योजन है यह सर्वथा समृद्ध समुन्नति शील और सुन्दर है। द्रवों का नगरी जातकनन्दा इसके सम्मुख प्रभाहीन है। कुमार, पाटपुरी कपिला प्रति याम दस शब्द-ध्वनियों से गुजित रहती है। तभी न, सुन रहे हो यह कोलाहल। इन दस ध्वनियों में है हाथी के चिंगाड, अश्वों का हिनहिनाना, सुवर्ण रत्न रथों का वेगवन्त खर् खर्, भेरि-रव, मृदग की मेघमन्द्र ध्वनि, वीणा की तान गीत के बोल, झोंझ की झकार, ताल की तट्ट-पट्ट, शंख का निनाद और 'खाओ-पीओ' के उल्लास भरे आमन्त्रण।”

बीच में मैं बोला-

“और भूल गए क्या छन्दक, उस वृद्ध भिखारी को ?—‘एक कासापन दो बावा, इस जीव को रोटी का टुकड़ा मिले बावा।’ ये शब्द तुम्हारी दस ध्वनियों की सूची में सम्मिलित नहीं ? इन्हें क्या कपिलवस्तुवासी शब्द नहीं मानते ? या राजपरिषद द्वारा बहिष्कृत है ये ?” सुनकर देवदत्त खिलखिला उठा, मैं भी मुस्करा दिया और मेरा मुख-देखता छन्दक भी हंस दिया। शायद उसे इस बात की अधिक खुशी थी कि आज मैं प्रसन्न हू। देव से वह बोला, जैसे, भिखारीविषयक मेरी स्मृति को बहा ले जाना चाहता हो—“देवदत्त, इस नगरी के चारों ओर सात प्राचीर है। आज तक किसी दस्यु आक्रामक का कभी साहस न हुआ कि इन्हें लांघता। इन सात प्राचीरों जैसे ही सप्त प्रकार है राज-भवन के चहुं ओर। इनमें एक है सोने का, एक चादी का, एक वैदूर्य का, एक स्फटिक का, एक पद्मराग का, एक मसारगल्ल का और एक विविध प्रकार के रत्नों का।”

रथ को एक धक्का-सा लगा और वह रुक गया। सामने एक अधी महिला अपनी किशोरी कन्या का सुकर थामे पथ को पार करने का प्रयास कर रही थी। वह तनिक आगे बढ़ती कि एक न एक वाहन देखकर किशोरी उसे रोक लेती। दोनों दो पल रुक जातीं और महिला फिर से आगे बढ़ती कि दूसरी ओर से पुनः वाहन की अभगमाला उन्हें पथ से परे रहने की पुकार मचाती। इस डांवाडोल स्थिति में मा-बेटी पड़ी थी कि तीसरी दिशा से उस चौराहे पर हमारा रथ, पीछे से पहुंचा। बलाहक के गुजित टापों का शोर सुन दोनों ने चौंककर, मुड़कर पीछे देखा और छन्दक की कथा में अवरोध आ गया।

रथ रुका। और फिर चला। और फिर से चली छन्दक की चर्चा—“राजधानी के चार चतुरंगी द्वार हैं। उनमें एक द्वार है कचन का, एक रजत और एक वैदूर्य का। चतुर्थ द्वार स्फटिक का है।”

“लो, यह आ गया शिशिर-प्रासाद का राजोद्यान—देवदत्त का एक साथी बोला—“आज यहीं की सैर की जाए।”

सारथी ने वेगवान अश्वों की कल्पा खींची और धीमे-धीमे वे रुक गये। हम सब नीचे उतरे। अन्य साथियों के उतरने की प्रतीक्षा में मैं पथ पर खड़ा था कि मैंने देखा, यशोकुमारी अपने रथ से उतरने के प्रयत्न में, रुककर रह-रह जाती है।

रथ का पायदान तनिक ऊँचा था और पथ तनिक नीचा था। मैंने तुरन्त बढ़कर अपना हाथ बढ़ाया और उसे सहारा दिया। मेरी हथेली में अपना हाथ दे वह नीचे उतरी और मुंह से ‘धन्यवाद’ न कहकर, केवल अधरो मे मुस्कराई। स्थिति के उस माधुर्य को मेरे प्राण स्पर्श भी न कर पाए थे कि चौराहे से एक आर्तनाद उठा—“बचाओ, कोई दोड़ो ये आततायी प्रहरी मुझ लिये जा रहे हैं।”

मैं आगे बढ़ा, यशोधरा भी बढ़ी और शेष साथी भी चले। हमने देखा एक मेली-काली-कुरूप स्त्री को प्रहरी पीट रहे हैं। उसकी नग्न पीठ पर वे निर्दयतापूर्वक कोड़े मार रहे हैं। उसके क्षत से लहू की धारा बह रही है। और अब तो लाल लहू के बीच श्वेत मज्जा की रेखा दीखने लगी है। उस अभागिन के बाल बिखरे हुए थे। आँखों से आसू बह रहे थे और वह अपनी उस ‘हाय पुकार’ से राहगीरों का ध्यान खींचती थी, जो अब अधिक भारी पर धीमी पड़ गई थी !

मैंने पूछा—“छन्दक, यह अभागिन कौन है ?”

“यह एक अन्त्या है कुमार, चाण्डाल के घर की है। कल रात, पूजा-प्रसाद के प्रलोभन से ब्राह्मणों के देवमंदिर में घुस आई थी, उसी के दण्ड-स्वरूप, इसे राजराह पर कोड़े लगाए जा रहे हैं। ताकि दूसरे लोगों को भी शिक्षा मिले।”

देवदत्त ने प्रहरियों को रोक दिया। मैंने देखा कि कृशा की आँखें छलाछल भरी हैं और यशोधरा कुमारी तो सिसक-सिसककर रो रही है। मैंने उसे न रोने का सकेत किया तो वह कृशा के कंधे पर अपना माथा टाककर और फफक-फफककर रो पड़ी।

मैंने पूछा—“छन्दक, ब्राह्मणों के मन्दिर का देव क्या केवल ब्राह्मणों को ही दर्शन देता है ?”

“क्षमा करे कुमार, मैं क्या जानूँ।”

“मैं जानती हूँ”—कृशा बोली, “ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ है दूसरे वर्ण छोटे हैं। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण हैं और अन्य वर्ण कृष्ण हैं। ब्राह्मण ही शुद्ध हैं, अब्राह्मण नहीं। ब्राह्मण ही ब्रह्म के पुत्र हैं, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए हैं। ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्मित हैं, ब्रह्मा के दायद हैं।”

“यह मात्र मिथ्या दम्भोक्ति है।” मैंने कहा।

“लेकिन, सिद्धार्थ क्या ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती और गर्भवती नहीं होती...?” कृशा बोली।

सहसा हमने उस अन्त्यजा के पीड़न से मर्माहत यशोधरा को बेसुध होते देखा। कृशा ने उसे थाम लिया और छन्दक के साथ दूसरी लड़कियों ने सहारा देकर उसे रथ में लिटाया।

ब्राह्मणों के इस अतिचार से मेरा मन विक्षोभ से सुलग उठा। उनमें से कुछ निर्लज्ज तो वही खड़े, कोड़े की सजा का तमाशा देख रहे थे। मैंने कहा—“ब्राह्मणों, तुम्हें अपने इस अनाचार पर लज्जित होना चाहिए। एक निरपराध अबला पर ऐसा क्रूर अत्याचार !”

“कुमार देव, यह राज्य का विधान है। इसमें हमारे अत्याचार का प्रश्न ही नहीं उठता।”

“विधान तो विप्रवर तुम्हीं ने बनाए है ? और सभी सुविधाएँ अपने लिए रख ली हैं।”

“सुविधाएँ हमें कोई दान में नहीं मिली, हम वर्ग-वर्ण में सबसे श्रेष्ठ हैं। हम ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए हैं।”-उनमें से एक ब्राह्मण ने गर्व से छाती फुलाकर कहा।

“तो क्या, तुम्हारी स्त्रियाँ अब गर्भवती नहीं होती ? और क्या ब्राह्मण-वर्ग योनि से उत्पन्न नहीं होता ?” इतना कह, मैं रोपपूर्वक वहाँ से हट गया और अपने ग्थ में आ बैठा।

इसी प्रसंग में देवदत्त ने कहा—“वर्ण तो दो ही होने चाहिए। स्वामी और सेवक, यानी आर्य और दास।”

देवदत्त के इस कथन ने मेरे रोष को भड़का दिया—“यह स्वार्थ-प्रपंच है। मनुष्य सभी समान हैं। यह बात अलग कि सामाजिक सुविधा के लिए हमारे पूर्व पुरुषों ने काम का बटवारा कर दिया। काम के छोटा-बड़ा होने से उसका कर्ता छोटा-बड़ा नहीं हो जाता।”

इस पर छन्दक बोला—

“किन्तु नाथ, मैं सारथी सदैव सारथी हूँ। मेरा बाप भी सारथी था और मैं भी सारथी रहूँगा। आप क्षत्रिय राज-वंश में उत्पन्न कुमार हैं, राज-पुत्र हैं और आप सदैव राज-पुत्र रहेंगे।”

“छन्दक ठीक कहता है, कुमार।”

“छन्दक ठीक नहीं कहता। इसकी नसों में भी वही खून है जो इसके बाप-दादा की शिराओं में था, पीढ़ियों की गुलामी से जिसमें कीड़े पड़ गए हैं। इस कारण, वह गुलाम-लहू विचार-दृष्टि में अवरोध ला रहा है और ऐसे वातावरण में पला हुआ मनुष्य कुछ सोचने और कुछ न सोचने के लिए मजबूर है। उसी तरह देवदत्त के हम क्षत्रियों के रक्त में भी दाँष आ गया है, तभी न वह स्वामी और सेवक का विभेद करता है। भला, जिनके पास मस्तिष्क है, जिनके पास हृदय है और जिनकी प्रपुष्ट-प्रलम्ब भुजाओं में ओर-छोर सहित धरती को अपने में समा लेने का सामर्थ्य है, उनकी दृष्टि में कौन शूद्र और कौन श्रेष्ठ है। ..

“ईश्वर ने सबको समान बनाया है। सबको समान रूप से, समान ढंग से, समान तरीके से पैदा किया है। सबको समान रूप से प्रकृति का अपना वैभव प्रदान किया है। यह नहीं कि राजकुमारी के लिए ही धूप और आभा बनी हो और शूद्र-कुमारी के लिए उसका अभाव हो। यह तो मनुष्य के मन की कुरूप कायरता और कृपणता है कि उसने प्रभु प्रदत्त उपादानों पर भी पहरा बिठा दिया है और मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वैत की दीवार खड़ी कर दी है, ऊँच-नीच और अधिकार-अनधिकार की

रेखा खींच दा है

कुमार, यह समाज-विरचित विधान ह और सवमान्य ह।

“लेकिन छन्ना, विधान बदल भी जाते है, बदले जा सकते है और बदले जाएंग। आज ब्राह्मणों ने भले ही अपने और अपने गुट के हेतु स्वार्थमय विधान बना लिय है परन्तु वह दिन भी आएगा जब विधान वे लोग बनाएंगे जिन्हें शूद्र और संवक कहा जाता है। जिन्हें मनुष्य कहते उच्च-जन्मा ब्राह्मणों, क्षत्रिय, और वैश्यों की जिह्वा लजाती है। किन्तु यह तथ्य नहीं भूला जा सकता है कि सुकर्म ही मनुष्य को बड़ा बनाता है और कुकर्म ही उसे गिराता है। क्या गौओं के लिए सुरक्षित घास के गजहर में आग लगाने वाले निष्टुर ब्राह्मण की अपेक्षा वह शूद्र श्रेष्ठ और सुकर्म नहीं, जो उस आग को बुझाता है ? छन्दक सेवा सबसे बड़ा धर्म है और संवक का सबसे बड़ा वर्ण और पद है।”

“कुमार का कथन यथार्थ है, धन्य हैं आप, जो ऐसा सोचते हैं, किन्तु मरी यह विनती है कि आप ऐसा न सोचा करें। यह तो ससार है, इसकी गति यू ही चलती रहेगी। ईश्वर ने आपको अनन्त ऐश्वर्य दिया है, उसका उपभोग क्रीजिए और महाराज के मन को शान्ति दीजिए।”

“क्यों भाई छन्दक, अब हां चुका न तुम दोनों का दर्शन-विवेचन ?”-देवदत्त कृशा की ओर लुब्ध नेत्रों से देखता हुआ बोला। वह उतावली में था। मैं समझ गया उद्यान के एकान्त निकुंजों की ओट वह चाहता है। वरना इस सदा के हिसक तरुण के मन में शान्त उपवन के प्रति अचानक यह प्रेम कहा से उमड़ आया ?”

छन्दक ने हमें, एक-एक कर उद्यान के समस्त लता-वल्ली और द्रुम-पादपों का परिचय दिया—

“देव, यह अमरवल्ली है, इसे अम्वरवल्ली भी कहते हैं। देखिए राजकुमारी यशोधराजी, भारतीय नारी की तरह यह वल्ली निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर है। अशोक के इस विशाल वृक्ष का प्रश्रय पाकर, यह अपना समस्त भार उसे सौंप चुकी है और इस अशोक की ओर देखो गीतमी, सुन्दरियों के पदाघात से जो खिलता है।”

“तुम भी क्या किसी के पदाघात से खिलें हो, भद्र सारथि !”

छन्दक गीतमी की बात पर केवल मुस्कराया।

“और इस अगारवल्ली को जरा देखो कुमार ! विद्रोहियों के तप्तमानस की तरह इसकी शिरा-शिग लाल हुई जा रही है। हरित पल्लवों के मध्य इसके फल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो नन्हे अगार दहक रहे हैं।”

“क्या इसी से अगारवल्ली कहते हैं इसे ?” यशोधरा ने पूछा।

“ठीक कहती हैं कुमारी ! ऐसा ही एक वृक्ष भी होता है, वह देखिए, उधर छोटे सरोवर के पास जो अति अरुण फूलों वाला गाछ दीखता है न, उसका नाम

हे अंगारपुष्प

बीच में ही गौतमी बोली— तो छन्ना, तुम्हारी अंगारवल्ली का विवाह हमारे अंगारपुष्प के साथ कर दो न ।”

“जरूर ।”—उत्तर देवदत्त ने दिया—“दहेज में क्या रहेगा ?”

“कोई सद्व्यास हो तो मैं स्वयं चली आऊंगी ।”

“व्यास का सद्व्यास बनाना तो हमारे हाथ है ।”

“हूँ ।” और वह यश की ओर देखकर मुस्कराई । अब छन्दक की बारी थी—“यह पारिजात है ।”..

“पारिजात है ।” देवदत्त उत्सुकतापूर्वक बढ़ा ।

“हा, और यह यूथिका है । अज्ञात यौवना की हसी-सदृश इसके पुष्प देखो कुमार । कितने निर्मल और निष्पाप लगते हैं ।”

“तो अभी किसी मधुकर से इसका परिचय नहीं हुआ है ।”

“मधुकर क्या सभी, पाप के वितरक हैं ?” गौतमी ने पूछा ।

“यह कौन जाने, पाप मुकुल में है अथवा मधुकर में ? लेकिन बंद कली के अंक में रात-भर रहकर, जब भोर में भ्रमर बाहर आता है तो वह काफी बदला हुआ लगता है ।”

ऐसी बात सुनकर गौतमी जवाब न दे, यह तो आज तक न हुआ—“सम्भव है, कमल कली ने भ्रमर को अमृत-रस दिया हो, किन्तु भ्रमर के छलिया हृदय-पात्र में गिरकर वह कुछ और बन गया हो ।”

“सम्भव है ।”

“सम्भव नहीं, निश्चय ही यही बात है—विष के पात्र में गिरने वाली दूध की प्रत्येक बूंद यदि हलाहल में परिवर्तित हो जाती है, तो दोष उस बूंद का तो नहीं, उस पात्र का यानी मधुप का है । कली तो अपने वृंत पर ही रही, किन्तु भ्रमर ने जाने कितने लोच-परलोक देखे ! जाने कितनी कलियों का रसपान किया ? और विस्मय तो इसमें है कि वह प्रति अवसर नई कलिका का परिचय चाहता है ।”

कृशा गौतमी की जीभ जब चलती, तो किसी के रोके न रुकती । और तर्क-वितर्क में उसे पा लेना सदा के तर्की देवदत्त के लिए भी कठिन था ।

छन्दक बोला—“अंगारवल्ली के सजातीय इस इन्द्रायण को देखिए । इसके लाल-लाल फल जितने मनोहर हैं, उतने ही कड़ुए हैं । यह है कदम्ब, यशोदा मेया के मोहन का प्रिय तरु ।”

“जाने कितने रास रचाए होंगे मोहन भैया ने इसके नीचे ।”

“सच है ।” मैंने कहा ।

“और यह रसाल का वृक्षराज कितना मनोज्ञ है—” देवदत्त ने अपनी उगली से पेड़ दिखलाते हुए कहा । यशोधरा ने उसे टोक दिया—“कुमार, रसाल को उगली न दिखाओ, उसकी बाढ़ रुक जाएगी ।”

“यश का मन बड़ा ही कोमल है—” गौतमी बोली—“द्रुम-लताओं और पशु-पक्षियों के मरने-जीने की चिन्ता में भी दुबली हुई जाती है यह !”

“अब इधर आइए। जरा सावधानी से, इधर बाईं ओर पैर न दीजिए, माली ने कल ही नए पौधे उधर रोपे हैं..”

“और ये नए पौधे नई नवेलियों की तरह तनिक-सी आहट पाकर लजाते-शरमाते हैं और बाहर की दयार छूते ही कुम्हलाते हैं।”

“शिरीष और शेफाली का वह जोड़ा देखिए। शिरीष कितना मुक्त और उदागमना है। वह धर्मप्राण धनिक की तरह अपनी प्रसून-राशि दोनों हाथों से लुटाता है—ये जो शाखाएँ बाहर निकली हैं, शिरीष के दो हाथों जैसी ही तो हैं। देवी यशोधर, इस दुबली-पतली शेफाली को देखो न, जिसके फूल और जिसकी गंध तुम्हें सुहाती है। रात-भर झरती है यह। आर्य सुहागन के समान समर्पण ही इसका इष्ट है। नम्र-निवेदिता यह चिर-विरहिन निशीथनी की वीतती बेला में चुप-चुप झरती रहती है। युगान्तर आए और गए। कल्प उदय होकर अस्त हो गए। अनेक ज्ञानी और संत धरती पर विचरे, लेकिन देवि, इसके आसू किसी ने न पोछे। मनुष्य के नेता ने यानि मनुष्य ने मनुष्य के दुःख को तो देखा, परन्तु कितने ऐसे हुए, जिन्होंने पशु का, पंछियों का और इन अबोध लता-द्रुमों का दुःख देखा-परखा हो ? इनकी पीर पहिचानी हो ? यह गुलाब है, पाटल है, कवियों ने जिसकी उपमा कामिनी के कपोल से दी है। यह करबीर, कांचनार, सिन्धुवार और यह करण्टक है। यह है लाल कनेर। यह, उद्यान की शोभा-समान जो द्रुमवर दीख रहा है, गांधार से यवनराज का भेजा गुलेअव्वास है। अनन्त रस की विधात्री यह अगूरलता है। इसी नाम राशि की यह दूसरी वल्लरी है अगूर-शेफा, इसे हिमवान के गहनवनों से लाया गया है...”

“बेचारी का मन यहाँ कैसे लगता होगा ? इस अपरिचित प्रदेश में, उद्यान के सभी साथी जहाँ नए हैं। देखिए न, तभी तो यह ऐसी सकुचाई शरमाई है।” यशोधरा ने शेफा के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा। उसकी बात सुनकर हम सब सहम गए, मानो शेफा को हिमगिरि के आगम से यहाँ ले आने का सारा अपराध हमारा ही है।

“अब आप लोग, जल्दी-जल्दी आगे बढ़िये। वह जो छः हाथ लम्बा प्रहरी जहाँ पहरा दे रहा है, वहाँ सुनहरी क्यारी में अमृतमूरि-संजीवनी बन्द है।”

“बन्द क्यों ? इसे खाकर कोई मरेगा तो नहीं। अमर ही होगा। लोक-जीवन की रक्षा और अभिवृद्धि ही तो राज्य का ध्येय है ?”

“किन्तु यह मूरि केवल राजपरिवार के लिए रक्षित है। यदि साधारण-जन भी इसे पा लेंगे तो फिर राजा-प्रजा में अन्तर ही क्या रह जाएगा ! राजा राजा है, प्रजा प्रजा है। उसका काम शासन करना और इसका काम शासित रहना है।”

“झूठ है, गलत है। प्रजा में यह मिथ्या प्रतारणा और भ्रांत धारणा किसने उत्पन्न की है ? स्वार्थी-समाज-शास्त्रियों ने ही तो ? राजा प्रजा एक है। दोनों एक ही इकाई

के दो पहलू हैं। प्रजा से राजा उत्पन्न होता है। प्रजा म से उसका निवाचन होता है। इसलिए प्रजा जो कि निर्वाचक-निर्णायक है, बड़ी है। राजा अपने निर्वाचकों द्वारा शासित है। इसलिए, विधान की दृष्टि से यद्यपि उसे सम्मानसूचक शब्द 'शासक' मिला है, तथापि वह सबका 'सेवक' है और जो सेवक है वह राजा कहलाने का दावा न करेगा।" मैंने कहा।

"यह अर्जुन-वृक्ष हैं—सफेद कनेर। अविवाहिता माणविका (ब्राह्मण कन्या) की मुस्कानों—सी है इसकी कलिया और इधर इस ओर सभी प्रकार की गंधलताएं हैं—धनिया, अजगधा, यवानिका, अगरु, अजवायन, अरण्य और आर्द्रक हैं। नवमालिका और चम्पक की यह तरुराजि इन गंध लताओं का पहरा दे रही है। मा के क्रोड़ में शिशु-सदृश रक्षित हैं ये लताएं। सामने वह अश्वत्थ है। गोपीजनवल्लभ वासुदेव ने शैशव में इसी के पल्लवों पर शयन किया था। यह निकुंज—कुटीर है। बंस के अंकुरों से यह बनाया गया है। इस पर अशमतक (एक छोटी घास) का आच्छादन है। इसी से तो कुज-कुटीर में सदैव छाया, सदैव शीतलता और सदैव अधेरा रहता है।"

देवदत्त ने गौतमी की ओर देखते हुए धीमे-से कहा—"चलोगी कृशा, कुटीर देखेंगे।"

गौतमी ने आमंत्रण अस्वीकार नहीं किया।

"यशोधरे, तुम्हें मल्लिका के गजरे बहुत पसन्द हैं न। यह रही, उसकी लता। अपने अलिद में खड़ी, किसी आगतपतिका-सा है इसका परिवेश। इसकी शाखा-शाखा, टहनी-टहनी और डाल-डाल पर कलियाँ और फूलों का ज्वार आ रहा है, यह अपने पूरे यौवन पर है। सरोवर में खिले इन विविध कमलों की शोभा देखिए राजकुमारी। पद्म, सरोज, नीलोत्पल, पुण्डरीक, पंकज, जलज आदि की छवि का अवलोकन करो। सरोवर की तटीय-भूमि पर आम्र और महाशाल की यह सघन वनराजि नगर की किसी सभा-सी प्रतीत होती है। नारिकेल का यह एकान्त पादप इस तरह शून्य में खोया है मानो कोई विजनवासी, अचेल निर्ग्रन्थ समाधिस्थ हो। अश्वगंधा की क्यारियों के आसपास अपराजिता की गंध इस प्रकार वायु में वितरित है, जैसे किसी पर्यकवासिनी, प्रमत्ता के मुंह से उलझे-उलझे बोल निकल रहे हों और उसके साथ निकलती उसकी मुख-वास वायुमण्डल में फैल-फैल जाती हों और उस पर भी, पास में खड़ी यह जपावल्लरी जैसे अपनी स्वामिनी को मद की रीती प्यालिया भर-भर कर दे रही है।"

मैंने पूछा—"यशोधरा कुमारी, तुम्हें राजोद्यान की कौन-सी द्रुमवल्लरी प्रिय है?"

"मुझे तो सभी इष्ट हैं।"

"फिर भी?"

"यो, मंदार, मल्लिका, यूथिका, कचनार और पुण्डरीक मैं यथासमय मंगवाती हूँ।"

"मुझे तो अश्वत्थ या न्यग्रोध अच्छा लगता है, उसकी छाया में मन को जेसे शान्ति मिलती है।"

“लेकिन उस पर तो फूल नहीं लगते ।

“फूलों से क्या ? उसके सुकोमल पल्लव और शीतल छाया अन्यत्र कहाँ उपलब्ध है ?”

“यदि आप, अकेले अश्वत्थ के प्रति इतना राग रखेंगे, तो क्या उपवन के शेषान्य पादप-वल्लरियों का मन न दुखेगा ? यह विभेद कैसा ?”—यशोधरा के अधरोपर स्वल्प स्मिति आई ।

“बात भेद की नहीं । पसन्द की है । प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दृष्टि और अपनी पसन्द होती है । वैसे, मैं तो सभी पेड़-पौधों और लता-वल्लरियों में प्रवाहित प्राण-शक्ति को देखता हूँ । मैं मानता हूँ कि ये सभी गाछ उसी प्रकार जीव और जीवन-लीला से परिपूर्ण हैं, जिस प्रकार मनुष्य-जाति । किन्तु मनुष्य-जाति की अपेक्षा ये अधिक क्षमाशील और विनयवान हैं । हम इन्हें अपने स्वार्थ की पूर्ति के निमित्त, काटते-छाँटते, और तोड़ते-मरोड़ते हैं । इन्हें अपने परिजनों से दूर ले जाकर अनजाने भूमिक्षेत्र में रोप देते हैं, किन्तु क्या कभी ये कोप करते देखे गए हैं ?

“तुमने यूथिका के गुच्छों से अपनी घुंघराली अलको का मधुर शृंगार तो कर लिया, किन्तु क्या कभी सोचा—यूथिका की इन कलियों के बिखुड़ जाने पर, इनकी माँ, वह लचकी हुई वृद्धा शाख आसू बहा रही होगी । दुनिया कहती है कि कमल के पत्ते और फूल जल में नहीं डूबते । उसके पल्लव-दल इसीलिए बाहर रहते हैं कि पुष्प-चयन करने वाले अपने नयन खोलकर देख लें कि पंखुरियों पर अश्रु-बिंदु चमक रहे हैं । तुम चाहे उन्हें ओस, नीहार या शबनम कहकर बिसरा दो, लेकिन किसी को बिसरा देने से उसका अनस्तित्व तो प्रमाणित नहीं होता । लोक जब अपने ही हित-साधन में रत रहता है तो वह अपने मन को भ्रम के मायाजाल में लुभाए रहता है । यो, नास्तिक बन जाता है ।”

“अब लौट चले कुमार ।” छन्दक ने कहा—“कृशा और देव भी सैर से लौट रहे हैं ।”

हमने देखा, दोनों अदूर ही आ गए हैं । देवदत्त बुझे हुए दीप-सा मुखड़ाया हुआ है और कृशा गौतमी वृन्त-च्युता मुकुल की भाँति अस्त-व्यस्त है । अवश्य, दोनों जी भरकर लड़े-झगड़े हैं । लेकिन, कृशा की वेणियाँ खुली हैं और उसकी प्रलम्ब केशराशि उसके स्वरूप की तरह बिखरी-बिखरी है ।

वे और समीप आ गए । यशोधरा से आँखें मिलने पर कृशा मुस्कराई—परन्तु, हम सबने देखा, उसकी मुस्कान बहुत धुधली और फीकी-फीकी थी ।

माँ ने मेरा मुह देखा था और मैंने मा का मुह देखा था—मा के विषय में बस मुझे इतना ही याद है। वह तो मुझे सात दिन का छोड़कर चल बसी थी। कितना अभाग्या हूँ मैं कि मा को सुख न दे सका, उसके स्नेह का वरदान न पा सका। किन्तु, एक ही सप्ताह पय-पान कराकर, वह मुझे जीवन का अमृत दे गई और बदले में मेरे जन्म ने उसे क्या दिया—मृत्यु।

फिर प्रजापति गौतमी देवी ने मेरा लालन-पालन किया। और लोग कहते हैं कि वे मेरी सोतेली मा हैं परन्तु मैंने उन्हें सदैव अपनी मा से बढकर पाया। सोतेली मा भी ऐसी हो सकती है, मुझे आज तक विस्मय है। ज्यो-ज्यों उनका प्यार मिलता गया, त्यो-त्यो मेरा अचरज बढ़ता गया।

मेरे जन्म की कथा वे अच्छी तरह जानती हैं। उन्हीं से मैंने समस्त वृत्त सुना था।

एक साँझ, जब ग्रीष्मकालीन ऊष्मा कपिलवस्तु के राजमहलों पर मडरा रही थी और मेघ-भरे साँवरे-अनियारे बादल धरती से दूर बहुत दूर थे, मुझे व्यजन झलती हुई वे बोलीं—

“कुमार, ग्रीष्म के उपरान्त, कुछ ऐसे ही दिन थे। नवमी का शशि, अपनी बकिम झोंकी नभोमण्डल में एकत्र तारिकाओं को दिखला रहा था। गोकुल में रास के लिए एकत्र गोपिकाओं-सी नक्षत्र-केन्यायें अम्बर के आगन में उपस्थित थी। नगर में समारोह मनाया जा रहा था। हम सब खान-पान और राग-रग में विह्वल थे। आपान-गृह में ‘मुझे दो, मुझे पहले’ का कोलाहल था। सुरा और स्वर का अरोक प्रवाह बह रहा था, किन्तु महामाया जाने क्यों विरत प्रकृति लिये मौन थीं। वे समस्त लास-उल्लास से दूर अपने कक्ष में लेटी रही। लेकिन जब आषाढी पूनम का चांद मधुमक्खी के छत्ते की तरह आकाश की डाल पर झूल आया तो वे जाने कैसे अभित उत्साह से भर उठीं। गधित जल से उन्होंने स्नान किया। उसके पश्चात् दासियों ने उनका शृंगार किया। उस बेला वे हिमगिरि के प्रागण से भूलोक में उतरती देव-गंगा-सी लग रही थी। परिधानसज्जा के उपरान्त जब वे बाहर आईं तो उन्होंने चार लक्ष सुवर्ण मुद्राओं का दान दिया। उनके इस दान से लोकजन तुष्ट हो, आशीष देते हुए, अपने-अपने घर लौट गए।

आज महाराज भी स्वाभाविक हर्षातिरेक में थे। हम सबने शैवालिका के निरीक्षण में बनाए गए विविध व्यजन ग्रहण किए और जनपद कल्याणी अम्बिका का नृत्य देखा और चांद जब गिरे हुए सुरा-पात्र-सा ढल गया, तो हम अपने-अपने शयन कक्ष में लौट गए। मुझे याद है उस दिन मायादेवी ने आठ अनुव्रत लिये थे।

दूसरी भोर जब हम प्रातःकालीन जलपान के लिए राजभवन में एकत्र हुए तो देखा मायादेवी की पलके कुछ भारी थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उन्होंने रात एक

सपना यो, देखा है—

“मुझे ऐसा लगा कि चार देव-दूत आए हैं। वे अपने पख समेटकर मेरे पर्यंक के चारो कोने खड़े हो गए और उन्होंने मुझे पर्यंक सहित उठा लिया। क्या देखती हूँ कि मेरा पर्यंक हिमाचल के एक रमणीय स्थल पर रखा हुआ है। उस स्थल का नाम मनोशिला है। मेरे सिरहाने एक विशाल शाल वृक्ष खड़ा था। उससे परे देव-दूत एक ओर खड़े हो गए और तब उनकी पत्नी देवियां आईं और वे मुझे अनवतप्त (मान) सरोवर पर ले गईं। मुझे उन्होंने स्नान कराया और अमरो के विचित्र वेश पहनाए और स्वर्गीय सुमनों से शृंगार किया। अदूर ही एक रजत पहाड़ी थी। चादनी में उसकी चादी दुगुनी शोभा दिखा रही थी। उस झिलमिलाती उपत्यका की चोटी पर सोने का एक सुरम्य प्रासाद था। उसके एकान्त कक्ष में सुहावनी सेज बिछी हुई मैंने देखी। तूलिक पूरव दिशा की ओर था। मुझे उसी पर लिटाया गया। धीमे-धीमे मैं निद्रा लोक में चरण करने लगी। क्या देखती हूँ कि एक अति विशाल श्वेत गजराज आया है उत्तर के द्वार से। उसने अपनी रुपहली सूड से पुण्डरीक का एक सुनिर्मल सफेद सुमन तोड़ा और अति उत्साहपूर्वक उद्घोष किया मैं कुछ सहमी, मैं कुछ प्रमुदित हुई। उसने आकर मेरे पर्यंक के चारो ओर तीन बार परिक्रमा की, मुझे नमन किया और अपनी दाहिनी बाजू शय्या की ओर रखे, समीप आ गया। तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानों वह सुगौर गजराज मेरी कोख में प्रविष्ट हो रहा है। आगे मुझे सुध न रही और जैसे निद्रा में ही मैंने परिचायिका को पुकारा। देखती हूँ, भोर हां गई है और गेहू की पकी हुई बाली—सुनहरा सूरज सफेद अम्बर में ऊंचा चढ़ आया है।”

कुमार। राजमहिषी का यह स्वर्गीय स्वप्न सुनकर हम सब विस्मय में पड़ गए परन्तु सहसा मेरी बाई आख फड़कने लगी। शुभ शकुन होने लगे। रह-रहकर कोकिला की टेर सुनाई पड़ने लगी। मलय-मरुत् मद-मंद गति से चला। मैंने जलपान से बीच में ही उठने के लिए उपस्थितों से क्षमा मांगी और महाराज को एकान्त में ले जाकर अपना शुभ संदेह सुनाया।

महामंत्री को बुलवाकर हमने विचार-विमर्श किया। उन्होंने तत्काल वेगवान चर भेजकर शाक्य कुल के राजपुरोहितों और चौसठ तपस्वी महाब्राह्मणों को निमंत्रित किया।

अन्तःपुर में हम सब स्त्रियां ब्राह्मणों की अगवानी के लिए विविध तैयारियों में जुट गईं। दास-दासियों और सेवक समुदाय के इधर-उधर आने-जाने से काफी शोरगुल हो रहा था। चौसठ ब्राह्मणों का एक साथ आना साधारण बात न थी। समस्त कपिलवस्तु आनन्द की तरंग पर रमने लगा। तभी मैं चौकी, सब साथी और परिजन, अनुचर चौके ! एक अनन्त आलोक से लोक आलोकित हो उठा। कोटि-कोटि सूर्यो का प्रकाश भी जिसके सम्मुख जुगनू के प्रकाशवत् प्रतीत होता हो, ऐसा विराट प्रकाश भुवन भर में भर गया। दस सहस्र लोक धातु—ब्रह्माण्ड कांपने लगे। धरती रह-रहकर हिलने लगी। मैं एक परिचायिका के सग बाहर अलिद में आ गई, तो

देखती हू कि आकाश से दो जल-धाराएँ छूटकर धरती की ओर बड़ी आ रही हैं। मायादेवी भी बाहर थी। वे अपने उपवन के सुमनो का चयन कर रही थी। जब तक छाया में आएँ-आएँ तब तक वे पूरी तरह भीग गई। मानो उनका उदककृत्य, प्रक्षालन हो गया। कहने लगी गगन-गंगा-सी ये धाराएँ दो प्रकार की थी एक शीत और दूसरी उष्ण जल की।

तभी वासन्ती ने आकर कहा—“देवि, परमभागवत ब्राह्मण सिंहद्वार तक पधार गए हैं।”

अभिषद्-गृह में मैं और मायादेवी महाराज के पीछे-पीछे आई। वहाँ हमने इस बात की स्वयं जाच की कि विप्रवरो के लिए सभी प्रबन्ध यथोचित तो हैं न। नीचे सद्यस्नाता भूमि पर पल्लव बिछाए गए थे और उन पर चौंसठ चौकिया लगी थी। आगे बढ़कर हमने ब्रह्म-समुदाय को नमन वन्दन किया। गगोदक से पाद-प्रक्षालन किया और आसन ग्रहण करने का निवेदन महाराज ने किया, तब स्वर्ण रजत थालियों में खीर आदि व्यंजन परसे गए। अनेक प्रकार की दान-दक्षिणा द्वारा महाराज ने ब्राह्मणों को परितृप्त किया और तब उनके पैर दबाकर कष्ट के लिए क्षमा मागते हुए बोले—‘परब्रह्म, धन्य है मेरे भाग्य, आज आपके पुनः दर्शन हुए। एक लघु निवेदन है। उस पर आपका विचार हम सब जानना चाहते हैं।’

ब्राह्मणगण से अनुज्ञा प्राप्त कर महाराज ने मायादेवी का सारा सपना कह सुनाया। सुनकर ब्रह्मराज विचारपूर्वक अपनी अभिज्ञा से कहने लगे—‘राजन्, चिन्ता न कीजिए ! महारानी मायादेवी गर्भवती हुई है। शुभ मुहूर्त पर वे एक अति तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म देंगी। एक ऐसा पुत्र—जो यदि गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होगा तो, आसिन्धु-वसुन्धरा का चक्रवर्ती सम्राट् होगा और यदि वह इस असार ससार से विमुख होकर विरागी हुआ, तो मुक्ति उसके चरणों में शरण लेगी—वह सम्यक् सम्बुद्ध होगा। विश्व के समस्त ताप-शाप का शमन करेगा और युगान्तरों तक धरित्री उसके पुण्य प्रताप से चमत्कृत हो शान्ति प्राप्त करती रहेगी, राजन् वह पुण्य का प्रचण्ड-पावन प्रवाहित करेगा और पाप की मेघमाला तथा अज्ञान के अमोघ अंधकार को नष्ट करेगा।’

महाराज ने अपनी शका का निवारण किया—‘प्रियवर ! भावी शिशु की महत्ता के प्रमाण में अपने दिव्य चक्षुओं से आप कोई लक्षण भी देख रहे हैं ? मेरी धृष्टता क्षमा करें योगीश्वर !’

बोले वे सन्यस्त—‘हम ही नहीं देख रहे हैं। सारी धरती और उसके प्राणी देख रहे हैं। जरा मेंर पीछे प्रासाद के वातायन में आकर देखो।’ हम अनुगामी बने। वातायन में आकर देखा, विस्मित रहे। फिर से विप्रवाणी गूँजी—

‘देख रहे हो राजन्, राजकुल परिजन। बत्तीस मंगल शकुन अपनी आंखों अच्छी तरह देख लो—समस्त जम्बूद्वीप और वसुन्धरा में अनन्त ज्योति प्रकाशित हो रही है। नेत्रहीन अंधे भी देखने लगे हैं, मानों उनके मन में भावी बुद्ध के दर्शन की अभिलाषा

जगी है, और उसके कामना-वेग से उनके लोचन खुल गए हैं। देखो राजन्, बधिर जन सुनने लगे हैं, मानों करविक पंछी-सा उसका कलरव सुनने को ये आकुल है। गूंगे बोलने लगे हैं। कुबड़े आनन्दोल्लास के अतिरेक से तनकर सीधे खड़े हो गए हैं। और विस्मय है पगु-जन गहन गिरिवनो पर चढ़ने लगे हैं। धरती के समस्त दियों की शृंखला-कडिया रज्जुवत टूट गई हैं। तुम तो नहीं देख सकते शाक्य परिजन, परन्तु मे देख रहा हूँ नरक की समस्त ज्वालाएं बुझ गई हैं और नारकीय प्रहरी भयभीत हैं। महाराज, पाप अपने पलायन में शरण स्थल खोज रहा है। क्षुधा और तृषा का शमन हो रहा है। बनेल पशुओं का पशुत्व ढल रहा है। देखो-देखो ! शाक्यधन, तुम्हारी प्रजा के रोग-शोक गल रहे हैं। सभी मनुष्यों के मन में करुणा की किरण कोर जगी है। तुम्हारे आल्यों में गजराज चिंघाड़ रहे हैं और घोड़े अपने खुरों से भूमि को खोदते हुए हिनहिना रहे हैं। इनकी भाषा तुम नहीं समझते। वे भावी मंगल के शुभागमन पर अपना उल्लास प्रकट कर रहे हैं।’

तभी दो परिचारिकाएँ दौड़ती हुई आई और बोली—‘क्षमा हो देव, राजकीय वाद्य-यंत्रालय सूना है, परन्तु वहाँ रखे समस्त वाद्य स्वतः मधुर सुरों में बज उठे हैं। ढोल और मृदंग अपना गम्भीर घोष प्रकट कर रहे हैं और तत्रियों के तार-तार से स्वर्गिक झंकार उठ रही है। विराम लेती हुई राज-नर्तकियों के मुखर पायलों ने अचानक वज्रकर, उन्हें जगा दिया है। वे कहती हैं, हमारे पदों में नृत्य की गतियाँ भर गई हैं, नाच लेने को मन अकुला रहा है।’

‘देखते हो राजन् ! इन महिषियों और सेविकाओं के आभूषण स्वयं मुखर हो उठे हैं। ककण का रन्-रन् किंकिणियों की रिन्-रिन् और नूपुरों की रुन-झुन, यह भावी चक्रवर्ती के जन्म की द्योतक है। मैं देख रहा हूँ, स्वर्ग और धरा में ऋतुराज पधारें हैं, सुगन्धित मलय बह रहे हैं और आज अचानक देखो मेघपरिया अवनी के आगमन में उतर आई है। भूमि की गहन परतों के नीचे बहता हुआ जल मिट्टी की सागी सघनता को छेदकर, धनुष से छूटे वाण की तरह बाहर निकल आया है। कितने-कितने स्रोत बह रहे हैं ! पंथियों ने उड़ना बंद कर दिया है और नदियों का प्रवाह रुक गया है। तुम्हें कैसे प्रतीति हो महाराज, सागरों ने अपने जल का स्वाद बदल दिया है। उन्होंने अपना सारा खारापन छोड़कर मधुरता अंगीकार की है। यह अन्तहीन धरती पंचरंगी पद्म प्रसूनों से महक उठी है। जल-थल की सभी कलिया खिल गई हैं। वृक्षों के धड़ पर उगने वाले कमल और शाखा कमल प्रस्फुटित हो गए हैं। अंगूर कमल की वल्लरिया पुष्पो से, मूल से शिखा तक, भर गई है। कठोर चट्टानों को भेदकर गहन पातालों से सुगन्धित कमल बाहर आ गए हैं। वह देखो, सामने की पथरीली उपत्यका के ऊपर सात-सात के गुच्छों में वे लहरा रहे हैं। गगन-मण्डल से भी कमल-कुसुमों के वृन्त वायु में झूल रहे हैं। दिशा-दिशा में पुष्पो की वर्षा हो रही है। मैं सुन रहा हूँ स्वर्गीय सगीत और दस सहस्र लोक सुमन-वर्षा से परिपूरित और सज्जित ऐसे प्रतीत होते हैं मानों दिव्य और भव्य प्रसूनों का अति

उच्च गिरिवर हो। फूल...फूल...फूल .गंध-परागमय फूल, ये केसर कुसुम, ये कमल कुसुम।’

“और कुमार ब्राह्मणों के वचन कई दिनों तक हमारे श्रवणों में गूँजते रहे।”

इतना ही वोलों उस दिन महामाता प्रजापति देवी।

कथा है कि जब मैं बोधिसत्व, मा की कोख में आया तो चार देवपुत्र चारों दिशाओं के प्रतिनिधि रूप में, मा की रक्षा के लिए आए। वे रात-दिवस पहरा देते कि कोई मनुष्य या अमनुष्य माता को पीग न दे। लक्षण है कि जब बोधिसत्व कोख में रहते हैं तब माता प्रकृति-रूपेण शीलवती होती है। हिंसा उसे छूती नहीं। दुराचार उसकी ओर देखते नहीं। मिथ्या भाषण से वह मुक्त रहती है। मादक पदार्थों का सेवन उसे सुहाता नहीं। परम शीलवती होती है वह कि परपुरुष की ओर उसका अन्तर आकर्षित नहीं होता और वासना के स्वप्न उसके चित्त को भ्रमित नहीं कर सकते। परन्तु वह पाच पुण्य भोगों से समर्पित और सेवित रहती है। उसे कोई रोग-शोक उत्पन्न नहीं होता। वह पूर्ण स्वस्थ रहती है और चाहने पर बोधिसत्व को यानी भावी बुद्ध को—सभी अंग-प्रत्यंग (अहीनेन्द्रिय) सहित देख सकती है, जैसे उत्तम जाति की, अष्ट-कोण वाली शुद्ध, अमल और सर्वाकार सम्पन्न वैदूर्यमणि हो और किसी कुशल कारीगर के हाथों उसमें उजला, नीला, पीला, अरुण या श्याम सूत्र डाला जाए और उसे कोई पारखी अपने हाथ में लेकर देखे, कहे, यह वैदूर्यमणि है, इसमें अमुक रंग का सूत्र है—यां, देखती है भावी बुद्ध की माता अपने पुत्र को। लक्षण है कि बोधिसत्व के जन्मोपरान्त माता मरकर तुषित देवलोक में उत्पन्न होती है।

और जैसे अन्य स्त्रियाँ बैठी या सोई रहकर प्रसव करती हैं, वैसे बोधिसत्व की माता नहीं करती। वह पूरे दम महीने बोधिसत्व को कोख में रखती है और समय पर खड़ी-खड़ी प्रसव करती है, कोख से बाहर आने पर भावी बुद्ध को पहले देवता झेलते हैं, पीछे मनुष्य अपने हाथ में लेते हैं। और यह तो सब जानते हैं कि बोधिसत्व कांख से निकलकर पृथ्वी पर गिरने नहीं पाते, चार देव पुत्र उन्हें झेल लेते हैं। और जनेता के सम्मुख रखकर यह निवेदन करते हैं—‘प्रसन्नता आपकी सौगुनी हो धन्यभागे। बड़े ही भाग्यवान् पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ है।’ जब बोधिसत्व जननी की कोख से बाहर आते हैं तब सर्वथा शुद्ध होते हैं। किसी प्रकार के जलीय, द्रव या तरल पदार्थ से लिप्त नहीं होते, अलिप्त रहते हैं। जल से अलिप्त, कफ से अलिप्त, रुधिर से अलिप्त और सभी अशुचियों से अलिप्त रहते हैं वे। कहते हैं, जैसे काशी के सुन्दर वस्त्र में कोई मणि-रत्न लपेटा हुआ हो, तो, न तो, वह मणि-रत्न वस्त्र में चिपट जाता है, और न वस्त्र ही उस मणि में चिपट जाता है, इसी प्रकार बोधिसत्व माता की कोख में रहते हैं और निकलकर भी अलिप्त रहते हैं। ऐसा क्यों ? कारण शुद्धि है।

मैंने यह भी सुना है—‘जब बोधिसत्व जन्म लेते हैं तो, मां की कोख से उत्पन्न होते ही सासारिक मनुष्यों की तरह नहीं रहते। वे तो तुरन्त पैरों पर खड़े हो जाते हैं और उत्तर दिशा की ओर मुह करके सात कदम चलते हैं अन्तहीन श्वेत अवदात

छत्रछाया के नीचे, सभी दिशाओं का दर्शन करते हैं और इस पवित्र वचन की घोषणा करते हैं—

“इस लोक में मैं सर्वश्रेष्ठ हूँ। इस लोक में मैं सर्वाग्र हूँ। इस लोक में मैं सबज्येष्ठ हूँ। और यह मेरा अन्तिम जन्म है। अब मेरा पुनर्जन्म नहीं होगा।”

9

ग्रीष्म की देवी के पुनरागमन की वेला थी। सघन अमराइयो में, कांयल विगत दिवसा की याद में कुहुक-कुहुक उठती थी और ज्यों-ज्यों पिछले स्वप्न मुखर हो उठते थे, त्यों-त्यों उसके कट का पचम अधिक वैचैन और सुरीला बनता जाता था। प्रजापति देवी उसी दिन कहने लगी—

“कुमार, कपिलवस्तु के आसपास वनों-उपवनो में वृक्ष-वृन्दों पर मानो अभिनव वसन्त लहरा रहा था। मेरी खिड़की के नीचे, मदार वल्लरी नये फूलों से दुलहन की तरह सजी थी। नीम के पेड़ पर नव पल्लव फूट रहे थे, जिस प्रकार आश्विन के मेघ-रहित अम्बर में तारक अकुर फूटते हैं ! वरगद अपनी विशालता की सीमा को भूलकर छाया का सर्वस्व समेट लेना चाहता था। पीपल, पलाश और पाकर के पेड़ों में पुराने पत्ते छोड़ दिए थे, जैसे ज्ञान उदय होने पर मनुष्य पुराने सस्कार और सताप छोड़ देता है उसका मन भुक्ति की प्रत्याशा में खिल उठता है और वह अपनी एकाग्र तन्मयता में बाह्य को भूलकर अन्तरस्थ हो जाता है। बिल्व फलकर पक्वावस्था को प्राप्त हो रहा था, जैसे विद्या के फलने पर साधक ज्ञान की परिपक्वता पाता है।

गहरी गोलाई, सफेद तना, घने-घने हरे पत्ते और उनके समूह में झांकती सफेद-सफेद शाखाएँ—जैसे हरित साड़ी में किसी गोरी का गौर बदन झिलमिला रहा हो, ऐसा था वह जामुन का पेड़। फल उसके पकने लगे थे, पर अभी गहरा श्यामल रंग न चढ़ा था, हा गहरे लाल जरूर हो चले थे वे, जैसे सुहाग की प्रथम मिलन रात्रि में नवपरिणीता का रंग-रंग खिलता है और अंग-अंग रस से भरकर, लाज से भीगकर, लज्जारुण हो जाता है।

इन दिनों तुम मायादेवी के गर्भ में थे और वह अपने भावी सुत को गर्भ में इस प्रकार धारण किए हुए थी, जिस प्रकार किसी पात्र में तेल रहता है। दस-महीने पूरे होने आए थे। कुछ दिवस पश्चात् उन्हें अपने मायके की याद आई और वे नेहरू लौटने के लिए व्यग्र हो उठी। महाराज से बोली—“स्वामि, मैं देवदह जाना चाहती हूँ।”

“अवश्य जाओ रानी—महाराज ने उत्तर दिया—अपने शरीर का ध्यान रखना। तुम सदैव ही अपने स्वास्थ्य के विषय में अचिन्त रही हो, तुम्हारी अनुपस्थिति में मेरी फिक्र बढ़ती जाएगी। ईश्वर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करे।”

इस वार्तालाप के कुछ दिन पश्चात् अन्त पुर की स्त्रिया नगर बाहर तक पटरानी को पहुँचाने गई थीं। महाराज ने देवदह तक साग मार्ग नए सिरे से बनवा दिया था और उसके दोनों ओर छबीले छायादार वृक्ष लगवा दिये थे। ऐसे वृक्ष जो साधुजनों की क्षमा और करुणा के समान सदैव, प्रतिकाल छाया देते रहे। ठोर-ठोर पर धातु और मिट्टी के कलशों में कदली-गाछ लगाए गए थे और स्थान-स्थान पर तोरण तथा ध्वज-पताका फहरा रहे थे।

जब नगरोद्यान के निकट मैंने महारानी मायादेवी के संग विदा ली, तब पूर्व दिशा में उषा अपने रतनारे नेत्र खोल रही थी। उनकी कचन पालकी के पीछे राजपरिवार के एक सहस्र अग-रक्षक योद्धा थे। उनके भी पीछे पदाति सेना के पाँच सहस्र सशस्त्र सैनिक थे।

कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक अति रमणीय और मनोहारी उपवन है। लुम्बिनी उसका सुनाम है। दोनों नगरों के मध्य स्थित होने के कारण दोनों के नागरिक उस पर समान अधिकार रखते हैं। इस उद्यान की शोभा का वर्णन मेरी शक्ति से बाहर है। उसका दिग्दर्शन तो तुम्हें अपना कवि मित्र जनश्रुत ही करा सकता है। यहाँ विशाल-शालवन है। उस बेला लुम्बिनी का काना-कोना फूलों से लदा पड़ा था। धरती से लेकर तरुजाओं के शिखरों तक पुष्पाँ की लडियाँ झूल रही थीं। दल के दल मधुकर उन पर मड़रा रहे थे और समस्त उपवन-क्षेत्र पंछियों के सरस स्वरो से गूँज रहा था। मंजरियाँ महक रही थीं। विहग कन्याएँ चहक रही थीं।

इस सुरम्य स्थली की छवि से रानी विमोहित हो चली और मुझसे बोली—‘प्रजा, मैं कुछ देर यहाँ विराम लूँगी।’ मैंने उत्तर दिया—‘जीजी, जैसी तुम्हारी इच्छा, मैं अभी पालकी रुकवाती हूँ और संघ के अधिनायकों को आदेश-संवाद भेजती हूँ।’ मैंने पालकी के रूपहले, सुनहले और लाल रेशमी पर्दे हटाकर परिचारिका शैवाली को पुकारा। वह बैठी दूसरी पालकी में ऊँघ रही थी या जाने दिवास्वप्न देख रही थी...इतना कह प्रजापति देवी साँस लेने को रुकी। अब तो उनकी आयु भी काफी हो गई थी और स्वास्थ्य ने भी साथ छोड़ दिया था।

दो-एक गहरे श्वास लेकर वे बोली—कुमार, शैवाली को ऊँघती देख, मैंने दूसरी दासी को बुलाया। किन्तु तुम शैवाली से यह सब न कह देना, वरना वह मेरे सिर हों जाएगी। जितनी ही वह अकपट है, उतनी ही वह टेढ़ी भी है।

लुम्बिनी के इस शालवन में विराम लेती माया दीदी ने एक महाशाल तरुवर की सुकोमल टहनी थाम ली और वह शाख भी इस प्रकार झुक आई जैसे उसे पहले से ही किसी ने पट्टा रखा है। डाली का छूना था कि उन्हें दोहर की पीड़ा होने लगी। हम जान गई कि कपिलवस्तु के सौभाग्य का प्रादुर्भाव होने वाला है।

दामियों में दौड़ मच गई। परिचारिकाओं ने आवरण की ओट की। आकाश से अजस्र पुष्प-वर्षा होने लगी और आकाशवाणी हुई...क्या हुई। सो तो, मुझे स्मरण न रहा।

मैं जानता हूँ, प्रजामाता आकाशवाणी का कथन जानबूझकर टाल गई, क्या कि वह मेरे भावी से सम्बन्धित था। उस भावी से जो राजपरिवार के लिए अवांछित था।

फिर कहने लगी—‘कुमार बड़ी ढेर हुई, कुछ खा-पी लां।’

मैंने मना कर दिया। वे मेरी कथाप्रियता जानती थी सो उन्होंने अधिक आग्रह न किया और यों प्रसंग-भंग भी न हुआ—

तब नन्हें-मुन्ने मेरे हाथों में आए। ओह कितने कोमल, कितने भीले, कितने प्यार। मैं तो बार-बार अपने वेटे का मुँह चूमती रही और मानों दुनिया को भूल गइ। बेचारी माया कुछ थक गई थी। उसका चेहरा फीका पड़ गया था और हाँठ कुछ सफेद होकर सूख चले थे। लेकिन, जब उन्होंने करवट बदली और पहली बार तुम्हारा मुख देखा, तो पल-भर में वदन की विगत अरुणिमा लौट आई और अधर भी उतने ही अरुण हो गए जितने कि हमारे व्याह के दिन थे।

वेग में विद्यु को लजाने वाले अश्वों पर सवार होकर संवाद-वाहक कपिलवस्तु की ओर दौड़े। आन की आन में महाराज के कान पर कपिलवस्तु के युवराज-जन्म की वार्ता पहुँची। परम भट्टाटक राजसभा में बैठे थे, उसी वेश-भेष में दौड़े आए। राजधानी के उछाह का पारावार अपार था।

और मैं तो भूल गई कुमार। जानने हो, जन्म-उपरान्त तुम सात पग चलें थे, और जितने नटखट अभी हो उतने ही तब थे। उसी दिन तुमने पुकारकर कहा था, मानो विश्व-विजय की घोषणा कर रहे हों—‘मैं समस्त समार में प्रमुख हूँ। मैं मुक्त हो, मुक्त करूँगा।’ लोगो ने कहा, ऐसे शब्द तो महौषध और वेस्सन्तर ही पहले बोले हैं। और उस दिन चौंसठ ब्राह्मणों ने जो प्रकृत लक्षण प्रत्यक्ष दिखलाए थे, आज पुन उसकी पुनरावृत्ति हुई।”

इस संवाद को सुने आज कितने युग बीत गए, पर मुझे तो अक्षरशः याद है। बेचारी प्रजामैया। कितनी निरीह, निरामय और स्नेहशील थी वे। अपनी कथा की समाप्ति के पूर्व दो-एक बातें ये भी उन्होंने बतलाई थीं—‘सिद्धार्थ, तुम अपनी मा के जैसे हो। वैसा ही रूप-रंग आकार-प्रकार। तुम राजा बेटा बनना, और बड़े होकर जब सिंहासन पर बैठो तो सबका समान रूप से पालन करना।’

शैवालिका ने इसके बाद की बातें मुझे बताई थी—‘कुमार जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ था ठीक उसी दिन यशोधरा कुमारी भी जन्मी थी। छन्दक और कालउदायी का जन्म भी उसी मुहूर्त में हुआ था। अश्वराज कन्धक, जो तुम्हारा सबसे प्रिय अश्व है, उसी वेला में प्रकट हुआ। और बोधि महावृक्ष तथा महाकोष भी उसी शुभ दिन प्रकाशित हुए थे।’

कहते हैं, कपिलवस्तु और मेरे ननिहाल देवदह के निवासी दोनों मिलकर, मुझे और अम्मा को आनन्द-उत्साह के साथ लुम्बिनी से राजधानी के प्रासादों में ले गए थे। परन्तु मा का जी तो उसी दिन से खराब रहने लगा, स्वास्थ्य उनका गिरने लगा।

आज मैं सोचता हूँ, मेरे जन्म लेने से मेरी जनेता को क्या भिला ? मन में आज भी एक आवसाद है कि मैंने जीवन में सब कुछ किया, परन्तु एक माँ की सेवा न कर पाया।

10

तेजोदीप्त वदन। लम्बे श्वेत केश। घुटनों तक प्रलम्ब बाहु। एक हाथ में कमण्डल। पैरों में खड़ाऊँ। तलाट पर प्रचण्ड तिलक। रोम-रोम सफेद हो चला है। आयु का हिसाब न तो इसके पास है और न देवों को ही ज्ञात है। भूत, भविष्य, वर्तमान, पृथ्वी, पाताल और अंतरिक्ष में से ऐसा कोई काल और लोक नहीं जहाँ इस तपस्वी की गति न हो। विश्व के वृत्त पर शताब्दियों के सुमन झरकर गिर गए, किन्तु काल का कोई झझानिल इसको उड़ा न सका।

मृत्यु इससे भयभीत थी। काल इसका क्रोध देख, कांपता था। जीवन इसकी शरण में सुरक्षित था। जिस प्रकार सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर, वटराज के विशालकाय पर नवीन जड़-मूल झूलते हैं। उसी प्रकार इस सिद्ध पुरुष के तिर पर मर्ममली जटाएँ झूम रही थीं।

इसका नाम है कालदेवल। मनुष्य और देवता दोनों इसके साथी हैं। मनुष्यों का राजा शुद्धोधन और देवों का राजा शक्र दोनों इसके मित्र हैं।

देवों की नगरी। महर्षि का भोजन हो चुका था। दोपहर की झपकी जब लेने लगे, तो नूपुरों और मृदंग की ध्वनियों ने कालदेवल के विश्राम में विघ्न पहुंचाया। ऋषि उठ खड़े हुए और एक देव से पूछा—‘क्यों रे, यह शोर कैसा हो रहा है ?’

‘नहीं जानते महाराज, मृत्युलोक में, नरो के राजा शुद्धोधन की रानी देवी ने एक पुत्र का प्रसव किया है।’

‘तो इसमें हमने-चिल्लाने और गाने-बजाने की क्या बात है ? प्रतिदिन ऐसे प्राणी पैदा होते हैं।’

‘‘नहीं महाराज ? यह बालक असाधारण है। भविष्य में वह बोधिवृक्ष की छाया में बुद्धत्व प्राप्त करेगा और ससार के समस्त प्राणियों को सत्य और अहिंसा, क्षमा, शांति, मैत्री और करुणा का सन्देश देगा। वह प्रथम बार मनुष्य के स्वरूप को बदलकर हिंसा से अहिंसा की ओर ले जायेगा। मनुष्य तब यह स्वीकार करेगा महाराज कि जीवन इसी का नाम नहीं कि आप स्वयं जीवित रह ले, प्राणीमात्र के जीवन की रक्षा और उसके प्रति करुणा-भावना, मैत्री-भावना और प्रेम-भावना रखना भी आवश्यक है। उसकी गति में, उसके प्रत्येक पद से भूलोक में क्रांतियाँ जन्मेंगी और परिवर्तन के भूचाल आएंगे। उसकी दृष्टि से करुणामृत का वर्षण होगा और उसके प्रत्येक संकेत से शांति का स्रोत बहेगा। वह बहुजन के कल्याण और बहुजन की शांति के

नमिन्न प्रचरण करेगा। लोक जीवन वैराग्य साधना आर सिद्धि साफल्य के क्षेत्रों में वह नव-नवीन परिवर्तन लाएगा।

सक्षेप में वह आसिन्धु-वसुन्धरा पर धर्मचक्र परिवर्तन करेगा। उसके द्वारा प्रवाहित मुक्तिधारा युग-युगान्तरीय तक मानव-मन के कल्मष का प्रक्षालन करती रहेगी, पाप के प्रपञ्चों से और काल के वक्र-चक्र के कारण भले यह धारा दुबली होकर ओझल होती प्रतीत हो परन्तु कभी मिट न सकेगी। समय पाकर जिस प्रकार तरुवर फलत-फूलत है और जीर्ण-शीर्ण पत्तों को लज्जर नवाकुर उपजाते हैं, उसी प्रकार देव और मानवों के इस सिद्धि-अर्थ तरुण की मुक्तिधारा प्रतिफल नवजीवन और शक्ति पानी रहेगी।

‘अरे देव, तू आज मुझे इस दोपहरी में भी विश्राम न लेने देगा। अब मुझे कपिलवस्तु जाना पड़ेगा, ऐसा प्रतीत होता है।’

जल्दी-जल्दी महर्षि कालदेवल ने अपना उत्तरीय संभाला। कमण्डल उठाया। मुह पर पानी के दो छीटे दिए। और मुह और दाढ़ी के वालों में उलझे जल-बिन्दु पोछे बिना ही वेगपूर्वक वे हिमगिरि के आगम में उतर पड़े। हिमवान के पहरुओं ने और उस अन्तहीन प्रदेश में तपस्या करने वाले साधुओं ने कालदेवल को यों बिखरे-बिखरे, भागे-भागे जाते देख अनुमान लगाया कि हो न हो आज धरा पर दाल में कुछ काला है। हिमगिरि के शृंगों की वर्फानी चोटिया पिघलकर जैसे किसी देव शिशु के चरण धोने को आकुल, चल पड़ी हैं।

साधुओं ने, पहरुओं ने पूछा—‘अरे महाराज, जरा सुनिए, ऐसी जल्दी में कहा जा रहे हैं?’

लेकिन कालदेवल को इतनी फुरसत कहा थी कि इन बेकार के लोगों की बातों का उत्तर देते। उत्तर न पाकर पीछे से धीमे ये लोग बोले—‘बुढ़वा सठिया गया है। देखो न, इस भरी दोपहरी में ऐसे भाग रहा है, जैसे कहीं आग बुझाने जा रहा हो।’

खड़ाऊ की खट्-खट् सुनते ही शुद्धोधन के दरबारी, सभासद, प्रहरी, मन्त्री, रानिया और दास-परिचारक चौंके। सम्राट् ने पैरों में पड़कर कहा—‘राजर्षि, बड़े अच्छे अवसर पर आए। मैं बारम्बार तुम्हारा ही स्मरण कर रहा था।’

हर्ष-विभोर राजन्य को पुत्र-जन्म का सवाद देने की सुध न रही।

तब महामन्त्री ने आगे बढ़कर कहा—‘महर्षि, आज पट्टमहिषी मायादेवी के महलो में युवराज का जन्म हुआ है।’

‘मैंने सुना है, तभी तो, मैं इस असमय आया’—

कालदेवल का सास चढ़ रहा था—‘मैं शिशु को देखूंगा, जल्दी करो।’

मन्त्रीगण दौड़े। अन्त पुर में सवाद गया। रानियों ने आरती के थाल, पत्र-पुष्प, कद-मूल सजाए। लेकिन जब ऋषि आए, तो सबको परे हटाकर, अपना पथ बनाते निकल गए—‘अभी समय नहीं है।’

नवजात शिशु को स्थायं महाराज शुद्धोधन ने लाकर तपस्वी के चरणों में रख

दिया। परन्तु, बालक के पैर, अपनी ओर झुके हुए तपस्वी की दाढ़ी पर जा लगे। तुरन्त ही तपस्वी उठा और हाथ जोड़, गद्गद कण्ठ से जय-जय और धन्य भाग्य पुकारता हुआ शिशु के चरणों को बार-बार सिर माथे पर लगाने लगा।

ऋषि के बहते हुए अश्रु, शिशु का पैर उठाना और तपस्वी-वन्दना का यह दृश्य देख राजा और परिजन चकित हो गए।

‘क्या बात है महाराज ?’ राजा ने हाथ जोड़कर पूछा—‘आप इतने विहल हो रहे हैं ? ओर इस शिशु की यह वन्दना !’

‘अरे शुद्धोधन, तू नहीं जानता तो चुप रह। मैं इसे प्रणाम न करूँ, तो क्या अपने सिर के सात टुकड़े करवाऊँ ?’

इसके पश्चात् कालदेवल ध्यान मग्न हुए। उन्होंने पूर्व के चालीस, और भावी चालीस—ऐसे अस्सी जन्मान्तरो का वृत्त और इतिहास दिव्य दृष्टि से देखकर, जान लिया, अवश्य यह छोकरा बुद्धत्व को प्राप्त होगा। मुक्ति इसकी चरण-रज लेगी। निर्वाण हाथ बाधे इसका अनुचर होगा। अप्रकट उन्होंने कहा—‘कैसा सौम्य व्यक्तित्व है इसका !’

और कालदेवल अपने पोपले मुह से मुस्कराया, जिसमें नए दंताकुर आ रहे थे।

उपस्थितजन शिशु और कालदेवल पर अपनी दृष्टि लगाए थे। कालदेवल की दृष्टि शिशु पर थी और प्रजा की दृष्टि कालदेवल पर थी। कालदेवल ने सोचा—‘यह शिशु बड़ा होकर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। परन्तु तब तक क्या मैं भी जीवित रहूँगा ? काल कब से मुझे खाने को आतुर है। कई बार छल-कौशल से उसने यत्न किए। कई बार प्रार्थना की उसने। शरीर का धर्म, तो मुझे निभाना ही पड़ेगा। आज नहीं कल ? परन्तु क्या एक लम्बी अवधि तक मैं जी सकूँगा। जबकि यह शिशु बुद्ध बनेगा ?’

त्रिकालज्ञ तपस्वी ने ध्यान से जाना—अरे, तब तक तू जीवित न रहेगा। यात्रा की समाप्ति निकट आ गई है। पथ का अन्त समीप है। चलते-चलते आज मंजिल अशेष हो गई है। सब रहेंगे, अरे, तू अकेला न रहेगा !...

सहस्राब्दियों की आयु व्यतीत करके भी कालदेवल के मन में ‘कुछ ही वर्ष’ और जीने की ललक, पिपासा बन गई। हाय रे अभाग्य मनुष्य ! जितना जीता है, उतना मरने से मुकरता है। शताब्दियां देखी, पर तेरे मन में दो-तीन दशाब्दियां देखने की प्यास अपूर्ण रह गई। अब यही प्यास लेकर मरना पड़ेगा, और मरते-मरते प्यास जो रह जाएगी तो मुक्ति कैसे मिलेगी ?’

बालक के बुद्ध बनने से पूर्व ही, अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु का चलचित्र देख कर, तृषा, ग्लानि, निराशा, पश्चात्ताप और प्रलोभन की पीर से कालदेवल का हृदय-रत्नाकर उद्धेलित हो उठा। उनकी आखें मिचमिचाई, होठों में स्फुरण हुआ, हाथ-हथेलियां कांपी, जटा और श्मश्रु के केशों में प्रकम्प छाया और फफक-फफक कर वे रो उठे। महाराज शुद्धोधन घबराकर, उनके चरणों में बैठ गए और धीरे-धीरे

उनके पैर दबाने लगे। रानियां व्यग्र हो उठी। प्रस्तुत जन-समुदाय चित्र लिखित-सा रह गया।

कालदेवल का यो फूट-फूटकर गेना असाधारण बात थी। देव, गधर्व, यक्ष, किन्नर, असुर, जड, चेतन, नर, नारी, किसी ने उन्हें आज तक विसूरते नहीं देखा था। आज वही महामानव इस मगल-वेला में, इस उल्लास के आयोजकों की भावना का ख्याल न कर, यो, शकुन विगाड़नेवाली कर्कशा की तरह विलख रहा था। दुर्मना व्यक्ति मन-ही-मन कहते थे, यह बुढ़ऊ अभी तो पोपले मुंह से मुस्करा रहा था, अभी फूटी आंखों से आसू बहाने लगा।

‘देवर्षि, कुछ कहिए तो। शिशु को कोई अशुभ होगा?’

‘नहीं राजन्, स्वयं काल भी इसका बाल-बाका नहीं कर सकता। निःसंदेह यह बुद्ध बनेगा।’

मन्त्री बोला—‘यह तो प्रसन्नता की बात है, कि यह बुद्धि का धनी होगा। फिर आपकी आंखों ने अशु क्यों आए?’

‘मन्त्रिगण! भोले हो, जब तक यह बुद्ध बनेगा, तब तक मैं इस भाग्यशालिनी भूमा पर न रहूंगा। दर्शन-लाभ न ले सकूंगा। अपनी इसी हानि का खेद मुझे रुता रहा है।’

राज-समाज की समझ में कुछ न आया।

‘अधिक भू-देव ब्राह्मणों से पूछो।’—इतना कह, कालदेवल अपने लोक चले गए।

मने यह कथा, जब मैं वारह-तेरह वर्ष का था तब सुनी थी। मुझे सोया जान, शैवाली की माँ एक नई सेविका को पिछला हाल सुना रही थी।

शैवाली की माँ से नई सेविका ने जब पूछा—‘कालदेवल के यह कहने पर कि अधिक ब्राह्मणों से पूछो। सम्राट् ने क्या किया, आर्य?’

शैवाली की माँ बोली—

‘कालदेवल के जाने पर महलों में राग-रग का वातावरण छाया रहा। पाचवा दिवस नवजात शिशु के नामकरण का दिन था।

बड़ी धोर ही राजप्रासाद का प्रक्षालन किया गया और अनेक सुगन्धित द्रव्यों का छिड़काव हुआ। स्थान-स्थान पर आम्रतोरण और पुष्पहार सजाए गए। पचपुष्पो की वह सज्जा देखते ही बनती थी। स्वादिष्ट व्यंजन भू-देवों के लिए तैयार करवाए गए थे, इनमें सुस्वादु खीर प्रमुख थी। नियत समय पर एक सौ आठ वेदज्ञ ब्राह्मणों की अभ्यर्थना की गई। ब्राह्मणों ने शिशु कुमार के शरीर के लक्षण देखे। ज्योतिष और काल विचार किया। गणना देखी। इसके उपरान्त ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आठ ब्राह्मणों—राम, धज, लक्खन, मत्ती, भोज, सुयाम, सुदत्त, और सबसे छोटा कौंडिन्य, बोले—‘राजन्, प्रसन्न हों। आपका पुत्ररत्न बड़ा ही भाग्यवान् है। बड़े ही पुण्यात्मा

और धर्मात्मा कुल में ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है।

देव, आपको अनन्त-लाभ है, धर्म-लाभ है, ज्ञान-लाभ है, लक्ष्मी-लाभ है और कीर्ति-लाभ है। इनमें उत्तम पुरुषों के बत्तीस लक्षण हैं। इन वर्त्तीस लक्षणों से युक्त महापुरुष की दो ही गतियां हैं, तीसरी नहीं।

‘नई सेविका सुन रही हा न।’

‘हा आये, सुन रही हू। इस महापुरुष की दो ही गतियां हैं, बम्हनों ने कहा था।’

‘हां, परन्तु उन्होने यो ही नहीं कह दिया। उनमें से जो सबसे छोटा था, वह मोन वैठा था। शेष सात बम्हनों ने दो-दो अंगुलियां उठाकर संकेत किया दो गतियों का। पूछने पर पहले कहा आशीर्वचन दिया। तत्पश्चात् जब मंत्रीजनों ने आगे प्रश्न किए तो सातो भू-देव बोले—

—‘महाराज, आपका यह पुत्र विश्व के इतिहास को नई दिशा देगा। सहस्रो वर्षों तक राजनीति को नया रुख देगा। मानव-स्वभाव को नया रूप देगा। हे सम्राट् यह होनहार शिशु मानव-संस्कृति की प्रगति को अभिनव-गति देगा और समस्त सत्ता के प्रतप्त प्राणियों को नया धर्म देगा। महाराज, इस देवपुत्र शिशु की दो ही गतियां हैं, तीसरी नहीं। यदि यह राजमहल में टिका रहा, तो, अपनी तलवार की नोक से सारी धरती नाप आएगा, अपने वेगवन्त रथ के चक्र से पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान लेगा। जहा-जहा सूर्य का प्रकाश है, और जहा-जहा अंधकार है, वहां-वहां इसकी राज्य-सीमा और विजय-पताका पहुंचेगी। लेकिन’

नई सेविका सुन रही हो न। बम्हनों के कहने-कहते रुक जाने पर, परप भट्टारक ने चौककर पूछा, पूज्यवर, ‘लेकिन’ कहते आप मौन क्यों रह गए ? वे बोले—‘हां, विधि का विधान है, इसमें मनुष्य की पहुंच नहीं है। सारांश है कि महाराज यदि यह घर में रहा तो यह धर्मराज, चतुर्विक् विजय पानेवाला, शांति-प्रस्थापक और सात रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। स्पष्ट है राजन् कि इसके पास चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपत्नी-रत्न और सातवा पुत्र-रत्न, रहेगे। और तुम्हारी तरह यह धरित्री को शस्त्रास्त्र से नहीं जीतेगा, यह सागर पर्यन्त इस भूमा का दण्ड और शस्त्र के बिना ही धर्म से जीत लेगा। परन्तु राजन्, यदि यह देवकुमार घर छोड़कर बेघर हो गया, प्रव्रजित हो गया, तो संसार में माया के इस आवरण को हटा देगा, मार के प्रहारों पर विजय पाकर सम्यक्-सम्बुद्ध, अर्हत् होगा। यदि यह राजमहल की रानियों और काम की पुत्रियों के रूप-सौंदर्य का बन्दी न बना, तो, अपनी ज्ञान-ज्योति से अज्ञान का अन्त कर, विज्ञान को अनन्त विकास देगा। और क्षत्रियों के दिग्विजय के स्थान पर, धर्म-विजय करेगा। कल्प-कल्पान्तरो तक इसके धर्म की शरण में व्यक्ति और समाज, राज्य और राष्ट्र, शान्ति और सुरक्षा ग्रहण कर, अभय होंगे। महाराज इस रूप कुमार की दो ही गतियां हैं, तीसरी नहीं।’

इतना कहकर, ये सप्तब्राह्मण चुप ही थे कि उनमें से जो आठवां और सबसे

छोटा पर सबस विनक्षण आर तेजस्वी ब्राह्मण था वह अपनी शिखा बाधत हुए खड़ा हुआ जैसे सिंह-सुवन उठा हों, जैसे जनकपुर में सीता के स्वयंवर में परशुराम को ललकारने लक्ष्मण कुमार उठा हो । कुछ वैसी ही छवि-भंगिमा थी इसकी । कहती हूँ इसका नाम कौडिन्य था, इसने सभा और ब्राह्मणों के बीच खड़ हांकर, अपनी एक ही उगली उठाकर कहा—‘महाराज शुद्धोधन, इस देवपुत्र की एक ही गति है दूसरी नहीं, तुम धन्य हो राजन् ! तुम्हारा यह शिशु बड़ा होकर धरती को नया धर्म देगा । यह निश्चय ही सम्यक्-सम्बुद्ध-अहर्तु होगा । मैं इसके प्रमाण में कत्तीस लक्षण प्रस्तुत करता हूँ । .

‘राजन् और ब्राह्मणो ! इस कुमार की दिव्य देह को देखो—इसके पदतल में सर्वाकार-परिपूर्ण नाभि-नेमि युक्त सहस्र आरोंवाले चक्र है । यह सुप्रतिष्ठित-पाद है, अर्थात् इसका पैर धरती पर समान पड़ेगा । यह आयत-पाणि है । दीर्घ-अगुल है । मृद-तरुण हस्तपाद है । जाल-हस्त-पाद है यानी उगलियों के बीच कहीं छेद नहीं दिखाई देता । यह उम्सखपाद है । यह एणी-जघ है । यह बिना झुके अपने दोनों घुटनों का हाथ के तलवे से छूता है, अर्थात् महाराज यह आजानुबाहु है । यह सबसे बड़ा लक्षण है । इसकी वस्ति-गुह्य कोषाच्छादित है । विप्रचरो, जरा इसका काचन वर्ण देखो, इसकी सुवर्ण त्वचा देखो । इसकी काया पर धूल और मैल नहीं लग सकता, क्योंकि यह सूक्ष्म छवि है । इसके एक-एक रोम कूप में एक ही रोम है, इसलिए यह एकैकलोम है । यह ऊर्ध्वाग्र-लांभ है । नन्वे अकुटिल शरीरवाला—बाह्य-ऋजु-गात्र वाला है । सप्त-उत्सद है । इसके वक्ष-स्थल का ऊपरी भाग मृगराज कंसरी की भांति विशाल है, राजन् ऐसे भाग्यशाली को सिंह-पूर्वाङ्ग-काय कहते हैं । यह स्पष्टतया चितान्तरास, न्यग्रोध-परिमडल, समवर्त-स्कन्ध, रसग-सग्ग, सिंह-हनु, चव्वालीस-दातों से युक्त है । इतना ही नहीं समदत है, इसके दातों के बीच कहीं कोई छेद नहीं रहेगा । सु-शुक्ल दाढ़, प्रभूत-जिह्व है । जन्मोपरान्त उस दिन तुमने इसका मधुर स्वर नहीं सुना नरेन्द्र ।

‘इसका स्वर ब्रह्म स्वर है । यह अलसी के फूलों-जैसी आँखोंवाला और गाय-जैसी पलक वाला—गो-पक्ष्म है । देव, इसकी भौंहों के बीच श्वेत और क्रोमल कपास सी रोमराजि है । यह उष्णीषशीर्ष है—यही इसका बत्तीसवां लक्षण है ..

‘और मैं समस्त ब्राह्मणों और कालगणनाकारों को चुनौती देकर कहता हूँ, इस कुमार की एक ही गति है दूसरी नहीं । यह तुम्हारे महलों में, तुम्हारी रगशालाओं में और रगवन्ती बालाओं के बाहुपाश में बंध न सकेगा । यह अवश्य घर छोड़कर वेधर होगा । .

‘राजन्, जिस प्रकार गुहा से निकले सिंह का गर्जन निश्चित है, जिस प्रकार गर्भस्थ प्राणी का प्रसव निश्चित है, जिस प्रकार प्रभाकर का प्रकाश निश्चित है और जिस प्रकार आर्द्रा के उदय होने पर पावस-वर्षा निश्चित है, उसी प्रकार कालज्ञ सत्ता की वचन पूर्ति निश्चित है और उसी प्रकार सम्यक्-सम्बुद्ध होना निश्चित है । महाराज शाक्य कुमार की एक ही गति है, दूसरी नहीं ।’

आलि सेविके, कौडिन्य का इतना कहना था कि राज-सभा में तुपारपात के पश्चात् पत्रहीन पंडो पर जैसी स्तब्धता छा जाती है, वैसी आशाहीन निस्तब्धता छा गई। किन्तु बड़े धीर है, हमारे महाराज, उन्होंने अपना धीरज न खोकर, कौडिन्य से पूछा—‘भू-देव, किन कारणों से मेरा बेटा घर छोड़कर बेघर हो जाएगा ? हम अपने जान उसकी अरक्षा न होने देगे।’

‘भूपेन्द्र, कथन आपका यथार्थ है। प्रथमतः यह वृद्ध पुरुष देखेगा। जरा की दशा से दुखी होगा। उसके बाद, रोगी को देखकर इसका मन करुणा से छलाछल भर जाएगा। फिर यह मृतक को देखेगा और क्रमशः इसके मन का द्वन्द्व बढ़ता जाएगा। मैं आयु की अवधि को मिटा दूंगा, मैं भूख और जरा को मिटा दूंगा। मैं रोग-शोक और भय-बाधा का निवारण करूंगा। मैं मनुष्य से मनुष्य की दूरी को भर दूंगा।’ राष्ट्रों की अनाक्रमक एकता और सन्धि पर जोर देकर यह कहेगा—‘तथागत कहता है, अखिल विश्व एक परिवार है।’

‘लेकिन राजन्, तुम धन्य हो और मैं कौडिन्य धन्य हू। क्योंकि हम दोनों और ये सब सभासद् इसके प्रताप को देखेंगे। मैं कालदेवल की तरह रोज़गा नहीं। मैं भावी बुद्ध का शिष्य बनूंगा। और ये त्रिकालदर्शी ब्राह्मण भी समय पाकर इसके शिष्य बनेंगे’—इतना कहकर कौडिन्य अपने आसन पर बैठ गया।

सो, सुमुखि-सेविके। ब्राह्मणों को विपुल दान-दक्षिणा देकर विदा कर देने पर, परम भट्टारक ने मंत्रियो, कुल-परिजन—अस्सी सामन्तों और पुर-रक्षकों की एक सभा अपने निजी कक्ष में निमंत्रित की। इस बैठक में सर्वसम्मति से यह निर्णय निकला कि शाक्य कुमार की सर्वप्रकारेण रक्षा की जाए। उसे कदापि प्रव्रजित न होने दिया जाए।

कहते हैं उस सभा में महाराज बड़े उदास होकर बैठे थे और यह कहते-कहते कि, मैं अपनी आखों सिद्धार्थ को मध्य-मण्डल के राजमार्गों पर, गृह-द्वार-हीन, जटा चढ़ाए, भिक्षा-पात्र के लिये, भीख मागते नहीं देख सकूंगा, उनकी आखों में आसू भर आए।

मंत्रियों और मतदायकों ने राजा को आश्वासन दिया और सभा विसर्जित हुई।

अपने विषय में यह संवाद और घटनाएं जानकर मेरी उत्सुकता इसी प्रसंग में कुछ विशेष जानने की हुई, सो कई दिनों तक मैं रात्रि में अपनी शैया पर झूठ-मूठ ही आंख बंद किए सोता रहता। कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद जब नई सेविका की सेवा नियुक्ति मेरे कक्ष में हुई, तो एक साझ प्रकोण-प्रदीप सजोते हुए उसने शैवाली की मा से अग्र-कथा कहने का अनुरोध किया।

आर्या ने कहा, सेविके यदि किसी ने देख-सुन लिया कि हम युवराज के महलो में ऐसी चर्चा करते हैं तो हमें सीधे स्वर्ग पहुंचा दिया जाएगा। इस पर सेविका बोली अम्मा, पुरुष तो सब सो गए हैं। दासिया पास के कक्ष में उनिद्र है। गोप अभी सुरा में मत्त हो मेरा पीछा करते-करते थककर सीढियों पर पड़ा ऊंघ रहा है। ले,

अब तू ही कह किसका भय है !

नई सेविका का कथा-रस देख, शैवाली की मा भी अपनी चपल-वाचालता पर अकुश न रख सकी—

‘कालदेवल के मन का पश्चात्ताप कुछ कम हुआ तो उसने बार-बार यह सोचा कि उसे भावी बुद्ध के दर्शन करने का सांभाग्य तो, दुर्भाग्यवश न मिलेगा, किन्तु उसके किन सम्बन्धियों को यह अवसर प्राप्त होगा ? और उसने अपनी दिव्य शक्ति से देखा कि उसका भानजा नालक—भावी-सम्यक् सम्बुद्ध की बुद्धि-विभा का दर्शन कर कृतार्थ होगा।

कालदेवल को चैन कहा ! वह जो काम एक बार ठान लेता है उसे पूरा करके ही छोड़ता है। सम्भवतः इसी दृढ़ता ने उसे महर्षि बनाया। देवल अपनी बहन के निवेश की ओर लम्बे डग बढ़ाकर चल दिया।

उसकी बहन भद्रा आगन में दासियों के साथ बैठी धान साफ कर रही थी, और अपने एक छोटं मुन्ने को बहलाने के लिए अपने भाई की—मुन्ने के मामा की विरुदावली बखान रही थी।

तभी सचमुच मामा आन पहुचा।

भद्रा ने उठकर देवल का स्वागत किया—‘बड़े दिनों में आए भैया !’ वह दौड़ी-दौड़ी भीतर गई और पैर धोने के लिए जल-पात्र ले आई। लेकिन कालदेवल को इतना धैर्य कहाँ ! उसने व्यग्रतापूर्वक प्रश्न किया—‘नालक कहाँ है ?’

‘वह अभी ही शाला से लौटा है, और यवागू का भोजन कर रहा है।’

इतना सुनते ही कालदेवल आधी की तरह रसोई-घर में गए—‘नालक, बेटा नालक, कहाँ है भो नालक ?’

मामा को देखकर नालक अति प्रसन्न हुआ। क्योंकि जब-जब मामा आते थे एक न एक नई गाथा या घटना उनके पीछे लगी रहती है, नालक को आशा थी कि इस बार भी मामा एक न एक नया संवाद लाए होंगे। वह मामा के चरण छूने के लिए थाली से उठने लगा पर मामा ने उसे रोक दिया। भद्रा भी पीछे-पीछे आ गई।

मामा कालदेवल ने कहा—‘नालक, भो नालक, तू बड़ा भाग्यशाली ह रे, तू बड़ा भाग्यशाली है।’ इतना ही कह पाए थे कि महर्षि फूट-फूटकर रोने लगे। भगिनी ने पूछा—‘दादा, कुशल तो है ?’

‘सब कुशल है। कालदेवल के कुल पर अपनी परछाई डालते हुए अमंगल ओर अकुशल की काया कापती है।’

‘फिर भैया ये आसू कैसे ?’

‘भद्रे, शुद्धोधन की रानी माया ने एक पुत्र-मणि को जन्म दिया है, मेरा भविष्य-विज्ञान कहता है कि आज से पैंतीस वर्ष पश्चात् यह राजपुत्र बुद्ध बनेगा यही भावी बुद्ध है

‘धन्य है भाग भैया जो उसके दर्शन करेंगे।’

कालदेवल ने अपने उत्तरीय से आंखें पोंछत हुए कहा—‘पुझे तो, उसके धूर्व ही जाना पड़ेगा। लेकिन इस नालक के लक्षण कहते हैं कि इसे भावी बुद्ध की सेवा का अवसर मिलेगा।...नालक, भो नालक, अरे तेरा ध्यान किधर है ? नालक उठ खड़ा हो, अपूर्व बेला है यह। उठ, इसी क्षण संन्यास ले।’

नालक थाली छोड़कर उठ खड़ा हुआ। थाली में परमा—अधखाया भात, थाली में रह गया। मां देखती रह गई। ‘भैया. भैया’ . उसके मुंह इतना ही निकला और वह मुर्छित होकर गिर पड़ी।

भानजे का बाया हाथ थामे, कालदेवल अपनी प्रचण्ड गति से प्रागण पार कर रहा था। द्वार, झरोखो, गवाक्षों से दास-दासियां, परिचारक, परिजन झाक रहे थे। और भद्रा के भवन से भी ऊंचा कालदेवल का विजय उद्घोष उठ रहा था—‘बुद्ध शरण गच्छामि।’

और उस दिन शाक्यों की राजपुरी में ही प्रथम बार भी बुद्ध की शरण का माहात्म्य गीत उठा।

वातायन में खड़ी भद्रा की दासी ने कहा—‘सत्तासी कोटि के अधिपति इस बालक को कौन-सी कमी थी, जो वन में पूरी हो जाएगी ?’

हाट-बाट में आकर देवल ने नालक के केश काट दिए, पीत चीवर पहना दिया और हाथ में मिट्टी का भिक्षा-पात्र दे, इस बाल संन्यासी की छवि देखने लगा।

फिर जिस दिशा में भावी बुद्ध थे उस दिशा में नालक ने हाथ जोड़कर—‘बुद्ध शरणं गच्छामि’ कहा। इसके पश्चात्, उसने अपने कन्धे पर लटकती झोली में भिक्षा-पात्र रख दिया और उत्तर दिशा में हिमाचल पर्वत की ओर तपस्या के हेतु चल पड़ा।’...

नई सेविका ने पूछा—‘और अम्मा, उन आठ ब्राह्मणों ने अपने लिए क्या निर्णय किया ?’

‘सेविकें, कौडिन्य तो पूर्व जन्मों में बुद्धों का शिष्य रह चुका था और यह उसका अन्तिम जन्म था। वह अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त था कि उसे भावी बुद्ध की शरण में जाना है। परन्तु शेष जो सात ब्राह्मण थे वे अपने-अपने आवास लौट आए और पुत्रों को बुलाकर बोले—‘तात, हम तो वृद्ध हो चले। मरण-पर्व समीप आ गया है। और हम भले जीवित रहे या मृत्यु के मंदिर में जाए, शाक्य कुमार बुद्ध होगा। उस पावन-वेला के आगमन पर कम-से-कम तुम तो प्रब्रज्या ग्रहण कर, जीवन-लाभ लेना। तुम्हारा कल्याण होगा।’

ब्राह्मण कुमारों ने अपने-अपने जनक की बात ध्यानपूर्वक सुनी और वचन दिया कि वे अवश्य उस महाज्योति की कृपा-किरण प्राप्त करेंगे।

छन्दक के साथ खेलता-खेलता, एक दिन मैं उसकी कुटिया पर पहुंच गया था, जो प्रासाद के एक छोर पर बनी हुई थी।

छन्दक की मा अन्ना उस समय राजकीय अश्वों को दाना-पानी दे रही थी। मुझे आया जान वह प्रसन्न हुई, और दौड़ी-दौड़ी एक चौकी ले आई—‘बैठो कुमार।’

‘हा अन्ना, अच्छी तो हो?’

‘अच्छी हू, तुम्हारी छाया मे कौन सुखी नहीं है?’

‘एक वृद्ध, जो मैंने छन्दक के साथ, एक दिन राजमार्ग पर देखा था। जानती हा अन्ना, वह तुमसे भी अधिक वृद्ध था। उसके सारे केश सफेद हो गए थे और वह तो, दो पग भी कठिनाई से चल रहा था..’

बीच में अन्ना बोला—‘छोडो भी कुमार’...और...प्रसंग बदलने के लिए उसने कहा—‘अब तो, अम्मा, कुमार के लिए हेमन्त के बाद, दूसरा ग्रीष्म-प्रासाद भी बन गया है। इन गर्मियों में अम्मा हम वहीं रहने वाले हैं।’

मैंने हसकर कहा—‘सामन्तों और श्रेष्ठियों के इन भवनो के निर्माण में जाने कितने लोगो का शोषण होता है। हजारों व्यक्ति बेघर-बार होते हैं, तब जमीन मिलती है महलों के लिए। और लाखों भूखे-प्यासे, पीड़ित प्राणियों का परिश्रम और पसीना बहता है, तब कहीं जाकर प्रासादों की मजिले ऊंची उठती हैं ! ठीक है न छन्दक?’

‘कुमार, आपको तो बस, जब से उस भिखमंगे को देखा, यही धुन लग गई है। आखिर कोई श्रमिक काम न करे, तो क्या करे?’

‘कुछ करे, न करे यह समाज-विधायको की चिन्ता का विषय है। इसका तात्पर्य यह तो नहीं कि व्यक्ति का श्रम उसे मात्र दो जून की रोटी जुटा दे?’

‘यह तो बेटा, अपना-अपना भाग है।’ अन्ना ने नन्हे अबलक को हरी घास डालते हुए कहा।

‘भाग्य कहती हो इसे। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य बनाता है। हेमन्त और ग्रीष्म प्रासादों में रहने वाले कब आए थे भवन बनाने? फिर भी वे इन भवनो में गर्व और दर्पपूर्वक रहते हैं और उन श्रमिकों का क्या हुआ, जिन्होंने आंधी और अधड़, तूफान और तुषार के बीच महल की नीवों में अपनी हड्डियां गलाई हैं और दीवारों को अपने खून से चमकाकर लाल किया है। यदि उनके वे लाख-लाख हाथ न उठते तो, कहा से आते ये अट्टालिका-भवन और रेशमी वस्त्र। ये स्वर्ण और कचन के आभूषण क्योंकर बनते.. जानती हो अन्ना, तुम्हारे और तुम्हारे वर्ग के इन हाथों का चमत्कार?...भोली अन्ना सिर क्या हिला रही हो? तुमने दिन देखे हैं, तो दिन को दिन और रात को रात क्यों नहीं कहती?...ये इन हाथों का ही चमत्कार है कि खदानों से, धरती की तहों से धातुएं प्रगट हुईं। इन हाथों को छूकर मिट्टी सोना हो गई जो आज उच्चवर्गीय किशोरियों के कानों में कुण्डल बनकर लहरा रही है।...इन हाथों

ने खेतों को हरियाली और पौधों को फूल दिए हैं। ज्ञान और विज्ञान का विकास श्रमिकों ने किया है, श्रेष्ठियों सामन्तों ने नहीं। तुमने कभी सुना अन्ना, कि किमी सेठ ने किसी यान या यन्त्र का आविष्कार किया ? तुमने कभी सुना, अमुक सामन्त ने अमुक औपधि की खोज की है। उन्होंने क्या दिया, जो सर्वस्व ले लेते हैं। छन्ना, अन्ना वे परोपजीवी हैं, अब अधिक दिन उनका यह छल-बल नहीं चलेगा। आज आदमी की पलकों में नींद उचट गई है और उसकी करवटों में शताब्दियाँ अगड़ाई ले रही हैं। वर्ग और वर्ण के ये भेद जल्द मिट जाएंगे अन्ना, तुम्हारे देखते-देखते मिट जाएंगे, जरूर मिट जाएंगे।

‘परन्तु मनुष्य का क्या भरोसा कुमार, यदि फिर किसी ने भेद की खाइयाँ खाद दी तो ?’

‘मनुष्य फिर विद्रोह करेगा और उन खुदी हुई खाइयों को पाट देगा। मनुष्य की संघर्ष-परम्परा का अन्त नहीं। उसके बार-बार के प्रयत्न पर उसकी विजय हाँगी और तब न रहेगी खाइयाँ और ऊँचाइयाँ और न रहेंगे उन्हें खोदनेवाले..

‘अम्बा जानती हों, महाराज ने कुमार के इन नए प्रासादों में कितना खर्च किया है ? सौ कोटि।’

‘सौ कोटि, क्या हजार से भी अधिक होता है लल्ला !’

‘हजार क्या, लाख से भी अधिक होता है।’

मेरी बलाइयाँ लेती हुई वह भोली वृद्धा बोली—‘कितने अच्छे हैं हमारे महाराज। कुमरा के प्रति कितना अगम अनुराग है उनका। और प्रजा की भी उन्हें रात-दिन चिन्ता सदैव घाट, कूप और भवन, सरोवर बनवाकर लाखों लोगों को रोजी-रोटी देते हैं वे। छन्ना, वासन्ती के ससुराल से लौटने पर अगले शनिवार तक हम भी ये नए प्रासाद देखने चलेगें रे। फिर जब कुमार रहने लगेंगे तो चौकी-पहरे में हमें कौन जाने देगा ?’

‘अन्ना, मैं तुम्हें सच कहता हूँ, मैं न रहूँगा इन महलों में। मैंने प्रजा माँ के झरोखों से देखा है, जब ये महल बन रहे थे, कौसी चिलचिलाती धूप और लू में मजदूर पत्थर ढो रहे थे ! जब धरती लावा उगल रही थी और आसमान शोले बरसा रहा था, तब भी वे नग-भूखे श्रमिक अपने काम में लगे थे। मैंने उनकी नगी-काली पीठ पर कड़कते चाबुक सुने हैं.. अन्ना मैया आज भी उनकी सड़-सड़ मेरे कलेजे के कोने-कोने को काटती है, सालती है उनकी चुभन। ढीले नूपुरों और नगों गीतों की गूँज में राजकक्षों के यक्षों को इन सड़सड़ाते चाबुकों की मार नहीं सुनाई देती। परन्तु, एक दिन आएगा जब ये अभागे उठ खड़े होंगे और नूपुरों की छनछनाहट नृत्य पूरा होने के पहले रुक जाएगी और वारुणी के पात्र अधरो से लगने के पूर्व ही स्थिर रह जायेंगे। तुम नहीं जानती अन्ना, तुम नहीं जानते छन्दक, कुल-कान्ताओं के उन प्यालों में जिस दिन उन्हें इन मजलूमों के विद्रोही चेहरे की परछाई दिखाई देगी उस दिन धरती में पहली-बार मनु-पुत्र नए विधान की रचना करेगा तब न

रह जाएगा चन्द सामन्तो और श्रेष्ठियों के हाथों में लाखों-लाखों लोगों का भाग्य । छन्ना तुम कितने भोले हो सकते हो, यदि तुम यह कहते हो कि ये आभिजात्य इसी प्रकार अनन्तकाल तक जनता का यों ही भक्षण करते रहेंगे । क्या तुम्हारा ख्याल है, जनता सोती ही रहेगी ? क्या लोग भूखे ही रहेंगे ?

‘क्या शोषण चलता ही रहेगा, पाप फलता ही रहेगा ? भोले हो, बहुत भोले हो, यदि तुम्हें अपनी सन्तानों के सुन्दर भविष्य की आशा नहीं । पाप का घट भरता है । बूढ़-बूढ़ का प्रयत्न उसकी सीमा का अन्त कर देगा । और जिस दिन अभिनव घट-विस्फोट होगा, आज के ये स्वामी नहीं रहेंगे, जनता अपनी जय का नारा उठाएगी और आकाशवाणी कहेंगी—‘प्रजा बदल गई है, लोक में क्रान्ति हुई है ।’

‘कुमार आज शाला नहीं गए ? असित गुरु स्वस्थ तो है न ?’

‘आजकल शाला महलों में ही लगती है । असित की बातों में अब मेरा मन नहीं लगता । वे बार-बार एक ही बात दुहराते हैं—ईश्वर सर्वशक्तिमान है । ईश्वर यों है, त्यो है । राजा परम पवित्र है । ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है । लेकिन मैं पूछता हूँ अन्ना, ईश्वर सर्वशक्तिमान है, तो यह अन्याय क्यों कर सह रहा है ? राजा पवित्र है तो प्रजा पवित्र है । राजा की पवित्रता प्रजा के अस्तित्व पर है । ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, शूद्रों के होने से है । शूद्र के अभाव में श्रेष्ठ की उपमा कैसे और किससे दी जाएगी ?...

‘तुम यह रामनामी कठी कहा से उठा लायी, अम्मा । किस धूर्त ने तुम्हें ठग लिया है ?’

‘ऐसा न कहो कुमार, मा को यह कठी एक तपस्वी ने दी है ।’

‘यह सब ढोंग है । वर्ग-संघर्ष को रोकने का जाल है । अपनी उदरपूर्ति का प्रपच है ।...ईश्वर को सर्वशक्तिमान स्वीकार करते हो पर वह तुम्हारे कौन-से काम आता है । क्या वह तुम्हारे लिए खेत जोतता है, बगीचे बोता है, तुम्हारी रोटी की चिन्ता करता है ? तुम्हारी पीठ पर पड़ते एक कोड़े से तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकता, तो क्यों कहते हो उसे सर्वशक्तिमान ?

‘अन्ना, मनुष्य स्वयं अपना स्वामी है । वह स्वयं अपने वर्तमान और भविष्य की रचना करता है । मनुष्य ही ईश्वर का विधाता है । क्या तुमने देखा है, ईश्वर को मनुष्य बनाते ? लेकिन सारी दुनिया जानती है कि मनुष्य ने ईश्वर को बनाया । छन्दक, यह तो, तुम भी जानते हो कि कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसा है ? हर एक कार्य का एक न एक कारण अवश्य होता है—ऐसा ईश्वरवादी पंडित कहते हैं—वे कहते हैं कार्य-कारण के नियमानुसार संसार का कोई भी कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण है परमेश्वर । किन्तु इन पंडितों से कोई पूछे कि ईश्वर किस प्रकार का कारण है । क्या ईश्वर संसार पर निर्भर है ? क्या उभय परस्पर आश्रित है ? ईश्वर क्या उपादान कारण है ? जिस प्रकार सुघट-घट का कारण मिट्टी है, अलंकार का कारण सोना या चांदी है सो यदि ईश्वर इस संसार का उपादान कारण है तो अर्थ यही हुआ कि संसार परमेश्वर का रूपान्तर मात्र है, जैसे मिट्टी बदलकर घड़ा

बन गई। घड़ा गल कर पुन मिट्टी बन गया। साना ढलकर अलकार बना। और अलकार गलकर पुन सुवर्ण बना। यदि यही कारण-प्रकार है, तो अन्ना यह कहना होगा कि इस दृष्टि-जगत् में जितना सुख-दुःख है, वह सब ईश्वर में है, ईश्वर के कारण है, और ईश्वर का रूपान्तर है।

यदि ईश्वर इस जगत् का उपादान कारण है, तो वह निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि हम ईश्वर को निमित्त कारण मान लें, तो यह प्रश्न फिर भी रह जाएगा कि वह क्या बिना किसी उपादान कारण के संसार की रचना करता है। जिस प्रकार कुम्भकार घड़े को बनाता है। स्वर्णकार आभूषण बनाता है।

यदि हम बिना उपादान कारण के सृष्टि रचना मानते हैं, तो मानना होगा कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। इसमें भला, ईश्वर की जरूरत कहा रह जाएगी। अब तो, कार्य कारण का सिद्धान्त भी चल न सकेगा और यह आवश्यक न रह जाएगा कि संसार का कारण हम ईश्वर को मानें। ईश्वर ने संसार को कुम्हार की भांति जगत् से अलग रहकर बनाया या उसमें व्याप्त होकर ? यदि वह अलग है, तो फिर हम उसे सर्वव्यापक कैसे कह सकते हैं ? और जब वह सर्वव्यापक नहीं है तो अवश्य ही उसने सृष्टि-रचना के लिए अन्य सहायकों का सहयोग लिया होगा। और अवश्य वह अन्य साधनों पर निर्भर रहा होगा।

अन्ना, यह ठीक समझ लो कि यदि ईश्वर संसार का स्रष्टा है और मनुष्य उसके हाथ का खिलौना है, उस पर निर्भर है, उसके आश्रित है, तो चला छुट्टी मिली। तो, सारा दायित्व ईश्वर पर रह जाता है। फिर तो सारे शोषण और अत्याचार का भार ईश्वर को अपने बूढ़े कंधों पर उठाना होगा ?

यदि सृष्टि का आदि नहीं, तो उसकी रचना भी अनादि है। फिर यह बीच में ईश्वर कहा से आ टपका ? क्योंकि कार्य के समय उसके कर्त्ता और कारण का भी होना सिद्ध होना चाहिए।

एक चीज चुन लो छन्दक, मनुष्य को ईश्वर के अधीन मानते हो, तो यह नहीं हो सकता कि अपनी इच्छानुसार अपना निर्माण करे। फिर यह कैसे कहोगे, मनुष्य अपना स्वामी है ? और जब मनुष्य अपने ही अधीन नहीं है, तो उसे कोई भी काम या प्रयत्न करने की छूट और सुविधा कहा ?...

वहां से जो लौटा, तो पूरी राह में इसी चिन्तन में तल्लीन रहा। प्रासाद पहुंचते-पहुंचते मेरे मन ने यह साक्षी दी कि मनुष्य अपना स्रष्टा आप है। वह अपने ही कर्म-फल स्वरूप, अपनी वर्तमान अवस्था में है। और उसकी भावी अवस्था भी अपने कर्मों पर निर्भर है। मनुष्य को अपने कार्य-कलाप की स्वतंत्रता रहेगी, तभी न वह सत्पुरुषों के बताए सद्मार्ग पर चल सकेगा। जो स्वयं दूसरे का दास है, वह कैसे करेगा अपना कल्याण ?

सिद्धकाम और पूर्णकाम बनने के लिए मनुष्य का स्वतंत्र होना आवश्यक है। स्वतंत्रता ही मुक्ति है !

तब महाराजा ने पूछा—

‘कालदेवल, किन कारणों से कुमार राग को छोड़कर विराग की शरण जाएगा ? किस प्रकार वह गृह-त्याग कर अनिकेत हो जाएगा ?’

‘शुद्धोधन, तेरा बेटा पहले एक वृद्ध जीवधारी देखेगा। उसके कारण मन में करुणा और वृद्धावस्था के प्रति विराग उत्पन्न होगा। उस गत वह इतना उद्विग्न हो जाएगा कि कोई उसे विगम न दे सकेगा।’

‘तो उसे कैसे बाधा जाए ? कालदेवल, तुम मेरे मित्र हो। मेरे मन-प्राण की गति जानते हो। सिद्धार्थ मेरे बुढ़ापे का एकमात्र सहारा है। वह मेरी माया की एकान्त धरोहर है। कालदेवल, जरा योग साधो, मन को एकाग्र करो मेरे मित्र, और अपने इस बूढ़े बन्धु को वतलाओ कि सिद्धार्थ का भविष्य क्या है ?’

‘तुम बड़े दुराग्रही हो शुद्धोधन। तुम क्या महाकाल की पीठ पर सवार होना चाहते हो ? इस बुढ़ापे में भी विजय-प्राप्ति की तुम्हारी लालसा नहीं मिटी राजन् । कुछ भी करो, कुछ भी कहो, कुमार वृद्ध प्राणी को देखेगा, अवश्य देखेगा। यह कालभीज कालदेवल की भविष्यवाणी है, किसी बनिए की वानी नहीं।’

‘कालदेवल, तुमने शुद्धोधन की तलवार का पानी देखा है। उसकी तलवार धधकती आग के दो टुकड़े कर सकती है। उसकी यह तलवार जल-प्रवाह को काटकर दो धाराओं में बहा सकती है, तुमने इसे शोणित-धारा बहाते, तो अपनी आंखों अनेक बार देखा है, कालदेवल !...कौन है ? बन्धुमानु, नगरनायक से कहो कि आज से सिद्धार्थ कुमार के महलों का पहरा आधे योजन तक बढ़ा दे। इस पहरे की परिधि में कोई भी प्राणी मेरे आदेश के बिना प्रवेश न करे हा.. हा.. हा, ठीक है न कालदेवल ! देखता हू अब तुम्हारे विधाता का वृद्ध कैसे दिखनाई पड़ता है ?’

‘शुद्धोधन, तुम मनुष्य हो और मनुष्य की शक्ति और योजना की सीमा होती है। जो अदृश्य है उसे तुम नहीं देख सकते।’

‘एक वृद्ध बेचारे की क्या विसात ! स्वयं शुद्धोधन शाक्य कुमार के प्रासादों का प्रहरी बनेगा। फिर वृद्ध तो क्या, स्वयं काल की परछाई भी कुमार के प्रासाद तक नहीं पहुंच सकेगी।’

‘एक वृद्ध नहीं शुद्धोधन, तेरा यह बेटा रोगी को भी देखेगा। रोगी की ही बात नहीं शुद्धोधन, तेरा यह रत्न बड़ा होनहार है, यह एक मृतक भी देखेगा। एक मृतक मानवी से क्या होगा, इस भ्रम में न रहना, सिद्धार्थ कुमार एक सन्यासी के भी दर्शन करेगा।..

‘वृद्ध को देखकर उत्पन्न हुआ उसके मन का आश्चर्य, रोगी को देखने पर करुणा में बदल जाएगा। मृतक के दर्शन-मात्र से वह जीवन की क्षण-भंगुरता पर विचार करेगा, उसकी अनन्त और अबाध चिन्तना उसे सृष्टि के समस्त पदार्थों

मे नश्वरता देखने के लिए बाध्य कर देगी और तब देखूंगा तेरी तलवार का जाँहर शुद्धोधन । तेरी तलवार मनुष्य को मार सकती है, आग-पानी को काट सकती है, परन्तु कुमार के विचारों का विनाश नहीं कर सकेंगी । तूने कभी तलवारों से विचारों का हनन देखा है ?

‘ठीक कहते हो कालदेवल, तुम स्वयं बताओ, मैं क्या करूँ ? कालदेवल, काश तुम अचेल, दिगम्बर सिद्ध न होकर मेरी तरह एक विधुर होने । काश, तुमने पिता का हृदय पाया होता ? काश, तुम्हारी अन्तर्गत्मा में ब्रह्मा के बजाय किसी शिशु की तुतली बोली समायी होती ? तुम्हारी आखों-आगे जुगों का अधिकार प्रत्यक्ष होता और दूर पर यदि कहीं आशा का एकमात्र प्रदीप झिलमिलाता होता, तो बताओ ब्रह्म क जिज्ञासु, तुम क्या करते ? तुमने परलोक तो देखा कालदेवल, लोक नहीं देखा । तुमने वैराग्य की गोद बसाई, परन्तु गृहस्थाश्रम में रहकर, मा का अपने लाल को दूध पिलाना तुमने नहीं देखा, कालदेवल । इसी से इस निष्ठुर वैराग्य और निष्काम-ज्योति की बातें बघारते हो ।

‘बन्धुमान्, नगरनायक को स्पष्ट कह दो कि आज से कुमार के किसी मार्ग में वृद्ध-भिखारी, नगा-भूखा, कोई रोगी-दरिद्र, कोई मृतक, कोई संन्यासी न आ सके । और ऐसा कुछ करो कि कुमार राग से विराग की ओर न जा सकें । हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा-प्रासादों में सुरा और सुन्दरियों का प्रबन्ध चौगुना ..नहीं सो गुना कर दो ..अभी वह कितनी नर्तकियाँ हैं बन्धुमान् । क्या कहा, बीस हजार ? तो, चालीस हजार और बढ़ा दो । महल के प्रांगण में पचशायक की पुत्रियों का शुभागमन हो, इस निमित्त एक रस-यज्ञ की तैयारी की जाए । कालदेवल कहता है, कुमार किसी बधन में बंध न सकेगा ? अब देखा हूँ बन्धुमान् अग-अनग के रंग खेलती अगनाओं की गोरी बाहुओं के बधन में मेरा बेटा बधता है या नहीं ? ...और यहीं मुझे न रोको बन्धुमान्, आज के रात्रि-भांज में महाराज दण्डपाणि का आमंत्रित करो, क्या नाम है उनकी सुन्दरी बेटी का वह जो नाग-नृत्य के दिन नाची थी ? .यशोधरा, हा, वह साक्षात् माया का अवतार है । माया के सम्मोहन में, तो तुम्हारा ब्रह्म भी बंधा है, कालदेवल । एक बार यदि कहो कि कुमारी यशोधरा के रतिदुर्लभ रूप-रस से युवराज आकर्षित न हो सकेगा तो मैं तुम्हारा दिगम्बरत्व अपना समूचा साम्राज्य देकर खरीद लूंगा । हा.. हा. .हा, मैं तो कहता ही रहा कालदेवल, विराग से राग बड़ा है । ब्रह्म से माया बड़ी है, लेकिन तूने मेरी बात न मानी और रूप की सुरा को छोड़ ज्ञान के पीछे भटकता रहा । इस ओस को चाटे तेरी प्यास अब तो बुझी कालदेवल ? आखिर, कब तक यो अलख जगाता रहेगा, कब तक यह धूनी रमाता रहेगा, कब तक यो नंगा घुमता रहेगा ?

‘कालदेवल, दुनिया जीवितों के लिए है, मूर्खों के लिए नहीं—और वे सब मूर्ख हैं जिनका मन मर गया है, जिनकी तृष्णा बुझ गई है और जिनकी तृषा मिट गई है । योग के महाकूप में पहुँचकर मुक्ति का अमृत पीने के पूर्व, भोग की सीढियाँ

उतरनी पड़ेंगी कालदेवल वैसे तुम स्वयं ज्ञानी और तपस्वी हो मेरे दस सहस्र हाथियों ने आज तक जितनी धूल नहीं उड़ाई, उतनी तुम अपनी डकलोती काया पर लपेट चुके हो, मृत्युजयि ।

‘बन्धुमान् । महाराज दण्डपाणि को सन्देश भेज दिया है न ? शैवालिके, गान्धार स आया वह नया पात्र तो लाओ, जरा उसका आच्छादन धीरे हटाना । उसकी मंदिर गन्ध से भीगकर कालदेवल का मुक्तिकामी-मन, काम-कामी न बन जाए, वरना उसके याग्य शंखिनी सारे कपिलवस्तु में दूढ़े ने मिलेगी । अरे, वह बूढ़ा कहा गया ?’

‘गया कहाँ ? वारुणी का पात्र खुलने से पूर्व ही, नूपुरों का छम् बजने से पूर्व ही मन्त्रवल से ओझल हो गया । गया होगा, उसी देवलोक में जहाँ सदियों पुरानी अप्सराएँ ऐसे-ऐसे नगे-भूतों की वाट जाँहती हैं ।’

‘तेरी बानी झूठ होते हुए भी सच है शैवाली, क्योंकि तू मेरे शब्द पर अपने शब्द की मुहर लगा रही है ।’

‘हम गुलाम का यही काम है, अन्नदाता ।’ शैवालिका ने झुक-झुककर कहा ।

यह बात मुझे वर्षों उपरान्त किसी ने बताई थी, आज प्रसंग आने पर याद हाँ आई ।

और आज मैं सोचता हूँ उन सामन्तों और श्रेष्ठियों ने अपने क्षुद्र स्वार्थों के लिए क्या-क्या न किया ? ब्राह्मणों, पंडितों और पुरोहितों ने सत्य के मुह पर किस निर्लज्जतापूर्वक कालिख पोती ? धन ने धर्म को सरे बाजार खरीदा । और उसकी अर्धांगी सत्य की देवी, सत्या का चीर हरण कर उसे दिनदहाड़े, उन राजपथों पर कि जिन पर न्याय की रक्षा का स्वाग भरनेवाले सम्राटों के जुलूस निकलते हैं और न्याय-मंत्रियों की सवारियाँ चलती हैं और परम्परा के पोषक ब्राह्मणों के स्वर्ण-रथ दौड़ते हैं—विवसना किया ।

उच्च वर्णों की, वर्गों की इस अभिसंधि ने मेरे रोम-रोम में विद्रोह की वह्नियाँ सुलगा दी हैं । अब तो सुनो हे शाक्यों के साम्राज्यों की शृंखलाओं के वदीजनो, या तो तुम्हारी शृंखलाएँ चूर-चूर होगी या राजकुमार भरत की इस पुण्य-भूमि पर सिद्धार्थ नाम का कोई मानवी दृष्टिगोचर न होगा आज से मुझे अपने ही कुल-रक्त की शपथ है, अन्धकार के विरुद्ध मेरा संग्राम अन्तिम सांस पर्यन्त चलेगा । मौत को जीवन की शरण आना ही पड़ेगा । देव-सृष्टि की कल्पना पर मानव-सृष्टि की सचाई विजयिनी होगी ।

आज से मैं अन्याय के विरुद्ध सतत संघर्ष करूँगा—मैंने अपने अटल निश्चय को चुनौती दी ।

आपाढ़ माम का पहला दिन। कपिलवस्तु के जन-सागर में उल्लास की उमग-तरंगे हिल्लांतित थी। आनन्द का ऐसा ज्वार चढ़ा था, चढ़कर जो न उतरे।

आज हलोत्सव था। वर्षागमन पर हम शाक्यों के राजा और प्रजा-जन अपने-अपने खेत की जुताई करने रहे हैं। युगों में यह पर्व-प्रणाली हमारे जनपद की परम्परा बन गयी थी।

राजा जनता द्वारा निर्वाचित लोक-प्रतिनिधि है। जनता के जीवन का एकमात्र आधार कृषि-कार्य है। वाणिज्य और व्यवसाय भी रहे, परन्तु उन्होंने वणिकों का एक वर्ग विशेष बना दिया। जनता के शोषण की एक वृत्ति व्यवसायियों में पैदा कर दी। तभी न मैं कहता रहा हूँ कि निगण्ठ नाथपुत्र ने जो तथाकथित नया धर्म दिया, वह धर्म नहीं वर्ग है। नाथपुत्र ने सामन्तवादी वर्ग के समानान्तर शोषकों का एक नया वर्ग रच दिया—पहले जो वैश्य वेचारे खेती करते थे, पशु-पालन जिनका धर्म था—नाथपुत्र ने कर्महीनता की ऐसी रट लगाई कि इस जाति ने कर्म को छोड़ना आरम्भ किया और कर्महीन परोपजीवियों की एक नई जाति बन गई। कर्म जब न रहा, श्रम जब न रहा, तो इन निगठवादी वणिकों का काम रह गया—खाद्य का क्रय-विक्रय, लाभ पर वस्तुओं को बेचना, वस्तु-संचय और पदार्थ-संग्रह। अपरिग्रह का जितना शोर इन्होंने किया, उतना ही परिग्रह इनमें था, और भी बढ़ता गया। इसीलिए तो मैं कहता रहा हूँ—ब्राह्मणों की सभ्यता में सहयोगी है नाथपुत्र। एक ओर पुरोहितों का वर्ग, दूसरी ओर वणिकों का सम्प्रदाय। फिर भी निगण्ठ नाथपुत्र क्रांतिकारी कैसे? वह तो सुधारक है सुधारक। उसके सुधार में भी, अवैज्ञानिकता है, फलस्वरूप समाज की नव रचना तो नहीं हुई, उसके आगम में दरारें पड़ गईं और नई दीवारें खड़ी हो गईं, जिन्होंने व्यक्ति को व्यक्ति से अलग कर दिया। अभिनव समाजवादी समाज की रचना के बजाय उसने व्यक्तिगत, कर्महीन समाज की रचना की।

उस दिन पिताजी भी हल-बैल लेकर अपना खेत जोतने आए थे। साथ में राज्य के सभी पदाधिकारी और अंतःपुरों की महिलाएँ भी थीं। परम-भट्टारक का हल चादी-सोने का था। उसके आगे स्वर्ण-शृंखलाओं में जुते गोडापारी वृषभ थे। इन वृषभराज के सींग सोने से मढ़े हुए थे—मुझे इतनी ही धुधली-सी याद है।

सहस्रों नर-नारी इस उत्सव में आए थे और एक मेला-सा लग गया था। मुझे भलीभाँति स्मरण है नाथपुत्र के अनुयायी जीव-हिंसा के भय से हलोत्सव में भाग नहीं ले रहे थे। उनमें से कुछ तो अनुपस्थित भी थे, उन्हें भय था कि यदि दूसरे कृषकों को वे कृषि-कर्मनिरत देखेंगे तो उन्हें भी, देखने मात्र से जीव-हिंसा का दोष होगा। खैर।

एक जम्बु वृक्ष की छाया में खड़ा-खड़ा मैं पिताजी का हल जोतते देख रहा था। धरती माँ से उसके वेटे का यह स्नेह-सम्बन्ध मुझे अच्छा लगा। यो हम धरती

के कितन निकट आते हैं जितना गहरा होगा धरती से हमारा सम्पर्क उतनी गहरी होगी हमारी सामाजिक शक्ति और एकता। धरती जीवन देता है। ऐसी धरती के सम्पर्क में जीव-हिंसा मानने वाले निगण्टवादी का भविष्य क्या होगा—यही मेरी चिन्ता का विषय था।

मैं तो अपने इन्हीं विचारों में खोया रहा। मुझे मालूम नहीं कब मैं पद्मासन में आसीन हुआ और कब मेरे पास की परिचारिकाएँ समारोह के दर्शन की उत्सुकता में आगे बढ़ गईं। हाँ मेरे कानों में रह-रहकर बैलों की पीठ पर पड़ते कोंडों की आवाज आ रही थी और आ रही थी सजी-बसी वालाओं की खिल-खिल—बालाएँ जो गजरे और वेणी गूथने के लिए वेरहमा में फूलों को तोड़ रही थीं। आज मैं सांचता हूँ वालाओं की वह निर्दयता उनकी आयु के कारण थी, नवयौवना तो वे थी ही, मन में उमंगते काम-विलास का प्रवाह-वेग था वह, जिसमें बहती वे कोमल कलियों और पुष्पों को एक झटके में तोड़ लेती थी, उन्हें छेदती-बेधती थी या मीज-मसलकर फेंक देती थी। उनके कण्ठ से सुरीले गीत उठ रहे थे। गजराँ और मालाओं से वे अपना शृंगार कर रही थीं, माथे पर उनका मुकुट रखती, कानों में उन्हें पहनती और अलसाएँ केशों में उन्हें खोस लेती।

कैसे है ये लोग—कोई वृषभों का यन्त्रणा दे रहा है, कोई हरी-हरी घास को काट रहा है और ये रमणियाँ और ये बालिकाएँ हैं कि मूक कलियों को, पल्लवों और प्रसूनो को अपने वृन्त से विलग कर रही हैं।

जब मानव-मन का आह्लाद या अवमाद बड़ा, बहुत बड़ा हो जाता है, तो दुनिया बहुत छोटी हो जाती है। और तब उसे भूल जाना साधारण हो जाता है। मैं अपनी नन्मयता का अवगाहन करता रहा।

इस पवित्र हलोत्सव में एक सौ आठ प्रधान हल थे। इनमें एक सौ सात चादी के और एक हल जो परम-भट्टारक का था, सोने का था। उसकी सभी चीजें लाल स्वर्ण की थीं। मैंने देखा था पिताजी बड़े रस और कौशल से हल चला रहे थे। एक सौ आठ हल एक साथ चल रहे थे और यो धरती माना की पूजा कर रहे थे। खेती से बड़ी धरती माँ की पूजा और क्या होगी ! महाराज कभी अपना हल राजकीय खेत के इस कोने से उस कोने तक चला ले जाते, कभी इस ओर से उस ओर तक वेगपूर्वक पहुँच जाते। उनका हस्त-लाघव दर्शनीय था। वैसा ही उनका शुद्ध स्वरूप भी था। शाक्यों की आनुवंशिक परम्परा में सम्भवतः वे सर्वाधिक सुन्दर थे। ओर इधर जब से उनके केश श्वेत हो चले थे ओर दाढ़ी के बाल भी चवर की तरह सफेद हो गए थे—उनके वदन की दीप्ति वर्द्धमान हो गई थी।

इस वेला हलोत्सव पर्व का समारोह अपने सर्वोच्च बिन्दु पर था। जनोल्लास, मनोल्लास और रसोल्लास का अखण्ड पारावार बह रहा था। उस पारावार से अछूता कोई बचा था, तो वह मैं ही था, परिचारिकाएँ इतस्ततः थीं। उन्हें तो पर्वानन्द और सुरानन्द के कारण अपनी ही सुधि न थी और नख से शिख तक वे बास में बसी

थीं । फिर भला क्यों कर उन्हें मेरी सुध रहती ।

पहाड़ी ढाल से उतरती भीलनी की तरह माझ ढलने लगी थी और छायाएँ घनीभूत होकर पूर्व की ओर फैल रही थीं । शेष छायाएँ सिमटे या प्रसरे । जम्बु वृक्ष की छाया अपने स्थान पर अचल थी । उसकी गोलाई और परिधि का चक्र अभग था । मैं उसकी उपमा-उपमान के आधार पर जन्मान्तर के चक्र की गति को समझने का प्रयत्न कर रहा था । जीवन और मरण मनुष्य की निर्भयता की कसौटी है । जब मनुष्य जीवन के सभी रहस्यों का भेद जान लेता है और जीवित जगत् की कोई भी समस्या शेष नहीं रह जाती, तो उसके मन में मृत्यु की लालसा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि मृत्यु और कुछ नहीं एक उलझी हुई गुथी है, एक बेसुलझा, बिन बूझा रहस्य है ।

इस बीच दाइया और दासिया आई होंगी । उन्होंने मुझे विचारस्थ देखा होगा । लोग कहते थे : यह मुझे तो कुछ मालूम नहीं ।

दासिया दौड़ी-दौड़ी महाराज के पास गई और बोली—‘देव की जय हो । राजकुमार जहाँ विराजमान है, उस स्थल पर जम्बु वृक्ष की गोल छाया अब तक अपनी परिधि में अचल है, मानो वह अपनी गोलाई में युवराज की परिक्रमा कर रही है ।’

महाराज ने प्रसन्न होकर कहा—‘धन्य है भो, मेरा कुमार ।’

दासियों के साथ महाराज जम्बु-द्रुम के नीचे आए और मेरे कंधे पर धीमे अपना हाथ छुआकर बोले—‘बेटा, ऐसी नन्ही आयु में बहुत-बहुत सोच-विचार करना ठीक नहीं । तीसरा पहर ढल गया, उठो, जरा देखो, कितने-कितने लोग उत्सव में भाग ले रहे हैं और तुम हो कि यहाँ यों मौन-मौन बैठे हो ।’

मैंने उठकर पिताजी को वन्दन किया और आसन छोड़कर, एक ओर खड़ा हो गया । वे बोले—‘देखो कुमार, राहिणी नदी के पार पादप-पुंजों में मयूरो का सुन्दर नृत्य । वृक्षों की शाखाओं पर विरमते पक्षीगण कैसा मधुर कलरव कर रहे हैं । तुम्हारे साथी बालक भी विविध लीलाओं में भाग ले रहे हैं, अकेले तुम्ही यों उदास क्यों बैठे हो ।’

‘मैं उदास नहीं था पूज्यवर, मैं इस छाया चक्र के समान गोल-गोल घूमते जन्मान्तर और आवागमन के चक्र की गहराई पर विचार कर रहा था ।’

महाराज की आखें विस्मय से फैल गयीं—‘इस आयु में ऐसे विचार । अभी तो तुम निर्ये अबोध बालक हो बेटा । सखा-सगियों के साथ खेलो-कूदो, शोर मचाओ । मैं तो तुम्हारी चंचल चुहल-छेड़छाड़ की शिकायत सुनने को उत्सुक हूँ, और तुम यों साधुओं की तरह मौन साधे बैठे हो !’

‘साधु क्या होता है पिताजी ?’

महाराज चौंक उठे । उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई । साधु का तो नाम भी लेना नहीं चाहिए ।

‘कुछ नहीं बेटा, कुछ नहीं...कुछ नहीं...आओ घर चले ।’ पिताजी ने मेरा हाथ

थाम लिया । मे उनकी आज्ञा मान लोट पटा परन्तु अभी भी मेरे मन न यह प्रतिध्वनि घहरा रही थी—‘जन्मान्तर क्या है ? है या नहीं ? जन्म से अधिक आकर्षक है मरण का रहस्य या लेना ।’

हलोत्सव की घटना मुझे देवदत्त और अजातशत्रु ने सुनाई थी । काफी काल बीत जाने पर मुझे यह ज्ञात हुआ था कि वचपन से ही देवदत्त किस प्रकार मुझसे विरोध रखता है ?

वह चाहता था कि अवश्य मैं घर छोड़कर चला जाऊँ । अपने अधिकार ओर अपने परिवार का परित्याग कर दूँ, तो राज-सिंहासन उसे मिल जाए ।

वसुधा पर शासन करने की व्यक्ति की कामना की कहानी विश्व-इतिहास में अति विचित्र रही है । देवदत्त को भी देखा, उसके छल-छन्द भी देखे । परन्तु, मुझ अब तक समझ में न आया, राजा बनने के लिए व्यक्ति दूसरे आदमी की राह में क्यों कर काटे बोता है ? देव ने मेरे मार्ग में बहुत-सी बाधाएँ खड़ी की, किन्तु आज मैं सोचता हूँ उनसे मेरा क्या बिगड़ा । मेरा तो हित ही हुआ—उसके बोए शूल मेरे पथ के फूल बन गए ।

14

‘महाराज दण्डपाणि ने क्या उत्तर दिया बन्धुमान् ?’

‘अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी ने कहा है कि यशोधरा और सिद्धार्थ का विवाह-सम्बन्ध होने से पूर्व, कई सामाजिक असुविधाएँ हैं, पहले उन्हें सुलझाना होगा ।’

‘बन्धुमान्, क्या कहते हो ! मेरे बेटे के लिए, कोई अपनी लडकी देते हुए इस प्रकार समस्याएँ उपस्थित करे । स्पष्ट कहो, क्या बात है ?’

‘मैं पुनः क्षमा-प्रार्थी हूँ परम भट्टारक । दण्डपाणि कहते हैं कि उन्हें यशोधरा के हाथ के लिए और कई भी सामन्तों और सामन्त-पुत्रों के सन्देश मिले हैं ।’

‘लेकिन बन्धुमान् । चाद, चाद है और नक्षत्र, नक्षत्र है । कौन है वे ?’

‘महाराज धनुर्धर अग्निदत्त, खड्ग-विजेता नन्द, अश्वारोही अर्जुन तथा पराक्रमी देवदत्त स्वयंवर में युवराज के प्रतिद्वंद्वी हैं ।’

‘कुछ भी हो, यशोधरा और सिद्धार्थ के हाथ पीले होने ही चाहिए । कुमार के लिए यशोधरा से अच्छी दूसरी लडकी मेरी नजर में नहीं । और उस दिन, नाग-नृत्य के अवसर पर सिद्धार्थ को यशोधरा की भगिमा भा गई थी, यह सच है न, बन्धुमान् ?’

‘सत्य है देव । छन्दक भी यही कह रहा था ।’

‘और गृह-मंत्री, पिछली सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भी यह यशोधरा विजयिनी हुई थी न । मेरा ख्याल है उसी दिन से युवराज का हृदय भी यशोधरा के प्रति आकर्षित हुआ है । और यशोधरा के मन में भी प्रेमाकुर उगा है ।’

देव की जय हा, चरो की सूचना भी परम भट्टारक क अनुमान का पोषण करती है।'

महाराज ने दर्प से कहा—'गृह-मन्त्री बन्धुमान्जी, एक यशोधरा क्या, मे अपने वेटे के लिए लाख-लाख यशोधरा खडी कर सकता हू। यह तो तुम दण्डपाणि से कह देना। दण्डपाणि रिश्ते मे माया देवी के भाई होते हैं, इसी से मै चुप हू कि उस मृतात्मा को मेरी ओर से असन्तोष न हो, वरना जानते हो, अब तक यशोधरा युवराज के रनिवास मे होती।'

'धैर्य रखिए दयानिधान, अधीरता नीतिज्ञो को शोभा नहीं देती। मैं आज पुन महाराज दण्डपाणि की सेवा मे जाऊंगा।'

'नहीं। यशोधरा हो, या न हो यशोधरा। परसो वसत-पंचमी का शुभ दिन ह। सिद्धार्थ कुमार का ब्याह मै उससे आगे स्थगित नहीं कर सकता।'

'महाराज क्षमा करें, यशोधरा कुमारी राज्य की सौन्दर्य-प्रतियोगिता मे भाग ले चुकी है। जिसमे पंचों ने उन्हें साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किया है। इधर पुण्यनाम महिषी प्रजापति देवी भी उस पक्षवालों से चर्चा चला चुकी है। इतना ही नहीं, लोगो मे भी बात फैल गई है। ऐसी दशा में यशोधरा से सिद्धार्थ का ब्याह न होगा, कपिलवस्तु तथा शाक्य-कुल के गौरव एव सम्मान के विपरीत रहेगा।'

इसी बीच कक्ष मे छन्दक कही से आ गया। उसे देखकर महाराज शुद्धोधन के मन को सान्त्वना मिली। कहने लगे—'सुनते हो छन्दक, यह तुम्हारे दण्डपाणि क्या कह रहे है ?'

'सुन चुका हू नाथ। वे स्वयंवर चाहते है।'

'स्वयवर, स्वयवर...आखिर क्यों ?'

'दास का अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी को कुमार की शूरता में सदेह है। वे कहते है—जो सिद्धार्थ साधारण कीट-पतंग और पशु-पक्षियो को पीडित देख कर, रो देता है, वह समरस्थल में शत्रु का संहार कैसे करेगा ?'

महाराज सोच में पड़ गए—'हू' उन्होंने इतना ही कहा—'छन्दक, ध्यान रखना, दण्डपाणि का यह उतर कुमार के कानो तक न पहुंचे। अन्यथा मेरे भोले बेटे के मन को आघात लगेगा। अब बन्धुमान् तुम्ही बताओ मै क्या करू ?'

'मेरा विचार है देवेन्द्र, आप तनिक सिद्धार्थ कुमार को बुला भेजे और उनकी मन स्थिति देखकर, धीमे-धीमे दण्डपाणिजी का कथन स्पष्ट कर दे। हम उन्हे यह भी बता देंगे कि किस प्रकार देव, अग्नि, अर्जुन और नन्द भी यशोधरा के अभिलाषी है। युवराज शाक्य कुल के सिंह-शावक हैं। यह सब सुनकर, उनके मन मे देवपुत्रोचित शौर्य और उत्साह जागृत होगा। यशोधरा के अभाव की परिकल्पना से वे कदापि व्यथित न होंगे, अवश्य स्वयवर मै प्रतिपक्षियो को हराकर अपनी प्रिया का वरण करना चाहेंगे।'

फिर छन्दक बोला—'इसके अतिरिक्त, देव कुमार से गुप्त रखकर यशोधरा के

लिए दण्डपाणिनी पर जोर डालना या उनकी स्तुति करना दोनों शाक्य वंश की उज्ज्वल परम्परा के प्रतिकूल है।

महाराज रोप में भर गए और बोले—‘अवश्य प्रतिकूल है। कुमार को अभी बुलाओ छन्दक, मे अपने इकलौते का पराक्रम देखूंगा।’

मेरी उपस्थिति पर पिताजी ने मुझसे कहा—‘आज मैंने तुम्हें विशेष कारण से बुलाया है बेटा। वरना, इस समय तुम्हें कष्ट न देता।’

‘मैं आपकी सेवा में उपस्थित होऊँ, इससे बड़ा हर्ष और क्या हो सकता है ? कल ही तो मा रामचन्द्र के राजतिलक की कथा सुना रही थी। मैं जब-जब राम की पितृ-भक्ति की पुण्यकथा सुनता हूँ, तो मेरा हृदय गद्गद हो जाता है।’

महाराज ने मुझे छाती से लगा लिया और छन्दक तथा बन्धुमान् की तरफ देखकर गर्व से बोले—‘ब्राह्मणों की भविष्यवाणी याद है बन्धुमान् ? मेरा बेटा नौखण्ड भूमि का चक्रवर्ती अधीश्वर बनेगा।’

फिर वे मुझे अपने पास बिठाकर बोले—‘सुना है तुमने ? महाराज दण्डपाणि की दुहिता यशोधरा कुमारी का स्वयंवर निश्चित हुआ है।’

‘मैंने सुना है, शैवालिका देवदह गई थी, वही से सवाद लाई है।’

‘तो सिद्धार्थ तुम भी स्वयंवर में प्रतियोगी बनोगे न ?’ पिताजी के चेहरे पर आशा, आकांक्षा और उत्सुकता के भाव, शान्त सरोवर में, एक के बाद एक आती लहगे-से आए, गए।

यशोधरा के प्रति मेरा आकर्षण अबोला न था। फिर भी, विवाह-सूत्र में वधने के लिए मैं प्रस्तुत न था, क्योंकि उससे वैराग्य की उस राह में अवरोध आता था, जिसका राही मैं बनना चाहता था। यशोधरा मुझे एक सहेली की भाँति प्रिय थी। इसका यह अर्थ तो न हुआ कि हम दोनों विवाह के बन्धन में बंधे ? वह चाहे जैसा, अपना जीवन-पथ चुने, परन्तु मुझे तो अपनी राह चलना है।

आज मैंने देखा, मेरे इस निश्चय के सफल होने में अनेक कठिनाइयाँ हैं। पिता का प्रेम मेरे मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है, और ज्यों-ज्यों मैं उनके लिए मोचता हूँ त्यों-त्यों यह पितृ-प्रेम कमजोरी बनता जाता है। माँ की मृत्यु के पश्चात् पिताजी का मन कोई न बहला सका। छन्दक और शैवालिक कहते रहे हैं, मुझे देखकर पिताजी की आशा फलवती होती है।

तब मैंने अपनी भावुकतावश यह तय किया कि पिताजी के हृदय को ठेस न लगे, ऐसा कुछ करना चाहिए और इस विचार—वीथि पर चलने पर मुझे उस जगह रुककर सोचना पड़ा, जहाँ विवाह अनिवार्य हो जाता है। तब मैंने अपने से ही कहा, चलो, पितृ-प्रेम के पाश में बंधना ही है।

दूसरा कारण यह भी रहा कि यदि मैं असित ऋषि के उन शब्दों का अनुगामी बनता, जो मेरे कानों में जागृत रहे हैं, तो यशोधरा का विवाह अन्यत्र-अन्य युवा से हो जाता, इसमें हमारे कुल की कोई बड़ी हानि चाहे न होती, परन्तु हमें नीचा

तो देखना ही पड़ता।

यशोधरा में साथ सैर को गई है। हसी-खेली है। लोग तो यह समझते हैं कि उसके पीछे है मेरा अनुराग। परन्तु, मेरा अनुराग तो अपनी मा के लिए, खूटे से रस्सी तुड़ाकर भागने का प्रयास करते छाने-जैसा है। मेरा अनुराग-छाना उधर जाने का ललक रहा है, देश-देशान्तरो में, जहाँ ग्राम-नगर के एकान्त कुटीर में कोई अस्सी वर्षीया वृद्धा भूखी बैठी है। मेरा अनुराग उसके लिए आकुल है, जिनके पास देव-प्रतिमा पर चढ़ाने के लिए चार चावल भी नहीं है। मेरा अनुराग उस दिशा में व्यग्र है, जहाँ पेड़ की छाया में कोई अनाथ प्रसूता गरजते बादलों से वचन की कोशिश कर रही है। यदि मैं उसकी नग्नता का भौतिक सुख-साधन और सुविधा से ढक सका, तो मेरा बुद्धत्व पूर्ण हो जाएगा। मेरी लगन उस ओर है जहाँ आदमी, दूसरे आदमी की पीठ पर सवार है। जहाँ हरेक बड़ा अपने से छोटे का भक्षण कर रहा है, जहाँ प्रत्येक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी की मृत्यु पर आधारित है। जहाँ ज्ञान के जिज्ञासु का अन्तर साधनों के अभाव में तड़प-तड़पकर रह जाता है। वहाँ है मेरा तीर्थ। वही है मेरे अनुराग का रगमंच।

ये थी राहें। लक्ष्य और दूरियाँ—मैं इनकी ओर देख-देखकर सोचता रहता, विचार करता। निर्णय और कल्पनाएं बाधता। और इस सारी प्रक्रिया के मध्य उभर आती दो छायाएँ—पिता का चेहरा और यशोधरा की तस्वीर। एक आशाकुल। दूसरी प्रेमाकुल।...

यशोधरा की अनावृत्ता झाँकी। छरहरा बदन। त्रैलोक्य नचातीं आखें और दिग्विजय भावभंगिमाएँ। ऐसा प्रतीत होता, उसने अपने चेहरे का घूँघट मेरे चेहरे पर डाल दिया है और यो, अवगुठन नहीं है चन्द्रमा पर कि वह अपनी कलाओं में ओर भी सरस और सजग हो उठा है।...

लेकिन स्त्री का क्या ? उसकी एक मुस्कान ही इस प्रकार खिल उठती है कि उसके चेहरे का घूँघट बन जाती है !

15

महाराज शुद्धोधन बोले—‘नमस्कार करता हूँ। खूब आएँ कालदेवल ! अभी ही हम ने कुमार को यशोधरा के स्वयंवर में भेजा है।’

‘अच्छा, बहुत अच्छा किया राजन् ! तुम प्रतिदिन उसके वैराग्य का मार्ग प्रशस्त करते जा रहे हो।’

‘क्या कहते हो ?’

‘ठीक कहता हूँ।’

‘तुम्हारा ठीक बेठीक होता है और तुम्हारा बेठीक बेठिकाना-ठीक होता है।’

‘यही ईश्वरेच्छा है। इसे तुम नहीं समझ पाओगे।’

‘मैंने अभी बन्धुमान् को बुला भेजा है कि स्वयंवर के समाचार हम तक पहुंचाने का प्रबन्ध हो जाए।’

‘इतनी-सी बात। लो, मैं तुम्हें यहीं बैठे स्वयंवर का दृश्य दिखा देता हूँ।’

इतना ही कहकर कालदेवल ने तीन बार ताली बजाई। पल-भर में देवदह नगर में स्वयंवर-स्थली का दृश्य मूर्तिमान् हो उठा।

विशाल-पण्डाल। दर्शको का अपार-सागर। सज्जा ऐसी कि जैसे दिशा-दिशा ने सिगार किया है। सभी आमन्त्रित पाहुन यथास्थान बैठे हैं। एक ओर यशोधरा अपनी सहेलियों के साथ उपवन के फूलों में गुलाब-सी सुशोभित हो रही है। दुःखि वज्र रही हैं।

‘प्रतियोगियो में तीव्र प्रतियोगिता चल रही है। वह देखो, नन्द का रग-विरगे पखोंवाला तीर। अरे, कितनी दूर स्थित लक्ष्य को उसने बेध दिया। और यह कौन ? अर्जुन है। यह तो उसी दूरी से शर-सन्धान कर रहा है। अब अग्निदत्त की बारी है। वाह, कैसा मनोरम है इसका हस्त-लाघव। अब देवदत्त आया है। देखो महाराज, दर्शक उसके स्वागत में तालियां बजा रहे हैं। और वह भी अपने गर्व से वोझिल है। अरे, यह तो और दूर चला गया। क्या यहां से चलाएगा तीर ? वाह शाक्य-कुल का शौर्य। तीर कैसा निशाने पर बैठा, जैसे वायु-तरंग की चपेट में पतिगा आया हो। जरा, यशोधरा का मुख-कमल देखो राजा, देवदत्त की इस विजय राका में कुम्हला गया है। लोग फिर तालिया बजा रहे हैं। यह लो तुम्हारा सिद्धार्थ आ गया। सच, इसके हाथ में रूपहले रंग प्रत्यक्षा वाला धनुष बड़ा मोहक है। यह अपने किन्हीं विचारों में खोया है क्या ? किधर चला जा रहा है ? लोग हस रहे हैं। राजा का बेटा हुआ तो क्या ? जिसकी त्रुटि होती है जनता उस पर हसती है। भूल न जाओ शुद्धोधन, जनता सदैव विजेंताओं का वन्दन करती है।...अब रुक गया है कुमार। यह तो देवदत्त के स्थान से भी आधा कोस दूर चला गया।’ ‘यहां से करंगा मेरा बेटा शर-सन्धान।’ बड़े फूल रहे हो राजा। अभी तो आशा के झूले में झूलो। निराशा जब आएगी, तो तुम्हें प्रसन्न न पाएगी। दुःख हमें इतना कष्ट नहीं देता, जितना सुख के विगत दिवसों का स्मरण। लो वह चला...ती...र...अ...धन्य है। अब उद्धोषक की घोषणा सुनो—‘प्रतियोगी सुने। प्रतियोगिता के पश्चात् कुतर्क न उठाए। यह अन्तिम अवसर है, जो कुमार अपना घोड़ा चौगान के चौथे चक्कर में सबसे पहले राजकुमारी यशोधरा के निकट पहुंचाएगा, भाग्यलक्ष्मी-सी यह राजकुमारी उसी का वरण करेगी। जीवन में धन्य होने का यह अवसर फिर न आएगा। तरुणवरो, सावधान।’

महाराज। नन्द और देवदत्त के अश्व अभी सबसे आगे हैं। दूसरा चक्कर भी समाप्त होने आया है। देखना है क्या होता है...

अरे वाह, कन्धक की गति ! अब वही अग्रणी है सूर्य की पहली किरण के साथ मुदित होते सरोज-सा खिल रहा है यशोधरा का वदन और वह जयमाला

शाक्य-कुल-युवराज की ग्रीवा में खिल रही है। आज तुम्हारी यश गथा से दशो दिशाएँ महक उठी हैं महाराज !...भगवान् बुद्ध की जय !..यह क्या बक रहा हूँ मैं ? तुम नहीं जानते भोले शुद्धोधन—यह मेरे प्राण प्रभु की विजय है। आज माया ने ज्ञानी की शरण स्वीकार की है। माया-यशोधरा चाहे चरणों की दासी बनकर ही ज्ञान की चेतना को विमोहित करना चाहे। परन्तु मुझे बताओ राजन्, कौन हैं वह, जो प्रकाश को पर्दे से ढक सका है। समस्त ससार साक्षी है, आज तक कोई सूरज के मुख पर अवगुण्ठन न डाल सका !..’

परम भट्टारक अपने आनन्द में इतने मग्न थे कि उन्हें कालदेवल की वाचालता विचलित न कर सकी। ध्यान की किरण जब प्रत्यक्ष की धरती पर उतरी, तो वे कहने लगे—‘आज मैं तुम्हें पेट-भर पकवान खिलाऊंगा कालदेवल। कुमार की वीरता का गुण गाओं, तुम्हें मोदक उड़ाने का मौका मिला है। चलो, आज मेरे जी का भार हल्का हुआ। मैं जानता था, कोई पुरुष सुन्दरियों की प्राप्ति का अवसर खोना न चाहेगा। कामिनियों के पल-भर के एक कटाक्ष ने तपस्वियों की सहस्र वर्ष की तपस्या पर विजय पाई है। यह युग-युग की कहानी है !.. अब तो सिद्धार्थ कदापि विराग की राह पर न जा सकेंगा। हा...हा ..हा ! मैंने अपने प्यारे बेटे को आखिर रेश्मी फदे में फसा ही लिया। अब मेरा बेटा सप्तद्वीप-नौखण्ड वसुन्धरा पर राज्य करेगा। पृथ्वी, पाताल और अबर शाक्य-कुल की कीर्ति-गाथा गाएंगे। कालदेवल ! बोलो कितने लड्डू खाओगे ?’

‘शुद्धोधन ! तुम मृत्यु मानव हो। इसीलिए हर्ष के समय हंसते हो और विषाद की वेला रोते हो। सुख-दुःख में समान रहने की तटस्थता तुममें नहीं, इसी से तुम जीते हो, इसी से तुम मरते हो। विजय-पराजय के चक्र के ऊपर-नीचे आते-जाते हो ..मैं कह चुका शाक्येन्द्र, जिस प्रकार गुहा से निकले केसरी का गम्भीर गर्जन निश्चित है, जिस प्रकार निशान्त पर दिवस का उदय निश्चित है, जिस प्रकार आकाश में ऊँचे फेंके गए ढेलों का भूमि पर आना निश्चित है, उसी प्रकार युवराज का सम्बुद्धत्व निश्चित है। वह अवश्य विरागी बनेगा। एक क्या, तेरी लाख-लाख यशोधराओं की अलकें उसे बाध न पाएंगी। रसवन्तियों की कचन जंघाओं का जादू उस पर नहीं चलेगा। वह अवश्य घर छोड़कर, बेघर होगा। तेरी देखती आंखों कपिलवस्तु की राजराहों पर भिक्षा का पात्र लेकर भटकेगा।’...कापालिक कालदेवल के कठोर कण्ठ से धीमा स्वर फूटा।

स्वर यह दिशाओं से टकराकर, धीमा पड़कर लौट आया। और बोला महर्षि—
‘भगवान् बुद्ध की जय हो, भगवान्...’

‘तेरे मुह में आग लगे कालदेवल !’

—महाराज ने कहा।

उस दिन मैंने यशोधरा से कहा था—

‘देवी यशोधरं, तुम्हें पाकर मैं अपने जीवन की रिक्त अपूर्णता को अब पूर्ण मानता हूँ। तुम्हारा वरण कर मेरे मन का शून्य रसानन्द से खिल उठा।’

पहले तो वह नीची नज़रे किए, चुपचाप खड़ी रही। फिर धीरे-धीरे उसने सालस पलके उठाईं। कैसी उनींदी आंखें थीं वे। उसके कर्ण-विचुम्बी लोचनों में अथाह रस था और प्रच्छन्न गहराई की मौन प्रशान्ति भी थी।

फिर उसके अधरो में स्पन्दन हुआ। कुछ लाज गई, कुछ झिझक मिटी और बोली वह—‘देव का अनुग्रह है। मैं धन्य हुई नाथ। वर्षों से जो सपना पाल रही थी पूरा हुआ।’

‘यह तो मेरे मन की कही। स्वप्न तो मैंने भी देखा था, पर जानती हो, पुरुष अपने मन का स्वप्न किसी से कहता नहीं, इतनी कठोरता उसमें होती है।’

मेरा इगित कृशा-गौतमी से कहे यशोधर के उस स्वप्न-निवेदन की ओर था, जो देवदत्त और हंस वाले दिन कृशा ने मुझे सुनाया था।

लडकियां बात जल्दी समझ जाती हैं। उनमें संकोच और गहराई अधिक होती है। कहने लगी—‘जिसमें जितनी कठोरता अधिक है उसमें उतना प्यार भी कम है। देव। पुरुष हो या स्त्री मन की कृपणता को हम, मनुष्य में स्नेहिल मृदुता का अभाव न कहेंगे?’

मैं मुस्करा दिया। उसका कथा अपनी अनामिका और तर्जनी अंगुलियों से थपथपाकर, बोला—‘ठीक कहती हो, किन्तु, इसका दूसरा पहलू यह भी है कि व्यक्ति की वास्तविकता इसमें नहीं है कि वह तुम्हारे सामने क्या-क्या प्रकट कर देता है, मेरे ख्याल से तो उसकी यथार्थ वास्तविकता, जो वह प्रकट नहीं कर सकता, उसमें है। अतएव, यदि हम किसी को पूर्ण रीत्या जानना चाहे तो वह जो कुछ कहता है, केवल वही सुनकर न रह जाना चाहिए, वरन् वह भी सुनने और पाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसे हमारे सामनेवाला व्यक्ति नहीं कहता, कहना नहीं चाहता या कह नहीं सकता।’

‘आप वड़े उदार हैं नाथ!’ उसने कहा था।

दो-पांच पल पश्चात् अपने हाथों सुराही से एक छोटी प्याली भरकर, उसे देते हुए मैंने पूछा था—‘तुम्हें यहाँ कोई कष्ट तो नहीं? देवदत्त के देवाभिषिक्त, सुरकामी प्रासादों की सुविधा यहाँ कहा? वह तो तुम्हारी अपनी फुलवारी थी, अपना साम्राज्य था।’

मेरे मन में सकांच था। आखिर, पराए घर आई दुल्हन को सब नया, अजाना और सूना तो लगता ही होगा।

देवी तुरन्त बोली—‘मैं यहाँ अपने मायके से भी अधिक प्रसन्न और आश्वस्त

हू। देव की अमर छाया में मुझे कौन-सी दुविधा और असुविधा हो सकती है ? परम भट्टारक के वे राजप्रासाद हैं यह, जिनकी कामना शची और अन्य अमरागनाओं के मन में भी ललकती रहती है।’

मैं जान गया, बड़े शिष्ट और संस्कृत कुल की कन्या है यह। जितना ऊँचा इसका कौलीन्य है, उतना ही क्षिप्र और प्रखर इसका चैतन्य है।

वह कहती रही—‘और पूज्या मां का स्नेह तो मेरे मन से अपनी जननी की स्मृति भी विसरा रहा है। रही फुलवारी और साम्राज्य की बात, सो स्वामी के हृदय-देश का एक कोना भी सुलभ हुआ, तो मैं उसे अपना निःसीम साम्राज्य समझूँगी। आर्यनारी के लिए पति की सेवा और परिवार की मर्यादा के क्षेत्र से बड़ा साम्राज्य और क्या हो सकता है देव ? मेरी मा ने तो मुझे यही कहा है।’

मैं खुश हुआ।

फिर यो ही एक-दूसरे को देखते, हम बैठे रहे। जिस प्रकार भरा-पात्र खाली होता है, और खाली पात्र खाली हो जाने के लिए भर जाता है, उसी प्रकार रात की प्याली में समय का सोमरस ढलता रहा। हवा में एक हल्की गुनगुन थी, जैसे कार्यलीना कोई लड़की गीत गुनगुना रही हो ! तारों में एक सकेत था, जैसा, समर्पिता की नजरों में होता है।

स्वयं रात में ही इतनी मादकता और विह्वलता थी कि सुगकलशां और नर्तकियों की जरूरत न थी।

मुझे लगा कि यशोधरा एकान्त चाहती है। मैंने सबको विदा किया।

आख जब खुली तो मैंने देखा—अपनी बगल में मंगल-घट लिये यशोधरा पास में खड़ी है।

हमारे वर्षा-प्रासाद की छत पर यशोधरा इन दिनों एक छोटा-सा बगीचा अपने हाथों लगाया था। एक साझ जब आकाश में जल-रहित बादल गरज रहे थे। मैं इस उपवन में आया तो क्या देखता हूँ कि एक वल्लरी की ओट बैठी यशोधरा यूथिका का गजरा गूथ रही है। मुझे देखकर उसने कलियों को आचल से ढक दिया और चूनर से सिर ढंकती हुई उठ खड़ी हुई। मैंने पूछा—‘क्या हो रहा है ?’

वह कोई बहाना न पा सकी।

जूही के गजरे मेरी नजरों से वह इसलिए छिपाना चाहती थी कि जूही मुझे भी प्रिय है, वह यह जानती थी। अतः शृंगार-आयोजन पहले ही प्रकट न हो जाए, इस सकोच में वह व्यस्त रही।

‘यह तो हम जान गए कि तुम्हारे पास जूही के फूल हैं, अब उन्हें दूराने से क्या ?’

‘फूल जब तक देवता के शीश पर न चढ़ जाए, पत्तों की ओट में छिपा रहता है। कलियों और कामनाओं को सदैव अपने तक ही रखना चाहिए।’

‘कामना अप्रकाशित रहेगी, तो पुजारिन को वरदान कैसे मिलेगा ? देवता क्यों

कर जान पायेगा कि भक्त की अभिलाषा क्या है ?

‘जो पुजारी के मन की न जान पाए, वह देवता कैसा ?’

इस नर्क ने मुझे निरुत्तर कर दिया और यशोधरा ने विजय की उमंग में अपनी बड़ी-बड़ी आखों के पलक पसारकर देखा।

मैंने कहा—‘यशोधरे, तुमने मेरे मन का बदी बना लिया है।’

‘झूठ !’ वह बोली।

‘कौन-सा प्रमाण दू ?’

‘प्रमाण नहीं चाहिए। उस दिन जब आप प्रतियोगिता में आए, मेरे मन में बड़ा द्वंद्व था। आप पर बड़ा रोष आ रहा था, प्रतियोगिता के इस पचड़े में क्यों पड़े ?’

‘तो क्या तुम्हें स्वयंवर से उठा ले जाता ?’

उसने चुप रहकर कहा—‘कथक में इतनी गति और शक्ति तो थी।’

‘तो यूँ ही कहो न, कि मेरे साथ कथक पर बैठकर हवा में सैर करना चाहती थी। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं हुआ कि हम लोक में अपवाद के पात्र बनें।’

‘और यदि देवदत्त जीत गए होते ?’

‘तो क्या बुरा था ? कुंअरानी तो तब भी तुम शाक्य-कुल की होती।’ मैंने उसके चेहरे को पढ़ना चाहा। एकदम उसका रंग उड़ चला है।

‘चलो, हटो।’ कहकर वह रुठ गई।

मेरी मनुहार उसने नहीं मानी। इस बीच बादल गड़गड़ाने लगे और नैर्ऋत्य में बिजलिया कड़कड़ाने लगी। मेघ और दामिनी के इस गर्जन-तर्जन से यशोधरा डरी जा रही थी। मैं उसकी ओर देखता खड़ा रहा।

सहसा वह सिसक-सिसककर राने लगी। मैं निकट गया। उसकी पीठ सहलाकर पूछा—‘क्या बात है ?’ उसने उत्तर न दिया। अपने मान को ऐंठती रही। मैं जानता हूँ यश का स्वभाव बड़ा गर्वीला है। प्रकृति से ही वह मानिनी है।

फिर हाथ में हाथ लेकर पूछा—‘कहो, क्या बात है ?’

उसने नजरे उठाई। कपोल भीग रहे थे। लोचन लाल हो गए थे—‘देखते नहीं, हमें बरखा से भय लग रहा है।’

‘तो यह पहले ही कह दिया होता।’

वह दर्प से खड़ी हो गई—‘तुम्हें तो हर चीज कहनी पड़ती है।’ और मुह फुलाए, पेर पटकती, वहां से अपने कक्ष में चली गई।

मैं सोचता ही रह गया आखिर मेरा क्या कसूर है ?

अभी उठकर भोर पूरव की खिडकी में खड़ी अपनी आखें मल रही थी कि मैं प्रातः वन्दन के लिए गौतमी मा के कक्ष में गया। वे अपने निजी प्रकोष्ठ में थी, इसलिए मैं बैठा उनकी प्रतीक्षा करता रहा। जब ढेर होती देखी, तो मैंने उनके सग्रहालय से एक पुस्तक यो ही उठा ली और पृष्ठ जो खुल गया, तो उसमें मैंने पढ़ा—

‘उसके लिए तुम्हें एक वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।’ महर्षि अगिरा ने कहा।

‘करूंगा देव।’—महाशाल शुनक के पुत्र शौनक का निश्चय अचल था।

‘तो एक वर्ष अखंड ब्रह्मचारी रहो। उसके पश्चात् मेरा पता लगाते रहो, जहाँ मेरा वास हो वहीं आ जाना। यदि तुम्हारी साधना सफल होगी, तो अवश्य तुम उस परम तत्त्व को जान सकोगे।’—

इतना कहकर महर्षि अपनी यात्रा पर चल पड़े। शौनक ने साधना के साफल्य-हेतु ब्रह्मचर्य की अविराम आराधना की।

एक एक दिन कर, वर्ष बीत गया।

और एक भोर ब्राह्म मुहूर्त में शौनक, अगिरा मुनि की खोज को चल पड़ा।

समस्त आर्यावर्त का पर्यटन कर लेने पर उसे बद्दीवन में महामुनि का दर्शन हुआ।

किसी को आया जान, ध्यानमग्न मुनि ने नेजवत लोचन खोलकर देखा— विनीत शौनक सम्मुख खड़ा है—‘भगवन्। आदेशानुसार सेवक समुपस्थित है।’

‘कुछ देर विश्राम करो!’—कहकर, मुनि पुनः ध्यानलीन हुए।

दूसरे प्रभात जब, किरणें कमलों को वरने आई और मलयानिल अधिक भक्त हो बहने लगा तो शिष्य ने निवेदन किया—‘महाप्रभु, मेरे लिए क्या आज्ञा है?’

‘तुम्हारी साधना सफल हुई। तुम महाशाल शुनक के योग्य पुत्र हो। आज उस परम गोप्य विद्या का ज्ञान-रहस्य पाकर लोक-परलोक को प्रकाशित करो।’

प्रसन्न हो शौनक ने गुरु के चरणों में दण्डवत किया।

और महर्षि अगिरा कहने लगे—

‘वत्स। विद्या दो प्रकार की, परा और अपरा। अपरा का ज्ञान-लाभ कर तुमने ससार और उसके सुखों का भोग किया है। परा-द्वारा ब्रह्मलोक और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति होती है।...’

‘धन्य, धन्य गुरुदेव।’

‘सौम्य-। तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा, वेद-ज्ञान और शास्त्र-पठन से अविद्या का तमस् तिरोहित नहीं होगा। वेद और शास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति जरा-मरण और आधि-व्याधि से अभय नहीं हो सकता। ये लोक-जीवन के उत्थान और ज्ञानार्जित सम्मान के साधन-मात्र हैं। अतः समुख शौनक, मेरे मत में वेद-वेदान्त अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं।’

‘क्षमा हो, पूज्य, वेद तो स्रष्टा की वाणी है।’

‘इसीलिए उन्नति और ज्ञान के दाता है। मात्र ईश-निर्मित होने से कल्याण-दायी नहीं हो सकते। तात, विपधर सर्प और हिंस्र सिंह भी तो परम पुरुष-द्वारा सृजित है।’..

शौनक मुस्कराकर रह गया।

तो वत्स, सम्यक् द्रष्टा सयमी हो उस परम तत्त्व का दर्शन कर सकते हैं। वह अतीन्द्रिय है। निगकार, निर्विकार, सद्य, सनातन है। परम सूक्ष्म में स्थित वह दह रहित है। सर्वव्यापी है और अगोचर भी। जानते हो, पचभूतों का ‘कारण, कर्ता धर्ता, हर्ता’ भी वही है। तुम परा-ज्ञान से इस अजर, अविनाशी तत्त्व को जान सकोगे।

‘जिनके मन में कामना है, प्रियदर्शन। वे ही कर्म-रत हैं। कर्म, फल प्रदान करता है। फल का भाग—हर्ष-विवाद का कारण है। यह तो सांसारिकता है। और साम्य। कर्माचरण से पुनर्जन्म होता है। प्राणी बारम्बार विश्व में भटकता है, यह तो मुक्ति नहीं बन्धनबद्ध अनुरक्ति है। अतएव जो ब्रह्मचारी रह, केवल ‘ब्रह्म’ में, अपने चित्त की अविचल स्थायी-स्थिति स्थापित करते हैं वे मरणोपरान्त ब्रह्मलोक में जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नहीं होता। यह तो कहूँ ‘मुक्ति’ है।

‘और तात, चित्त दे सुनो ! इन्द्रिया बहिर्मुख हैं। है न ? तो, बहिर्मुख इन्द्रिया बहिर् जगत् के वस्तु-विषयों का ही स्वीकारेगी। अन्तर्लोक में उनका प्रवेश नहीं। हा, जब वे अन्तर्मुख होगी तो उनकी गति और अवस्था परिवर्तित होगी, पर वत्स परिवर्तन की यह क्रिया स्वाभाविक या आकस्मिक तो नहीं, उसके लिए बड़ा तप करना पड़ता है, साधना करनी पड़ती है, जप-जागरण करना पड़ता है।

‘अन्तर्मुखी होओ और उस अकर्मा-कर्ता को जानो। दीर्घायु। जिस भाति तन्तुवाय-मकड़ी बाह्य आश्रय से रहित रहकर ही अपने तन से अपने जाल फैलाती है, एक चक्र-सृष्टि कर लेती है। फिर इच्छा होने पर उन्हें समेट लेती है, तन्तु-समुदाय को अपने में आत्मसात् कर लेती है। पुत्र। उसी प्रकार वह परम तत्त्व सृष्टि करता है और उसे पुनः अपने विराट रूप में विसर्जित कर लेता है। आत्म-ज्योति उस परमात्म ज्योति में लय होती है।

‘सुभावुक ! उर्ध्वगामी साधनालीन साधु उस तत्त्व का प्रतिपल चिन्तन करते हैं। वह तो सर्वत्र विद्यमान है। उसकी आस्ति तो विश्व का यह अस्तित्व प्रकट कर रहा है। अतः वही ज्ञेय है। सबकी सत्ता, समस्त आलोक, समग्र ज्ञान उसकी झलक मात्र है। वही इनका मूल है, यह तो मैं बता चुका हूँ। शौनक, जिस प्रकार शर लक्ष्य का साधन करता है, उस प्रकार, एक चित्त हो अमल अन्तःकरण से उसमें तादात्म्य होने का प्रयास करो।

‘भद्र। वह गगनोदय, मनोमय है। वह नितान्त निरामय है। बुद्धि भी उसकी प्राप्ति का एक साधन है। मिथ्या का त्याग करो। सत्यधारी बनो चित्त-शुद्धि का नाम तप है। इन्द्रियों को जीतो। इनकी चंचलता आसक्ति की जननी है। निरासक्त बनो।

ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो। कामना ही रखना है तो सुख-भोग की न रखो, उस ज्योति की उपलब्धि की कामना करो।

‘पुत्र, अविद्या एवं आसक्ति, मिथ्याचरण एवं सांसारिकता के कारण आत्मलाभ नहीं हो सकेगा, इन शत्रुओं पर विजय पाओ। उस तत्त्व के लिए प्रार्थी बनो। प्रार्थना करो और विषय-वासना से मुक्त बनो—यही मुक्ति है। उस शुभ परात्पर, परम तत्त्व को जान कर तुम उसमें लीन हो, ‘ब्रह्मरूप’ हो जाओगे। जाओ, तात। उसी प्राप्य, उसी काम्य तत्त्व के हेतु तर्पी बनो ! जाओ तात, महाशाल का पवित्र नाम सार्थक करो। जाओ तात, मुक्ति पाओ।’

कथा पढ़कर मैं स्तब्ध रह गया।

मेरे मन में भी उस परम तत्त्व को जानने और पाने की जिज्ञासा उठी और एक पल तो ऐसा लगा जैसे सारा समार सूना है और मैं उसमें एकदम अकेला हूँ।

तभी, मां बाहर आई। इनकी सुन्दर केशराशि से जल की बूंदें चू रही थीं। वे स्नान-गृह से लौटी थी।

मेरे हाथों ने यह पुस्तक, जिस पर एक ओर लिखा था—उपनिषद्, उन्होंने झपट कर ले ली और ग्रन्थाधार पर उसे रख दिया। फिर हैरानी से मेरा मुख देखती रह गई—‘बेटा, तुम अभी छोटे हो, बड़े हो जाओ तो ऐसे शास्त्र पढ़ना। तुम्हारे तो हंसने-बोलने और खेलने-कूदने के दिन हैं। और यशोधरा कैसी है ? उससे झगड़े तो नहीं ?...

मैंने मन-ही-मन कहा—

‘आपको क्या मालूम कौन झगड़ता है ? माताजी तो बस समझती हैं, जैसे मैं झगड़ने के लिए ही यशोधरा को ब्याह लाया हूँ। उनका ख्याल है, उनकी बहू बड़ी भोली और भली है पर उसमें जो मान-गुमान और गर्व है, उसे मां कैसे जाने-पहचाने ?’

‘कैसी है यशोधरा ? मैं पूछती हूँ, सुनते नहीं ?’

‘ठीक है मा, ठीक है।’—मैंने जल्दी कहा, जल्दी वन्दन किया और वहाँ से भाग चला।

गौतमी मां मुझे देखती रह गई ?

18

‘राम राजा, राम परजा, राम साहुकार है।’ एक क्षीण स्त्री कंठ से निकला यह करुण स्वर मैंने सुना—‘बसो नगरी, तपो राजा धर्म का उपकार है।’

दिन-भर प्रासाद की भारी चहल-पहल से ऊबा मेरा मन शान्ति चाहता था कि

कुछ सोच सकूँ परा आर अपरा का ज्ञान प्राप्त करूँ परा द्वारा मुक्ति मिलने का जो आश्वासन अगिरा ने शानक को दिया था वह मुझे आकर्षित कर रहा था मैं भी मुक्त होना चाहता हूँ, और लोगों को इस सारे क्लेश और कल्मष से मुक्ति दिलाना चाहता हूँ, यह दाम्निष्ठ्य, यह वैषम्य, यह अनाचार न रहे। मनुष्य अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सके। आज वह जो अपराधी की तरह दबा हुआ, झुका हुआ है, उसे केवल शोषण और सामाजिक असमानताओं के कारण ही तो ? मैं इस आदमी को आजाद करूँगा। मैं इससे कहूँगा—‘तुम स्वयं अपने स्वामी हो, अपने विधाता हो, अभय होओ। अपनी रचना आप करो, उठकर खड़े हो जाओ’। इसलिए कुछ चिन्तन-मनन मैंने आवश्यक माना, ताकि कुछ अपने विषय में भी विचार कर सकूँ। जो आज तक देखा, उसे समझना है।

भोजन-पान और सुरा-संगीत से ऊबकर, और सुन्दरी-समुदाय के कोकिल-कलरव से भागकर, मेरा मन गहन विजन के एकान्त में झरते, सूने निर्झर का मौनालाप सुनना चाहता था।

आज बलाहक की गति बड़ी मोहिनी थी। मैं अपनी चिन्तना के अदृश्य भाव-लोक में खोया-खोया-सा था कि, ‘राम राजा, राम परजा’ गाते, रमणी-कंठ ने मेरा ध्यान भंग किया—

‘एक कासापन मिले बाबा...एक कासापन मिले बाबा, कोई..इस पगु प्राणी को रोटी का टुकड़ा दे अय्य बा।’

राजमार्ग आज भी भारी भीड़ से भरा था। हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर बढ़ रहा था, सो छन्दक से मैंने रथ रुकवाया। रथ जब रुका, तो मैंने रेशमी तिरस्करणी तनिक हटाकर बाहर देखा—कासापन मांगने वाली उस अभागिन के साथ, अपनी देह को धरती पर घसीटता हुआ एक देहधारी था ! मैं उसे विस्मय से देखता रह गया। वह अस्पष्ट शब्दों में जाने किस वस्तु की याचना कर रहा था।...बड़ा अशुभ और वीभत्स था उसका दर्शन—एक-एक अंगुल वह रेंग रहा था। उसके समस्त शरीर पर सफेद धब्बे और व्रण थे। क्षत-विक्षत उसकी काया से लहू चू रहा था। इससे उसके पीछे-पीछे काले राजपथ पर एक लाल रेखा बन गई थी। हजारों मक्खियाँ उस पर भिनभिना रही थीं। उसके आख, नाक, मुँह और कानों के छिद्र मक्खियों के समूह से ढककर, अब, केवल काले धब्बे-से दीख रहे थे। दूर-दूर तक हवा में एक धिनौनी दुर्गंध भर गई थी। और उधर से जो राहगीर गुजर रहे थे, वे उसे देखकर अपने नाक पर वस्त्र-छोर लगा लेते थे। और दूर से आती, वार्तामग्न, खिलखिलाती नागरियाँ अपने अचल से श्वास रोक लेती थीं और उस पगु की ओर, उस अभागिन की ओर दृष्टि डाले बिना, जल्दी-जल्दी पर उठाती, चली जाती थीं।

‘पानी-पानी’ उस जीव की पुकार ने जानेवाली नागरियों में से एक को रोक लिया। उसने आगे बढ़कर उस अभागिन से कहा—“बहन, इसे पानी पिलाओ। बेचारा धूप में तड़प रहा है।”

मेरे पास पात्र नहीं है

पात्र में लाती हूँ कहकर वह समीप के आवास में गई और जलपात्र लिये लौटी। मैंने देखा वह पगु बुभुक्षित की भाँति पात्र पर झपटा और साँस रोके, लम्बी जीभ निकाले श्वान की भाँति छप्-छप् कर पानी पीने लगा। उसके मुँह से जल की बूंदें और मक्खियाँ एक साथ ही उड़ रही थीं।

जल पात्र ले आने वाली उस किशोरी की सहेलियाँ उसे छोड़कर आगे बढ़ गईं। जल पिलाने पर वह अकेली रह गई, तो उसने गोधूम के खेत में एकाकी हिरणी की तरह चौककर, चतुर्दिक् देखा और अपने को एकाकिनी पाकर वह सहमकर रह गई।

मैंने उसकी यह दशा देखकर कहा—“शुभे, अन्यथा न समझो तो मैं तुम्हें अपने स्थान तक पहुँचा दूँ।”

उसने पहले मुझे सिर से पैर तक देखा, फिर स्वीकृति में सिर हिला दिया। वह आकर रथ में मेरे पास बैठ गई। छन्दक ने उसका पता पूछा और कहा—“चिन्ता न कीजिए, मैं आपको अपने आवास पहुँचा दूँगा।”

रथ चलता रहा।

वह कनखियों से मेरी ओर देख रही थी और यदा-कदा सामने जड़े दर्पण में मेरा प्रतिबिम्ब देख लेती थी। मैंने सोचा, इस सुकन्या से कुछ बातचीत न करना अशिष्टता प्रतीत होगी। अनुमान से कहा—“इस नगर में आप कहीं दूर से आई हैं ?”

“जी, मैं उरुवेला से आयी हूँ। यहाँ मेरा मातुल-गृह है।”

“मेरा नाम सिद्धार्थ है।”

नाम सुनकर वह चौंकी। रथ पर इधर-उधर दृष्टि डालकर उसने पूछा—“आप युवराज सिद्धार्थ तो नहीं ?”

मैं मुस्करा भर दिया।

वह बोली—“मैं वैशाली के नगर-श्रेष्ठी महाशाल धनजय की बेटी हूँ। मेरा नाम है सुजिता।”

“आपसे मिलकर प्रसन्न हूँ।”

“मैं भी।”

छन्दक बोला—“भद्रे, आपका सुन्दर आवास यही है न ?”

उसने बाहर झाँककर देखा और छन्दक को धन्यवाद देती हुई नीचे उतरी। फिर मेरी ओर मुस्कराकर उसने हाथ जोड़ लिये—“यदि समय हो, तो आइए न आप हमारे यहाँ ?”

“धन्यवाद” मैंने कहा—“आज तो नहीं फिर किसी दिन आऊँगा। आप तो अभी रुकेगी न कपिलवस्तु में ? सुविधा हो तो आइए हमारे आवास। आजकल मैं वर्षा-प्रासाद में हूँ।”

उसने आने का अभिवचन दिया और पुनः नमस्ते कह, मुड़कर, विदा हो गई।

मैन उसे अपने मामा के महल की सीढ़िया चढ़ते हुए देखा जाने क्यों मुझे लगा कि इनमें और यशोधरा में बड़ी समानता है।

रथ बढ़ा। पर मैंने कहा—“भद्र मारथि। अब उद्यान जाना रहने दो। प्रासाद लौट चलो।”

रथ लौटकर उसी मार्ग से निकला। मैंने उस पगु को पुनः देखा और मुझे उबकी आ गई। मेरी अस्वस्थ मनोदशा देखकर छन्दक ने बलाहक की गति बढ़ा दी।

मैंने जब से उस देहधारी को देखा, मेरे मन में न जाने क्या हो रहा था। ऐसा पुरुष तो मैंने आज ही देखा है। छन्दक से पूछा—“श्रेष्ठ छन्दक, कुमारी सुजाता ने जिसे पानी पिलाया वह पुरुष कौन है?”

छन्दक ने उत्तर नहीं दिया। मैं कुछ देर उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा, उसको मौन देख, फिर पूछा—“कहां न छन्ना, यह कौन है?”

“यह रोगी है कुमार।”

“रोगी क्या होता है आर्य?”

“प्रकृति में विकृति आने से देह-रोग उत्पन्न होते हैं कुमार।”

“इस रोग का अन्त कब होगा छन्दक?”

“कुमार, यह असाध्य रोग है, इसका कोई निदान नहीं।”

“तो क्या इस पर मक्खियां इसी प्रकार भिनकती रहेंगी? देह से विकार इसी प्रकार बहते रहेंगे और इसके अग भी क्या यों ही गलते रहेंगे?”

“हा, कुमार।”

तब मैं सोचता रहा, यह रोगी है। इसकी आखें भी दूसरो-जैसी नहीं हैं, इसके नाक-कान भी विचित्र हैं, इसका स्वर भी दूसरो जैसा नहीं है। लेकिन छन्दक ने यह तो नहीं बताया कि इसका अंत क्या है? मैंने पुनः उससे पूछा—“सौम्य छन्ना, इसके आख, कान, नाक कहा गए? यह पीठ के बल क्यों रेंगता है?”

छन्दक ने बलाहक की पीठ पर हल्का कोडा मारते हुए, उत्तर दिया—“यह सब व्याधि का उपद्रव है, कुमार।”

“यदि यह व्याधि-फल है, तो क्या मैं भी व्याधि-धर्मा हूं?”

छन्दक ने रुकते-रुकते कहा—“हा।”

उसकी इस ‘हां’ में, न जान थी, न वजन था। फिर मैंने पूछा—“अय्य छन्न, क्या व्याधि अनिवार्य है?”

“देव। मैंने कहा तो, आप, हम और सभी प्राणी व्याधि-धर्मा हैं। व्याधि अनिवार्य है।”

मैं विस्मित रह गया। मन में एक नया प्रश्न सुलग उठा! मेरे सम्मुख अपनी रुग्णावस्था का चित्र आया—मेरी प्रकृति बिगड़ गई है। सड़क की उस अभागिन-सी यशोधरा बाल गिराए पास में खड़ी है...एक-एक अंगुल मैं रेंग रहा हूं। समस्त शरीर पर सफेद चित्तियां और घाव हैं...क्षत-विक्षत मेरी काया से लहू चू रहा है। पीछे-

पीछे पथ पर रक्त की एक रेखा बन गई है .इस रेखा का अन्त नहीं, कोई निदान नहीं. .कोई निदान नहीं। 'कुमार' व्याधि अनिवार्य है.'

मैंने अपने दोनो हाथों से कान ढक लिये और फिर आंखें बन्द कर ली, परन्तु आंखों में अब भी अपनी दुर्दशा घूम रही थी—अपने ही मल-मूत्र में लिपटा हूँ. मक्खियां भिनभिना रही हैं .अभागिन सहारा दे रही हैं। राहगीर मुह छिपाए चले जा रहे हैं। घृणा को भी घृणा आती है। एक किशोर दयावती मुझे पानी पिना रही है .वूद-वूद जल कठिनाई में कठ मे उतरता है और उसके साथ मक्खियां भी .

‘नहीं, नहीं, नहीं।’

—मैंने चिल्लाकर कहा। और आंखें खुलीं। अपने आस-पास देखा। नहीं, मे तो रुग्ण नहीं हूँ। मैं तो सिद्धार्थ हूँ। मुझमें विकृति कहा ?

रथ रुका पड़ा था। छन्दक पास में खड़ा था। मेरा हाथ उसके हाथ में था—“कुमार, तुम्हारे मन को आघात लगा है ?”

“नहीं छन्दक, अब मैं ठीक हूँ। रथ अन्तःपुर लौटा ले चलो।”

“अच्छा देव, मगर आप स्वस्थ तो हैं ?”

“मैं तो ठीक हूँ छन्दक, कह जो दिया. .इस जन्म लेने को धिक्कार है चलाओ रथ...”

“कुमार को क्या हुआ है ?”—छन्दक व्यथित हो उठा।

“कुछ नहीं छन्न, घबराओ नहीं। अब चलो।”

छन्दक ने कहा—“जो आज्ञा देव।”

रथ लौटकर चलने लगा।

—मैं रुग्णावस्था को मिटा दूंगा। मैंने मन-ही-मन कहा।

“यशोधरे ! यशोधरे ! कहाँ हो ? सुनो तो, आज मैंने एक व्याधि-पीडित रोगी देखा। मैं रोग को मिटा दूंगा यशोधरे ! मैं इसका निदान खोजूंगा।”

“आप व्यथित हैं नाथ, विश्राम कीजिए।”

“इस जन्म लेने को धिक्कार है सुअंगे ! जन्मे हुए को जरा सताती है, व्याधि पीडित करती है, जन्मने पर प्राणी वृद्ध होता है और आज तो मैंने स्वयं अपनी आंखों देखा, वह बीमार भी होता है।”

“मनुष्य को सब कुछ होता है देव, पाषाणों को कुछ नहीं होता। आइए, इधर बैठिए, जल पीजिए।”

“तुम्हें मालूम नहीं, सुन्दरी, रुग्णावस्था सबके लिए है। मनुष्य व्याधि-धर्मा है। आज सांध्य-वेला उद्यान-भूमि जाते, मैंने एक पगु प्राणी देखा। उसका वर्णन जो न करू तो ठीक है...ओ...ओ...ओ...मुझे वमन हो जाएगा देवी, दूर हटो। एक अभागिन उस रोगी के साथ थी, राम राजा, राम परजा चीख-चीखकर वह धर्म और दया की दुहाई दे रही थी। यशोधरे...यशोबाला...कहाँ हो तुम ? अरे, तुम तो यही खड़ी हो

मेरा मुह क्या देखती हो यही न मैं रुग्ण हूँ मेरा नाक गल रहा है मेरी आँखें, मेरी जाँखें और मेरे कान कहा गये, रानी,....?

“भिषक् क्या करेगा मेरा ? उसके पास मेरी व्याधि का उपचार नहीं...इधर बैठो देवपुत्रि ! मैं तुम्हें सारा भेद बतलाता हूँ. मनुष्य जिस प्रकार वृद्ध हो जाता है, उस प्रकार बीमार भी हो जाता है। मैं. यशोधरे, रूग्णावस्था को मिटा दूंगा। मैं जरा और व्याधि का निदान खोज लाऊंगा. मैं जाऊंगा. मैं जाऊंगा। इस जन्म लेने को धिक्कार है. यह बार-बार, विश्राम-विश्राम क्या कहती हो ? मैं ठीक हूँ, बिल्कुल ठीक हूँ। तुम जरा पास तो बैठो। तुम्हें सारा रहस्य बता दूंगा।”

यशोधरा, मेरे पास पर्यंक पर बैठ गई। एक हाथ से वह मेरे केश सहलाने लगी। मैं कुछ शांत हुआ। शैवालिका जल नाई। मैंने जलपात्र देख यशोधरा से कहा—“ठीक ऐसे ही पात्र से उस पशु को पानी पिला रही थी वह, उसका नाम सुजाता है, सुजाता।”

“कौन, सुजाता ?”

“वह उरुवेला में आई है यहा।”

यशोधरा की भौहो में बल पड़ गए। मैं उसकी मनःगति परख गया—“अरे रे, तुम कुछ और समझ गयी। छि-छि. !”

“अपराध क्षमा हो देव।”

“अपराध तुम्हारा नहीं, सामाजिक अवस्था का है यश, जिसके विधान में बधी हमारी नारी, इतनी बेवम है कि उसे सदैव पद-मर्यादा और अपने अस्तित्व की चिन्ता बनी रहती है। वह परावलम्बिनी है। हमारे पुरुषों ने उसे पग-रक्षिका भी तो नहीं माना।”

“नाथ का कथन यथार्थ है।”

फिर मुझे स्वस्थ जान वह बोली—“स्वामि। आहार-वेला है, चलिए न, देर हो जाएगी। और हमारे पीछे, हमारे कारण बेचारे ये सेवक भी भूखे रहेंगे।”

“हा, हा, यश ! वह रोगी अगुलीगहित मुट्टियों से रोटी के टुकड़े अपने ओष्ठहीन मुह में ठूस रहा था।”

“अब ठोड़िए न, अधिक कुछ कहूँगी तो रुष्ट हो जाएंगे।”—हाथ पकड़कर मुझे उठाती हुई वह कहने लगी—“उठिए, हमें भूख लग रही है।”

मैं खड़ा हो गया और पाकशाला की ओर बढ़ते हुए मैंने सोचा : यशोधरा, तुम्हारा नहीं। तुम्हारे वर्ग का दोष है यह, तुम्हें अपनी ही भूख की फिक्र है। अपनी ही रोटी की चिन्ता है। तुम्हारा भी यह रोग असाध्य है।...मेरे कंधे पर अपना सिर झुकाए, अपनी देह का भार मेरी बांह पर झुलाए, वह चल रही थी।

पाकशाला के द्वार पर वह मुझे रोककर बोली—“सिद्धार्थ, तुम्हारे रोगी की रामायण में उलझकर मैं एक शुभ-संवाद भूल गयी। आज मेरी एक सहेली आयी है। उसके सम्मान में हमने नृत्य और संगीत का आयोजन किया है। तुम आओगे

न सिद्धार्थ

यशोधरा जब बड़ दुलार में आती या मुझे हा कहलवाना होता, तब वह मुझे सिद्धार्थ कहकर ही पुकारती। पर मुझे भय था कि किसी दिन प्रजापति देवी ने इसके मुह से 'सिद्धार्थ' सुन लिया तो ?

नृत्य का आयोजन धर्म-प्रासाद में किया गया था। यशोधरा के लिए महाराज ने यह महल बनवाया था। इसका नाम बदलकर यश न 'पारिजात' रख दिया था।

पारिजात सभी सुविधाओं से परिपूर्ण था। उसके प्रशस्त अजिर में ताल और महाताल थे। इन तालों के बीच, सौ-सौ धनुष पर चार रंगों की ईंटों की पुष्करणिआ बनी थी। उनमें चारों दिशाओं में चार रंगों की चार-चार सीढ़िया थीं। इन सीढ़ियों में से प्रत्येक के नीचे चार रंग के चार-चार आधार स्तम्भ थे। जिस रंग की सीढ़ी थी उसी रंग के आधार और छत आदि थे। पुष्करणिआ दो-दो वेदिकाओं से संयुक्त थी और उनमें भाति-भाति के उत्पल खिले हुए थे।

जब एक दिन महाराज प्रधान विश्वकर्मा और उसके साथियों का काम देखने के लिए आए तो उन्होंने बन्धुमान् से पूछा कि इन पुष्करणियों पर नियुक्त सेविकाए कहा हैं ? उस समय यहा सेविकाएं नहीं थीं। महाराज ने मेरे श्वसुर गृह से आई कुछ सेविकाओं को, यशोधरा की सम्मति से यहा नियुक्त किया। ताकि वे अन्त पुर की रानियों को नहलाने का कार्य करें। इनमें कोलिय, लिच्छवि, वज्जी, मागध, शाक्य, आवन्तिक आदि जनपदों की चुनी हुई दासियां थीं। बारी-बारी से वे पारिजात के विविध स्थानों पर सेवा करती थीं। पुष्करणियों की बाई ओर, जहा पर कर्णिकार-कुज का आरम्भ होता है, वहा एक सुन्दर आपान-गृह बना था। उसमें विविध रसों के फव्वारे बने थे। जिनकी कल दवाते ही आसव के उत्स बड़े वेग से झरने लगते।

इन पुष्करणियों और कुज-निकुजों के मध्य में था पारिजात। पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में एक योजन, और उत्तर से दक्षिण तक चौड़ाई में आधा योजन था। यह भी चार रंगों की ईंटों से निर्मित था। रंगों के क्रम से ईंटें लगी थीं। एक गिंजका सोने की, एक चांदी की, एक वैदूर्य की और एक स्फटिक की।

उत्तमश्लोक महाराज ने पारिजात का नक्शा स्वयं अपनी देखरेख में बनवाया था। इसकी छवि-विभूति अमरालय से निश्चित ही अधिक आकर्षक थी। पारिजात के अत्युत्तुंग गुम्बद पर स्वर्ण-कलश शोभित था। जिस पर शाक्यों का कुलकेतु फहराता था। प्रासाद का अलिन्द-छत चौरासी हजार खम्भों के आधार पर स्थित था। महल के अधिष्ठान और प्रकोष्ठों की संख्या चौरासी हजार थी और इनका क्रम भी रंगों के अनुसार था। एक कोठा सोने का, एक चांदी का, एक वैदूर्य का और एक स्फटिक का। सोने के कांठे में चांदी के पलंग बिछे थे। चांदी के प्रकोष्ठ में कंचन-पर्यंक थे। वैदूर्य-कक्ष में हस्तिदन्त के पलंग और स्फटिक की कोठरियों में मत्स्यगल्ल की सेजे बिछी थी। इन कोठों के द्वार भी विविध रंग की चित्रावलि से अंकित थे। स्वर्ण-कक्ष के द्वार पर रूपहरे ताल-वृक्ष अंकित थे, जिनमें बहुरंगी पत्र, पुष्प और फल साकार

आर सजीव प्रतीत होने थे

पारिजात घुघरू के जाला स घिरा था। ये जाल भा सान आर चादी क थ सोन के जाल मे चादी की घण्टिया थी और चांदी के जाल में सोने की घण्टिया थी। जब अलबेली हवाए इठलाती हुई आती, तो उनकी अलकों की लहगे से जाल हिलने लगते और घण्टियों से सुन्दर गगोत्पादक स्वर निकलता था। राजमार्ग से गुजरते समय, प्रासाद पर दृष्टि डालने पर, आख नहीं ठहरती थी। जिस प्रकार वर्षान्तक मास में शरदागमन पर मेघरहित अवर में उर्ध्वगामी सूर्य पर आखे नहीं ठहरती, उस प्रकार था पारिजात का दर्शन।

हमारे निजी अन्तःपुरों के अतिरिक्त, शेष आवास, अधिष्ठान, और अधस्तल सुन्दरियों से भरे थे। ये सुन्दरिया सर्वथा अनामय थी और अनंग-क्रीडा से सदैव प्रमत्ता रहती। इनकी सख्या सोलह सहस्र थी, इस अपरिमय पारिजात महल के सुरक्षित अन्तःगृहों में ये अगणित अक्षतयौवना, अदन्ता रमणियां सभी देश और द्वीपों से लायी गई थीं। इनमें एक सौ आठ प्रमुख रमणी-रत्न भी थी।

अपनी शेष सम्पदा और जायदाद की भाँति उस काल के पुरुष ने स्त्री को भी अपनी जायदाद माना था। उसकी दृष्टि में वह जड़, अचेतन और निरी भोग्या थी। पारिजात की ये एक सौ आठ सुदर्शना, सुन्दरियां सकाम पुरुषों की दृष्टि में अभिरूप, दर्शनीय एवं आह्लाददायिनी थी। परम सौन्दर्यशालिनी थी वे। न अधिक तन्वी, न अधिक नाटी थी। न अधिक दुबली न अधिक मोटी थी। न बहुत गोरी, न बहुत काली थी। मानवीय वर्ण से बढ़कर उनका वर्ण था। मैंने उनका स्पर्श जाना है—मानो तूल या कपास का फाहा हो, वैसा कायसंस्पर्श था उनका। उनके अंगों से चन्दन की सुगन्धि आती थी और मुह से कमल की वास निकलती थी। वे हमारे उठने से पहले ही, उठ जाती थी पर सोने के पीछे सोती थी। आज्ञा सुनने को सदैव तत्पर रहती थीं। मनानुकूल आचरण करने वाली, चित्त को प्रसन्न और प्रतुष्ट करने वाली प्रियभाषिणी थी वे। तन-मन से पारिजात के प्रति समर्पिता थी।

आज मैं सोचता हूँ इन कान्ताओं की दशा पर तो मन में जानें कैसी ग्लानि अपने ही प्रति उठती है। काम के अनुचर उन परिजन और कुल-पुरुषों को क्या कहूँ, नारी के नग्न भाँग में ही, जिन्होंने जीवन का आदि-अन्त केन्द्रित किया था। नारी, जो मुक्ति की मशाल थी, उसे उन्होंने आशीश बुझाकर अपना ही मार्ग अन्धकारमय बना लिया था।

तो, आज इसी पारिजात में यशोधरा देवी की ओर से सुरस-रस का आयोजन था।

मैंने स्वयं यशोधरा और कृशा गौतमी के नृत्य देखे हैं, नाग-नृत्य में यशोधरा और मयूर नृत्य में कृशा गौतमी की बराबरी करने वाली कुलकन्या दूसरी नहीं देखी। लेकिन, इस रात उनका नृत्य भी न जम सका, जब श्रेष्ठी-कन्या सुजाता ने अपना हस-नृत्य दिखाया—

तुपोदक की प्यालिया ढल रही थी। आवन्तिकाए अपनी रस सचारिणी कटि पर मदिरा-मणिका रखे, मनुहारे कर रही थीं। आसर्वा कुल कन्याए इतस्तत डोल रही थीं। उनकी रतनांगी आखों में वासना के वेले फूट रहे थे। तभी, पश्चिम द्वार की तिरस्करणी हटाकर यशोधरा के साथ सुजाता ने प्रवेश किया। उसके स्वागत में कही से आनापिनी बज उठी। उसके बाद मुरज, मृदग, वेणु और अन्यान्य वाद्य बज उठे। पिप्यातक और गुलाल से यशोधरा और सुजाता के भाल और कपोल लाल थे। दोनों की आखों में हल्का नशा था। क्योंकि उनके पैर कुट्टिम पर सीधे नहीं पड़ रहे थे और वे एक-दूसरे का सहारा लिये थी। फिर भी सुजाता की तो मैं नहीं कह सकता, किन्तु यशोधरा अवश्य सोम के प्रभाव में थी। इन कोलिय कन्याओं और कान्ताओं का सबसे बड़ा दुर्गुण और कमजोरी है कि वे किसी भी पेय का आकर्षण अपने में नहीं रोक पातीं।

आम्रपाली के बाद सुजाता की वारी थी। वह बहुत ही महीन अशुक पहन थी, जिनमें उसको देह, पखुरियों के बीच पराग-सी प्रतिविम्बित थी। प्रकाश की गोद में दीप-बाती-सी झिलमिल रही थी। उसके घुघराले केश दो चोटियों में विभक्त थे। इन चोटियों के छोर पर श्वेत पुष्पों के गुच्छे बंधे थे। आनन्दसम्मोहिता राजहसिनी की उसकी भूमिका थी। आज भी एक झलक तो स्मृति में है—प्रथमतः उसने मन्द्रगति से पद परिचालन किया। फिर बाहुमूलों तक उसी गति से, उगलियों से लेकर बाहुओं तक—सभी अंगों का प्रकम्पन दिखाया।..

सुजाता के इस वशीकरण को सभी मूर्तिवत् देख रहे थे। यशोधरा अलसाई-सी मेरे स्कंध पर अपना सिर टिकाए थी और आज तो वह अपनी इस आली के आगमन पर इस प्रकार व्यस्त रही कि अपने केशों की सज्जा का भी उसे अद्वैतर न मिला तो उसके शीतल केश मेरे वक्ष तक गिरकर फैल गए थे।..

हस्त-गति पर सुजाता ने चाल बदली और देह की शक्ति नितम्बों में समेटे अभिनव परिचालन उसने दिखाया। अब वह कभी दाहिना, कभी बाया पैर आगे-पीछे बढ़ाकर ढीला छोड़ देती और उगलियों को क्रमशः नचाती। तब फुदककर, झटका देकर नाचती। बाहों को कमल के डंटल की लचक और नरमी देकर झुलाती। फिर त्वरित पदचालन उसने दिखलाया—उसका अग-प्रत्यग गोल-गोल घूम रहा था। घेंगिया-चांटियां और उनके छोर बंधे फूटे दूर-दूर तक, गोलाकार लहरा रहे थे। इसी प्रकार उसने कटि और वक्षोजा का नर्तन प्रदर्शित किया। झीनी आढनी में उसकी देह की रेखाएं दीखती थीं। दर्शिकाएं तालिया बजा रही थीं।

फिर नाचते-नाचते उसने अपनी पीठ दर्शकों की ओर की। तबले पर थाप पर थाप पड़ रही थी और कुट्टिम पर वह अपना पैर पर पैर पटक रही थी। उसकी कटि झटके पर झटके खा रही थी। उसने अंजलिबद्ध होकर सामने मुह किया। उपस्थित आलियो ने फिर तालियों से उसका अभिनन्दन किया।

झूम-झूमकर वह नाचने लगी।

अब केवल घुघरू छमछमा रहे थे। और वह इस पल, रंगमंच के इस कोने में और उस पल, उस कोने में विजली की तरह चंचला बन, मटक रही थी।

सुजाता के बाद यशोधरा ने गिरग-समज्जा में भाग लिया। उसने सिंह-नृत्य दिखलाना चाहा, परन्तु उसका नर्तन जमा नहीं। जब वह लौटी, मैंने उसके कानों में कहा—‘तुम्हारे पैर तो आज यो ही सिंह-नृत्य दिखला रहे हैं। समज्जा में भाग लेने की जरूरत क्या थी?’

सुजाता ने यह सुन लिया और वह यशोधरा को गुदगुदाने लगी। रात काफी बीत चुकी थी, इसलिए हम अपने-अपने शयन कक्षों में लौटे।

मुझे नींद नहीं आई। मन में प्रतिपल लाख-लाख विचार उठ रहे थे। अगिरा और शौनक की कथा से लेकर सुजाता तक सारी, छायाएँ एक-एक मेरे सामने आ-जा रही थी। मुझे पहली बार प्रतीत हुआ कि मैं बहुत सुखी हूँ। यशोधरा निद्रा में खोई। मेरे पास लेटी थी। उसकी अलकें उसके कपोलों को ढकती हुई ग्रीवा में लिपटकर, वक्ष तक फैली थी...फिर, मुझे महसूस हुआ, मन क्यों अवसन्न और भरा-भरा है। कुछ समझ नहीं आ रहा था, कुछ समझ नहीं पा रहा था। विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, देवकन्या तो लेटी है मेरी शैया पर, फिर मेरी कौन-सी कामना है जो अवशिष्ट रहकर भटक रही है। सध्या से लेकर मध्यरात्रि तक के आन्दोल्लास के पश्चात्त रस की खुमारी होनी चाहिए, पर यह अवसाद कहा से घुमड आया।

मैंने यशोधरा की ओर देखा। वह उसी मुद्रा और भगिमा में सोयी थी। उसकी एक बांह मेरे सिरहाने थी और दूसरी पर्यंक के एक ओर कुछ नीचे लटक रही थी। वह चिंत लेटी थी। उसके घुघराले केश वैसे ही, ग्रीवा और कंधों से लिपटें थे। भाल की बेंदी देह की ऊष्मा से पिघल चली थी और कानों के कर्णफूलों में कपोलों की परछाइयाँ प्रतिबिम्बित हो रही थी। कर्णफूलों से ऊपर अपनी अलकों में जो फूल उसने खाँस लिये थे वे अब सेज पर इधर-उधर बिखर गए थे। और कुछ तो बेचारे कुचल गए थे। घनसार और केसर पराग अर्चित यशोधरा के वक्षोजों पर उसका हीरक हार दो हिमशृंगों के बीच चन्द्रमा-सा लग रहा था। उसके अधर ताम्बूल की तरल लालिमा से रंजित थे और मद्य की तेजी में अब भी फड़क रहे थे। इसी कारण, उसके मुकुलित नेत्र भी भारी लग रहे थे और बन्द पलकों पर धनुषांगी बरोनिया फैली-फैली लगती थीं। यह सब कुछ है...

यह सब कुछ है, परन्तु मन में फिर भी यह प्यास कैसी? देह की भांग-तृप्ति के लिए अमित उपलब्धियाँ हैं फिर भी मन को चैन नहीं। और आज तो नींद भी जाने कहाँ चली गई? यशोधरा की ओर टकटकी लगाएँ मैं देख रहा था। अलक्ष्य, दूर कहीं से चक्रवाक का क्रदन सुना। और फिर तो जैसे वह क्रदन मुझे घेरकर घहराने लगा। यशोधरा के बन्द लोचनों से मुझे आंसू झरते नजर आए। साफ देखा, वह हिचकिया ले रही है। नहीं नहीं यह तो स्वस्थ सकाम सो रही है नही रो रही है यह फिर कौन रो रहा है यह चीख पुकार कैसी? यह हाय-हाय किसकी? एक

प्रश्न उठा—तुम मुझे भूल गए ? ओह, तुम भी उन राहगीरों-से हो, जो अनदेखे गुजर जाते हैं। तुम्हे अपने रस और विलास से मतलब, हम चाहे जीये, मरे !

मैंने देखा, चौकक देखा, यशोधरा की देह विकृत हो रहा है। अब तो उसकी जगह 'राम राजा, राम परजा' वाला वह रूप कोढ़ी पड़ा है। मैं उछलकर शैया छोड़कर खड़ा रह गया। भय, कल्पना चिन्ता, वेदना और व्यग्रतावश मेरा शरीर काप रहा था। सचमुच, वह देखो वह कोढ़ी स्त्री यशोधरा मेरी सेज पर लेटी है

मैं जोर से चिल्लाया—'यशोधरे, तुम्हे यह क्या हो गया ?'

मेरा चीत्कार दिशाओं के गालों पर थप्पड़ मारकर लौट आया और प्रासाद भर में प्रतिध्वनित होने लगा—'यशोधरे, तुम कहा हो ?'

सब लोग जाग गए। शैवालिका और अन्य दासिया दौड़कर आई। उनके केश, परिवेश अस्त-व्यस्त थे। आकर मुझे संभाला। 'देव, उद्विग्न क्यों हो ? देवी यशोधरा तो यह लेटी है।'

'नहीं, नहीं। वह तो रोगी है, जिसे मैंने सायंकाल उद्यान-भूमि जाते देखा था। तुम झूठ बोलती हो। वह...उसके हाथों मुंह से जलपात्र लगा है...लप् लप् जल पी रहा है। अभी-अभी मेरी आंर घूरकर देख रहा था, शैवालिके। कहता था—कुमार, तुम सुन्दरियों के सम्मोहन में, सुरा के संगम में, नृत्यों के समारोह में मुझे भूल गए ? हा हा हा। परन्तु मैं तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ूंगा। तुम मेरे प्रति अपराधी हो। मेरे लिए तुम्हारे पास कोई निदान नहीं ? तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। ठहरो, मैं तुमसे प्रतिशोध लूंगा...

सेविकाएं मुझे थामे थीं।

शैवालिका बोली—'कुमार, क्या बात है ? कौन-सा रोगी ? यह रही यशोधरा जी। शान्त होइए।'

मैंने देखा, सचमुच यशोधरा है। उसकी आंखों में नींद उलझी थी और वही खुमारियां तैर रही थीं। कुछ परेशान-सी वह अटपटी बानी में बोली—'सिद्धार्थ, अभी तुमने उस रोगी का पीछा नहीं छोड़ा ? चलो, सो जाओ। तुम्हें दूसरों का कुछ ख्याल नहीं। सारी दुनिया सो रही है और तुम हो कि यो सबको हैरान कर रहे हो। अभी सो जाओ, कल चले जाना अपने उस गेगी देवता को देखने। चलो हमें नींद आ रही है।'

यशोधरा मेरी देह सहनाती रही और कहने को मुझे नींद आ गई। धीरे-धीरे वह भी सो गई।

अचानक जैसे किसी ने मुझे हाथ पकड़कर झकझोर दिया। 'ओह !' मेरे मुह से निकला—रोगी के साथ वाली दरिद्र अभागिन थी। उसने अपने अधरो पर उगली रखकर चुप रहने का संकेत किया। मैं चुपचाप खड़ा रहा। उसकी परछाई धीमे-धीमे तिरोहित हो गई। केवल एक आवाज आती रही—सब 'व्याधि-धर्मा' है। राग और जरा सबके लिए है। इधर आओ इधर आओ मैं सीढिया उस के

पीछे-पीछे नीचे आया।

विशाल आलय में नर्तकिया थककर इधर-उधर लेटी थी। सुजाता के स्वागत में भाग लेने वाली वे सुन्दर नर्तकिया। दशा उनकी देख-देखकर मैं हैरान था। उनकी घघरियाँ और ओढ़निया बिखरी हुई थी। नाक से पानी और मुँह से लार टपककर उशीषों पर वह रहा था। एक अजानी गंध कक्ष में फैली थी। जिस मानव देह के, दवा और कवियों ने इतने गीत गाए, वह मेरे सम्मुख अपनी समस्त रुग्णता लिये प्रदर्शित थी। इसी गदगी को छिपाने के लिए चन्दन और मेहदी हैं। इसी दुर्गन्ध को दवाने के हेतु शृंगार और प्रसाधन हैं। निद्रा में मेरी भी यही गति हाँती होगी। मेरी व्याधि-धर्मा हूँ।

राजमार्ग पर देखा, रोगी मुझे चिढ़ा रहा था। उसके साथ की अभागिन स्त्री व्यग्रपूर्ण मुझ पर हस रही थी। उसकी कर्कश हसी और कक्ष के वीभत्स वातावरण से त्राण पान के लिए मैं अपने आवास में आया। यशोधरा पर्यंक पर बैठी ऊब रही थी। नींद उचटने पर, मुझे न पाकर वह दुखी थी। उसे देखते ही मैंने पुकारकर कहा—‘यशोधर, मैं जरा विहीन और रोग रहित जीवन की तलाश में जाऊँगा। पारिजात प्रासाद की इन सीमाओं में रहा, तो यही मेरी समाधि बन जाएगी।’

‘हाय-हाय, ऐसा अशुभ न बोलो!’ दाहिने हाथ से, मुख पर आ गए अपने केशों को उलटकर कुवरानी बोली।

तकिये में मुँह छिपाए मैं औंधा पड़ा रहा। थकान और तन्द्रा से अभिभूत था, फिर भी इतना भान था—

मेरी पीठ पर सिर रखे-लेटी यश की आँखों से अश्रु झर रहे हैं और आकाश से तारे झर रहे हैं।

19

पारिजात के एक निकुञ्ज में मैं बैठा था। यशोधरा प्रजापति-मा की पूजा के लिए फूल चुन रही थी। एक-एक पौधे और वल्लरी को वह पहले गौर से देखती, फिर कलियों को बड़ी ढेर देखते रहने के बाद उन्हें वह तोड़ लेती।

मैं उसे देख रहा था। मैंने वासन्ती को भी फूल तोड़ते देखा है। कितनी त्वरा और लगन से वह फूल तोड़ती है, काटो को छू-लेती है और उछलकर ऊँची-से-ऊँची डाली के फूल को अपनी डलिया में पा लेती है। इसके विपरीत है यशोधरा। काटो से उसे घृणा है। जब वह पुष्प-चयन के लिए चलती है, तो पीछे-पीछे सेविकाओं के समूह चलते हैं। कहीं रानीजी को कुछ हो गया तो ? यह वैषम्य कब दूर होगा ?

एक ओर अपाहिज मानवी को कोई पानी पिलाने वाला नहीं दूसरी ओर प्यास लगने से पहले ही अलिङ्ग उठाए प्रतीक्षा किए रहती है उधर पगु

हो जाने पर भी कोई पूछता नहीं, इधर कांटा लगाने के पहले आंख में आंसू आते हैं और औषधि लिये सेविकाएँ साथ चलती हैं।

मैं इस विषमता को दूर करूँगा। मैं मनुष्य-जीवन में प्रविष्ट कृत्रिमता को मिटा दूँगा। मैंने कहा—

“देवि । फूलों से इतना मोह है, तो कांटों से न डरें। फूल और कांटे एक ही चीज के दो छोर हैं, एक ही अवस्था के दो पहलू हैं।”

“यह तो मैं भी जानती हूँ। लेकिन संसार में दो तरह के लोग होते हैं, कुछ को फूलों से प्यार है, कुछ को कांटे पसन्द। यह तो अपना-अपना स्वभाव है। चाहे, तो आपके लिए कुछ बढ़िया कांटे चुन लाऊँ ?” और वह खिलखिलाकर हँस दी। इस लीला में उसे अपने सन्तुलन का ध्यान न रहा और उसके आंचल के फूल धरती पर बिखर गए। सहेलिया दौड़कर उन्हें चुनने लगी।

“यशोधरे, देखो-देखो वह तितली कितनी सुंदर है।”

“देखा, इससे भी सुन्दर तितलियाँ होती हैं। किसी का ध्यान न जाए उधर, तो कसूर किसका कहें ?”

“लेकिन वागो की तितलियाँ, राहो की तितलियों से अलग होती हैं।”

“हा, यह तो दृष्टि का फेर है।”

“दृष्टि का फेर है, तभी न अपने पैरों में साप तुम्हें नहीं दीख रहा है।”

“सॉऽऽप।” और वह उछल पड़ी—“झूठे छलिया, हमें डरा दिया।”

“इतनी बड़ी हुई, अब भी डरती हो ?”

“कितनी बड़ी हुई ?” यश ने विस्मय से कहा—“अभी तो हमें सोलहवा भी पूरा नहीं हुआ।”

“तो जल्दी पूरा कर लो उसे। हमारा भार टले।”

“तो हम आप पर भार है ?” उसने तुनककर कहा।

“ओह, इतनी जल्द बिगड़ गई ? मैं तो चुहल कर रहा था।”

“हमें नहीं अच्छी लगती ऐसी चुहल।”—यश ने कृत्रिम रोष में कहा।

“तुम्हें तो अपने आप से ही डर लगता है, अब इसका क्या इलाज ?”

“अरे बाप, किसका इलाज, कौन बीमार है ?” पूछती मा ने प्रवेश किया। उधर वे जा रही थी कि उनके कानों शब्द पड़े।

यशोधरा ने माँ के पैर छुए। लेकिन उसका अनमनापन माँ की अनुभवी दृष्टि से छिपा न रहा। उन्होंने गौर से, बारी-बारी से हम दोनों को देखते हुए पूछा—“क्या बात है सिद्धार्थ ? बहू आज यो मौन-मौन क्यों है ?”

“शक्ल ही ऐसी है मा ।”—मैंने तो सहज ही कहा, पर यश इस बात को झेल न सकी। माँ के कन्धे पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

और तो, इस छोकरी ने माँ के सम्मुख मुझे अकारण ही अपराधी बना दिया

मा कुछ देर उसे समझाती रही यशोधरा की आखों में छद्म आसू ओर होठों पर प्रच्छन्न हंसी थी, सां मा उसे पहेंली-सी वूझती रही। और तब स्वयं मुस्कराती, मन-ही-मन हमें असीसती, अपने फूल लिये चली गई।

मैंने यशोधरा को अपनी गोद में बिठा लिया—“अभी तुम्हारा वचन नहीं गया। मां क्या समझी होगी मन में ?”

“यही न, आपने हमें परेशान किया।”

“सां, अच्छी बात है ?”

“अच्छी नहीं, पर सच्ची तो है।”

“और अपनी चपलता को कभी तोलती हो ? यशोधरे, नहीं जानती, तुम्हें मैं कितना प्यार करता हूँ। क्वारिपन में तुम्हें एक बार..याद है, मेरे हांठ अभी भी जल रहे हैं।”

यश ने सुना और—‘हट’ कहकर चली।

मैंने उसकी सतरंगी चूनर का छोर पकड़ लिया—“देवबाला, और तुम्हारे अवदात कपोलों पर वह चिह्न मैं अब भी देख रहा हूँ।”

“हा, स्वप्न देख रहे हैं।”

“हा, यह वह स्वप्न है, जो यथार्थ हो गया है।”

“छलिया !”

“मानिनी !”

बड़ी देर तक हम एक-दूसरे की आंखों में एक-दूसरे को देखते रहे।

यशोधरा बोली—“देखिए, वह मेढक आपकी तितली को खा गया।”

“वह देखो सर्र सर्र, सचमुच साप है, अब वह इस मेढक को खा जाएगा।”

“यह सब क्या है ?”—यशोधरा की आंखें विस्मय का रस पीकर और भी सुंदर हो गयी थी।

“यही तो मैं सोचा करता हूँ। हिंसा का अन्त नहीं। एक के पीछे एक भक्षक लगा हुआ है।”

“देखिए, सांप का मुंह खुला हुआ है, उसने मेढक को उदरस्थ कर लिया है।”

“वह, सुन्दर पक्षी आया।”

“अब यह मॉर इस सांप को खा जाएगा।”

“दुनिया में यही हो रहा है। बड़ा छोटे को खाता है, छोटा अपने से छोटे को खाता है। यदि सबको जीवन-यापन की समान सुविधाएं, अवसर और सुरक्षा मिले, तो बड़ों के द्वारा छोटों का डसा जाना बन्द हो जाये।”

“लेकिन समाज अपनी परम्परा पर चलता है, सपनों से नहीं।”

“यशोधरे, स्वप्नों से विधान बनते हैं और कालान्तर में विधान ही परम्परा बन जाते हैं।”

“तुम्हें सपने अच्छे लगते हैं, मुझे परम्परा प्रिय है।”

“तुम परम्परा में पत्नी हो।”

“और आप ?”

“मैं तुम्हारा स्वप्न देखकर बड़ा हुआ हूँ यशोधरे ! तुम्हारे अस्तित्व ने मेरे जीवन को नई दिशा दी है। तुम्हारी प्राप्ति पर मेरी कोई कामना शेष नहीं रही।”

“यह देव का अनुग्रह है।”

“वस यशोधरे, तुममें एक ही कमी है।”

“वह क्या ?” उसने सदर्प पूछा।

“तुममें मान बहुत है। तुम्हारा स्वाभिमान अभिमान की सीमाओं पर चला गया है।”

“होगा। मैं तो नहीं देखती।”

“चाद अपना कलक नहीं देखता।”

“फिर भी वह चाद है।”

“यही तो तुम्हारा गर्व है।”

“गर्व है ? गर्व की ऊष्मा से व्यक्ति जीवित रहता है।”

“यह भ्रम है, विनय का अमृत ही जीवन है।”

यशोधरा अपने आपमें न रही। पैर पटककर बोली—“तो, क्या आपकी मर्जी है, मैं किसी की दासी बन जाऊँ ?”

“यह तो मैंने नहीं कहा।”

“कह देते तों अच्छा था।”—फिर उसने आंचल आखों से लगाया।

“तुम समझी नहीं।”

“सब समझती हूँ मैं।”—और जल्दी-जल्दी कदम बढ़ाती वह एक ओर चली गई।

मे वही बैठा रहा—

धीरे-धीरे मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मैं और यशोधरा के स्वभाव में अन्तर है। वह उत्तर ध्रुव पर है। मैं दक्षिण ध्रुव पर हूँ। कसूर उसका नहीं। उसका लालन-पालन ही ऐसे वातावरण में हुआ है। वहाँ सेवा करना नहीं, सेवा लेना सिखलाया जाता है, और यदि सेवा में तनिक भी त्रुटि हुई तो दासों की देह से चमड़ी अलग खींच लेना सिखलाया जाता है। जिनकी एड़ी पर जरा-सा काटा लगने पर समूचे साम्राज्य में हलचल मच जाती है, ऐसी राजरानिया अपनी सहेलियों के बीच हसते-हंसते, आदमी को जिन्दा गड़वा देती है। ऐसी परम्परा में पत्नी इस कोलिय-कन्या की प्रकृति में तुनक-झुनक हो तो विस्मय की बात नहीं।

यशोधरा को मान की भगिमा इतनी प्रिय रही कि धीरे-धीरे वह स्वयं मानिनी बन गई। बालापन से ही नृत्य और नाट्य-समज्जा में उसका भाग रहा है, उसमें वह इतनी डूबी कि शाक्य-साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किए जाने पर ही

उसे घेन आया। परन्तु मनुष्य के मन की लालसा का अन्त कहा ? यशोधरा को सहस्रो दास-दासियाँ और सहेलियों के बीच चलने में मजा आना है, इससे उमके अह की पूर्ति होती है। यों उसका मान बढ़ता जा रहा है और वह दिन-दिन अधिक मानिनी बनती जा रही है, ओर उस पर भी प्रजापति-मा का लाड उसे जाने कहाँ ले जाएगा ! मैं नहीं जानता।

मैं साँचता रहा—नारी को समझना कितना कठिन है ! अजीब पहली है यह ! ज्यों-ज्यों सुलझाता हूँ, त्यों-त्यों उलझती जाती है। एक ओर से सुलझती है, दूसरी ओर से स्वयमेव उलझती जाती है।

फिर भी नारी—नारी है। समस्त ससार इसके सामने तुच्छ और छोटा मालूम पड़ता है।

नगे की जननी, तुझे प्रणाम है।

20

“सौम्य छन्दक, यानों की जुड़वाओ। सुभूमि देखें दिन हों गए।” छन्ना से कहा था। मुझे ज्यों का त्यों याद है—

वसंत आया है। डाल-डाल और पत्ते-पत्ते ने सिंगार किया है। विदेश से घर लाँटे पिया को पाकर, जिस प्रकार कामिनी फूल उठती है, उस प्रकार माधव-कुसुमाकर के आने पर वाटिकाएं उल्लसित हैं। समस्त जनपदों में बिलास की बातिया जल रही हैं और उनके प्रकाश में रस के समारोह चल रहे हैं। क्योंकि वसंत आया है।

नृत्य और गीत हवा की लहरियों पर धिरक उठे। कठ से निकलकर स्वर के पछी दिशाओं में उड़ाने भरने लगे। काताओं और कोकिलाओं के स्वर का विभेद कठिन था। गसवतियों का अग-अग सुवास से बसा था, जैसे मंजरियाँ महक रही हो।

छन्दक लौटकर आया—‘आज्ञा हो देव, सुन्दर यान जुत गए। अब जिसका देव काल समझते हों।’

‘उद्यान-भूमि चलो।’

रथ चला जा रहा था। मार्ग में मैंने कई लोगों को एकत्र देखा। वे नाना प्रकार के नए वस्त्रों से एक शिविका बना रहे थे। मैं आर्य छन्दक से कुछ पूछू-पूछू, तब तक मेरे कान पर स्वर आया—‘सत्य काम सत्य है, राम नाम सत्य है।’

मैंने रथ से बाहर देखा। पथ पर अनतिदूर ही, वे खड़े थे। पहले व्यक्ति के वचन शेष लोगों ने दुहराए। और जोर का स्वर उठा—‘राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है।’

यह सब देख-सुनकर, मैंने सारथी से पूछा—‘भद्र सारथि ! यहाँ बहुत से लोग

एकत्र होकर यह शिविका क्यों बना रहे है ?

छन्दक चुपचाप मौन बैठा रहा। मै जान गया, इसके उत्तर की राह में कोई राजाज्ञा बाधक बन गयी है। तब मैने एक पथिक को पास बुलाकर पूछा—‘भद्र नागार्जुन ! कहो तो, यह शिविका क्यों बनाई जा रही है ?’

‘यह शिविका नहीं अर्थी है !’

‘अर्थी क्या होती है आर्य ?’

‘इतना भी नहीं जानते, इस पर मृतक को श्मशान ले जाया जाता है !’

‘मृतक क्या वस्तु है आर्य ?’

‘किसी कुलपति के विगड़ैल बेटे मानूम पडते हो ! मनुष्य जन्मता है, यौवन ओर जरा आते है। फिर एक दिन ऐसा भी आता है, जब वह जन्मा प्राणी ससार में नहीं रहता, मर जाता है, तब उसकी देह को शव, और उसे मृतक कहते है।’

‘और यह श्मशान क्या बला है ?’

‘श्मशान-भूमि, उद्यान-भूमि के विपरीत स्थल का नाम है। तुमने रंग-भूमि देखी है, श्मशान-भूमि भी देखो। रंग-भूमि पर मनुष्य हसता है, और श्मशान-भूमि पर रोता है। सारी दुनिया—हमारे पूर्वज और अग्रज श्मशान भूमि में समा जाते है।

‘वहा वे क्या करते है ?’

‘मुर्दे कुछ करते है ? भोलं हो !’

‘तो छन्दक, रथ उधर ले चलो, मै मृतक देखूंगा।’

‘अच्छा देव !’ कहकर सारथी छन्ना जहा वह शव रखा था, वही मुझ ले गया।

पारिवारिकजन सिर धुनकर रो रहे हैं। स्त्रिया बाल नांच रही है और बच्चे चीख रहे है।

‘छन्दक, यह मरना क्या चीज है ?’

‘देव, मरना मरना है और क्या ? न जीने का नाम मरना है। तब कुटुम्बी मिलकर मृतक के शव का दाह करते है, जिसे अग्नि-संस्कार कहते है।’

‘अग्नि-संस्कार से इस मृतक को पीडा नहीं होगी ?’

‘देव वह मर गया। मृतक के मन-मस्तिष्क नहीं होता। उनकी हृदय गति रुक गई है। अब उसके माता-पिता या जानि-जन उसे नहीं देख सकेंगे, और इसी प्रकार वह भी अपने सम्बन्धियों को नहीं देख सकेगा।’

‘तो छन्दक, इसका कोई निदान नहीं ?’

‘नही कुमार !’

‘होगा छन्ना, तुम्हे ज्ञात नहीं !’

‘सम्भव है !’ छन्दक बोला। और मै सोचता रहा—‘मै मृत्यु का निदान खोजूंगा। मै उस लोक को, उस अवस्था को धरती पर लाऊंगा, जिसे पाकर आदमी मरेगा नही !’

मैने मृतक के एक परिजन से पूछा—‘यह तो मर गया अब तुम क्यों रोते हो ?’

म इसलिए रोता हू कि एक दिन मैं भी मर जाऊंगा। तुमने श्मशान भूमि नहीं देखी क्या ? जहाँ जाकर कोई लौटता नहीं, जहाँ एक दिन सबको जाना है। काल सबको खा जाता है। अपने ही परिजन हमारी देह में आग लगा देते हैं'...मैं विस्मयपूर्वक, नागरिक की बात सुनता रहा—'और इस बलिष्ठ देह की अस्थियाँ ऐसे जलती हैं, जैसे पुराना काठ और सुन्दरियों के कजरारे केश ग्रीष्म की सूखी घास की तरह भस्म हो जाते हैं। और एक दिन ये जलानेवालेजन भी जल जाते हैं। जो आया है, सो जाएगा। जो जन्मा है, सो मरेगा—यह कालदेवल का अंतिम कथन है। देखो, यह कालदेवल आजन्म मृत्यु से लड़ता रहा, पर आज मृत्यु इसे भी डस गई। ससार में मृत्यु की भूख, सबसे बड़ी भूख है।'

तब साश्चर्य छन्ना ने उस भद्र नागरिक से पूछा—'श्रेष्ठ, यह मृतक देह क्या कालदेवल का है ?'

'हां, सारथीराज !'

'कालदेवल तो परम भट्टारक महाराज का मित्र था। आज महाराज के मन को बड़ी ठेस पहुंचेगी।'

तब मैंने प्रश्न किया—'छन्दक, तो क्या मैं भी मरण-धर्मा हू ? क्या मृत्यु अनिवार्य है ?'

'हां कुमार !' छन्दक का स्वर उदास और भारी था।

'भद्र छन्ना !' क्या मुझे भी देव, देवी और यशोधरा नहीं देख सकेंगे ? और क्या मैं भी उन्हें नहीं देख सकूंगा ?'

'नहीं देख सकेंगे युवराज !'

'तो क्या छन्दक, एक दिन तुम्हारा भी 'राम नाम सत्य' हो जाएगा ?'

'हां कुमार !' छन्दक ने रोते हुए कहा।

'भले आदमी रोते क्यों हो ? अभी तो वह दिन नहीं आया !'

'नहीं आया !' छन्दक ने आंसू पोछते हुए दुहराया।

'आर्य छन्ना, क्या महाराज भी एक दिन मर जाएंगे ? क्या अपने मित्र कालदेवल की तरह एक दिन वे भी नहीं रहेगे ?'

'राम, राम ! ऐसा न कहिए कुमार ! महाराज की जय हो, महाराज सहस्रायु हो !'

'फिर भी, महस्र वर्ष जिस पल पूरे हो जाएंगे, उसके दूसरे पल तो उनका भी राम नाम सत्य हो जाएगा !'

'यह कल्पना भी अशुभ है !'

'जो अनिवार्य है, वह अशुभ नहीं...और सौम्य छन्दक, क्या यशोधरा भी एक दिन चली जाएगी...क्या उसका भी 'राम नाम सत्य' हो जाएगा ?...श्मशान भूमि में उसके केश-कलाप घास-फूस की तरह जल जाएंगे, छन्दक ?'

'हां !'

‘तब तो उसका सारा गर्व भी खर्व हो जाएगा ! सारा मान-मर्दन हो जाएगा ?’
‘हां ।’

‘यह तो बड़ी अच्छी बात है कि मृत्यु गर्वितो का गुमान भग कर देती है ।’

‘अब चलिए कुमार ! काल बीता जा रहा है ।’

‘परन्तु रीता नहीं जा रहा है । वह अपनी गति के प्रत्येक पल के साथ हमारी सृष्टि के एक-एक प्राणी को, नहीं लाख-लाख नोगो को लेता जा रहा है ।...लेकिन छन्दक, कुछ तो ऐसे भी लोग होंगे, जिन्हें काल नहीं खाता होगा ? ये बड़े-बड़े तिलकधारी ब्राह्मण, ये मोटी-मोटी श्रेष्ठी, ये अभिमानी आभिजात्य, ये रूपगर्विता कुलकुमारियां इनसे तो काल दूर रहता होगा ? या काल इनका भी लिहाज नहीं करता ? क्या काल के कोश में ‘अपवाद’ जैसा कोई शब्द नहीं ?’

‘नहीं, केवल राम नाम ही एकमात्र शरण है ।’

‘लेकिन छन्न । तुम्हारे राम को भी तो काल ने ग्रास बना लिया । बड़ा विचित्र है यह विश्व ! प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के देहाकार पर अदृश्य लिपि और शब्दों में, ‘राम नाम सत्य लिखा है...क्यों, मनुष्य इसे फिर भी पढ़ता क्यों नहीं ?’

‘अदृष्ट जो है यह लिपि-संकेत ! मनुष्य मरणशील है, परन्तु फिर भी इस आर्य सत्य को भूला हुआ है ।’

‘और छन्दक ।’

‘कहिए नाथ ।’

‘यस, एक बात और बताओं, मरकर आदमी किधर जाता है ?’

‘स्वर्ग या नरक को ।’

‘कितनी दूर है यहा से स्वर्ग-नरक ?’ तुमने देखा है वह स्थान ? वहां तो बड़ी भीड़ होगी ? कल्प-कल्पान्तरों से सभी प्राणी वहा जा रहे हैं ।’

‘नहीं, मनुष्य पुनः जन्म भी लेता है ।’

‘पुनः जन्म लेता है ।’—मुझे विचित्र लगा । पूछा—‘तो फिर मरा किसलिए ? यह व्यर्थ परिजनो को रुलाया किमलिए ? क्यों छन्दक, जरा कल्पना करो, मैं मर जाऊं तो मां प्रजापति का क्या हाल होगा ? वे तो रो-रोकर प्राण दे देगी और यशोधरा, वह तो यो ही चौकती है । मेरे जीवित होते भी रोती है तो मरने के बाद और अधिक रोएगी—है न छन्ना ?’

‘अब सुभूमि चलें कुमार, वेला हो गयी ।’ छन्ना वेचारा ऊब चला था । मेरे साथ जो रहे, वही ऊब जाए !

‘छन्दक, इस मरण-वरण की क्रिया से मेरा मन भी बेमन हो गया है । अच्छा होगा, हम लौट जाएं ।’

‘जो आज्ञा कुमार ।’

राजरथ लौटकर दौड़ने लगा । कालदेवल के उस शव से, उस अर्थी से दूर, विपरीत

दिशा में हम दौड़ रहे थे। परतु जब सब मरण-धर्मा है, तो बचकर कहा जाएंगे।

मेरे कानों में अब भी 'राम नाम सत्य है' का रुदन हो रहा था और बार-बार मृतक के निकट बाल बिखराए विसूरी और पृथ्वी पर सिर पटकती उस महिना का चित्र मेरी नजरो में चमक जाता था। मैंने कुछ डरकर, कुछ संकोच से पूछा—'सारथि ! मृतक कालदेवता के अति निकट वह कौन बेचारी सिर पीट रही थी ? इतना ओर बता दो ।'

'वह उसकी बहन भद्रा थी, कुमार ।'

'अच्छा ! .सचमुच, संसार में बड़ा दुःख छाया है रे छन्दक ! संसार असार है ।'

पारिजात के निकट हम आ गए थे। छन्दक अब किसी नई दुर्घटना में उलझना नहीं चाहता था, इसलिए रथ को वेगपूर्वक लिये जा रहा था। आज रथ में बलाहक के स्थान पर दूसरा अश्व था। और उसके पीछे छ नये अश्व थे, मार्ग में भीड़ देखकर ये भागते थे।

मेरे मस्तिष्क में जैसे मृत्यु का महाचक्र चल रहा था। सबको एक दिन काल खा जाएगा। सब प्राणी मर जाएंगे, तो इस जीवन से क्या लाभ ? तो इस जीवन का उद्देश्य ? ये बड़े-बड़े साम्राज्य, ये भीम भयकर सगर, ये सिंह-नाद और ये षड्यंत्र, शोषण के ये काले कारनामे : सब यो ही धरा रह जाएगा और इस दुःखमय संसार से मनुष्य अकेला नौट जाएगा। जिनमें सम्राटों के आगे-पीछे अक्षौणिया चलती है, उन्हें राजकीय श्मशान-घाट में अकेला छोड़ दिया जाएगा। जिन अन्तःपुरों में मध्यरात्रि के ढलते प्रहरों तक सुरा और सुर का अबाध प्रवाह बहता है, उनमें रहने वाली रानियों की समाधियों के आनपास रातों-रातों श्वान भूकेगे और उलूक रोएंगे—यही होगा उनका वन्दन-अभिनन्दन।

दस-सहस्र हाथियों और घोड़ों का बल रखने वाले ये महारथी मृत्यु के एक थप्पड़ से चित्त हो जाएंगे, तब इनके मुंह पर मक्खियां भिनभिनाएंगी। जिन कामाग्निनी जनपद-कल्याणियों के रूप की ज्वाला में भस्म होने के लिए आज भरत-खण्ड के तरुणों के दल के दल दौड़ते हैं, जिनके एक आलिंगन के लिए बड़े-बड़े साम्राज्य-वासना की वेदी पर बराटिका की भाति फेंक दिए जाते हैं, उन सुन्दरियों के मरण पर जब उनकी देह अपनी प्रकृति छोड़ देगी, कोई दो दिन उनके शव को अपने घर में रखना नहीं चाहेगा। कोई राजकुमार या श्रेष्ठिपुत्र उसकी ओर देखने के लिए तैयार न होगा।

ये अम्बरचुम्बी सौध-सदन, ये रागिनियों से गुजित, रस से भरे शयन-कक्ष एक दिन सूने हो जाएंगे और समय आएगा जब इनकी नींव लगाने वालों को भी काल खा जाएगा और नींव भी समय पाकर काल का ग्रास बन जाएगी। मागधीय महलों के छज्जे, गान्धारियों के गोल गुम्बद और आवन्तिकाओं की उत्फुल्ल अटारियां—सूखे ढले-सी ढह जाएंगी।..

छन्दक, रथ जल्दी चलाओ...छन्दक ऐसा न हो कि कहीं इन मदमाते अश्वों

का काल आ गया हा और माग मध्य म ही य धोखा दे दे कही छन्ना तुम्हारा ही राम नाम सत्य न हो जाए ।.. और मुझे पैदल घर जाना पडे । रोते हो छन्ना. अपनी दशा पर रोते हो, या मेरी दशा पर ? जो सत्य है, उससे भय कैसा ?..

‘रहने दो. रहने दो ।’

आरात्रिका रहने दो, मेरी यह पूजा रहने दो यशोधरे । मैं कोई भगवान् नहीं । .देवता नहीं. मैं तो एक साधारण मरणशील मानव हूँ।’

‘देव को फिर क्या हो गया है आज ? शैवाली । यह थाल उधर रख दे.. अरे आपका तो शरीर तप रहा है...कितना रोकती हूँ, बाहर न जाइए । . शैवाली, मेरा मुह क्या देखती है ? वह शैया इधर खींच ले । आप लेट जाइए नाथ ।’

‘एक दिन सबको लेटना है । एक दिन ऐसा लेटूंगा कि फिर नींद नहीं खुलेगी ।’

‘आप लेट तो जाइए ।’

‘हा...हा, तुम पास बैठो ! तुम्हें एक राज बताता हूँ । तुमने कभी ‘राम नाम सत्य’ सुना है ? तुमने भरत-खण्ड के सभी श्रेष्ठ स्वर-सिद्धों के मधुर गीत सुने, परन्तु उनसे भी मधुर और जितना मधुर और उतना ही क्रूर गीत तुमने सुना है कभी ? राम नाम सत्य है । ..देवि ! आज सायकाल सुभूमि जा रहा था कि मैंने उस महाबली, प्रचंड प्रकोपी कालदेवल का शव देखा । उसकी बहन भद्रा उसकी अर्थी के पास सिर धुनती रो रही थी । और देवि, वही मुझे एक नागरिक ने बताया—सबको मरना है । जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा । यह कालदेवल आजन्म मौत को चकमा देता रहा परन्तु, आज मौत ने उसे ऐसा चकमा दिया कि चारों खाने चित्त पडा है ! और अब तक तो उसके सम्बन्धियों ने उसे फूक दिया होगा...यशोधरे, मैं सोचता हूँ एक दिन परम भट्टारक भी अपने मित्र कालदेवल की तरह, मौत के काले पंजे के शिकार होंगे । सारा कपिलवस्तु श्मशान में बस जाएगा । मखमली सेजो पर लेटने वाले, काठ की चिताओ पर लेटेंगे । यह सत्य कितना भयंकर है कुवरानी ? और मैं भी मर जाऊंगा ।’

‘नहीं...नहीं, ऐसे बोल मुह से न निकालो मेरे प्राण ।’—यशोधरा ने मेरे मुख पर अपना हाथ रख दिया—‘ईश्वर उसके पहले मुझे उठा ले ।’

‘और तुम, मानो या न मानो यशोधरे, तुम्हारा यह गर्भस्थ शिशु भी एक दिन काल का कवल बनेगा । यह सत्य है, ध्रुव सत्य है ।’

यशोधरा मेरे इस कथन को सह न सकी । शैवालिका ने उसे मंभाल लिया, अन्यथा वह गिर जाती । मैंने कहा—‘तुम्ही तो कहती थीं, जो अवश्यम्भावी है उसका क्या शोक और क्या सताप देव ! और आज तुम्ही यो धीरज खो रही हो ?’

‘नाथ, राम का नाम तो सब लेते हैं, परन्तु समय-असमय देखे बिना ही ‘राम नाम सत्य’ कोई नहीं कहता ।’

‘किन्तु देवि, क्या राम नाम सत्य नहीं है ?’

‘यह सत्य है, लेकिन कटु-क्रूर सत्य है । और सभ्य-समाज मे कटु-सत्य कहना

मनसुख है ।

‘कटु सत्य कहें बिना श्रान्ता की आखें नहीं खुलती । यदि वह सत्य है कि एक दिन मैं न रहूंगा और तुम्हारे इस सुमधुर गारे भाल का सैमन्तिक पुछ जाएगा, तो इसमें घबराने-जैसी बात क्या है ?’

‘मैं घबराती नहीं । लेकिन अपने प्रियजनों के लिए अशुभ सुन भी नहीं सकती । जिसका विचार मात्र पाप है, उसका कथन और श्रवण तो महापाप है ।’

‘तुम कुलीनों की पाप-पुण्य की परिभाषाएं विचित्र हैं । अपने स्वार्थ को तुम नोग पुण्य कहकर बखानते हो और जो अपने हित के विपरीत जाता है, उसे तुम असामाजिक और महापाप बताते हो । अपनी मौत से तुम भयभीत होते हो, परन्तु राजमार्गों पर अपने भगवान के बेटे को मरने के लिए नगा छोड़ दिया है ।.. और मैं कहूंगा—उसकी गन्तता—तुम्हारी अपनी गन्तता है । इन भिखमंगों की भूख पुकार-पुकार कर जतला रही है कि तुम्हारे वर्ग की सर्व स्वार्थिनी क्षुधा कितनी भयकर है । तुमने अधिक खाया, तुमने उसका ग्रास भी छीन लिया, तभी न वह नंगा, भूखा, निराश्रय भटक रहा है बाजारों में । ‘एक कासापन दो बाबा, एक रोटी का टुकड़ा दो ।’—धिक्कार है तुमको । इस अनाचार का प्रतिशोध लिया जाएगा । तुम जिसे काल कहते हो, वह और कुछ नहीं, जन-जन के अंतर की ज्वाला है । वह तुम्हें भस्म कर देगी । विश्वास करो, जिस दिन ससार में स्वार्थ नहीं रह जाएगा, उस दिन मृत्यु भी न रह जाएगी । मृत्यु इसलिए आती है कि वह तुम्हें, ठोकर मारकर सिखलाए—उठो, बहुत लिया अब कुछ देकर जाओ ।..प्रिये, घबराओ नहीं, मैं तुम्हारे पास बैठा हूँ । मेरा अपराध क्षमा करो । मेरी मन-स्थिति को देखो-परखो । अब तुम्हारा जी कैसा है ?’

यशोधरा बाहर से जितनी सुकुमारी है, भीतर से उतनी सहनशील और अचपल भी है । कहने लगी—‘भय और घबराहट-जैसी बात नहीं । सिर्फ इतना ही कि अपने प्रिय का अभाव दुखदायी होता है ।’

‘सारा ससार दुखदायी है यशोधरे । प्रियों का वियोग दुःख है तो अप्रियों का संयोग भी दुःख है । जन्म भी दुःख है, जरा भी दुःख है । व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है । यहाँ सब कुछ तो दुःखमय है !’

‘स्वामि, विश्राम न कीजिएगा । आपको मेरी शपथ, अब जो जी को अधिक दुःख दिया ।’

‘दुःख-सुख का विचार कल्पनामात्र है । सब माया है । सब दुःख है । इच्छा करने पर किसी पदार्थ का न मिलना, दुःख है । मुझे लगता है सारे भौतिक-अभौतिक पदार्थ दुःख हैं । तृष्णा और तृप्ति दोनों दुःख हैं ।’

‘फिर सुख क्या है देव ?’

‘सुख क्या है—यही तो मैं भी सोच रहा हूँ । हा...हां...सुख वह है, जिसमें मनुष्य को जन्म न लेना पड़े । जिसमें जरा, मरण, आधि-व्याधि और कामनाएं न हों । मेरा अनुमान है, वही सुख होगा । मैं उस सुख को खोज लेना चाहता हूँ । मैं उस मरण-हीन

जीवन को पा लेना चाहता हूँ, न केवल अपन लिए किन्तु समग्र सृष्टि के लिए।

‘देवि, मैं वह दिन लाना चाहता हूँ—जब मनुष्य को यो बार-बार जीना-मरना न पड़े। यो दुखी न होना पड़े। एक का दुख सबका दुःख हो, और एक का सुख सबका सुख हो। मैं समता के उस समाज की कल्पना और रचना चाहता हूँ। और उसे धरती पर लाना ही पड़ेगा, मैं उसे लेने जाऊंगा। यदि मैं न ला सका, तो कोई बात नहीं, मानव पुत्र अवश्य लायेगा। मनुष्य अपने सुनहरे भविष्य के लिए निरन्तर लड़ता रहेगा।..

‘वह इसलिए लड़ेगा सुनोचने, कि अपनी विजय में उसे विश्वास है।’

देवी कुछ न बोली।

21

पिछले दिनों जो घटनाएं हुई थी, उनके कारण मेरा मन बहुत खिन्न हो चुका था और चित्त दिग्भ्रम में भँरे की भाँति भटक रहा था। माया के मृग-जल के पीछे मनुष्य केसा भाग रहा है, देख-देखकर मैं चकित था। संसार में कितना अनन्त दुःख और परिताप छाया है, और उसके समक्ष उसके उन्मूलन के निमित्त मानवीय प्रयत्न कितना छोटा और अकिंचन है। अब तो प्रत्येक जन-जन को उठना होगा। हमारी यह लड़ाई साधारण लड़ाई न होगी, शताब्दियों तक यह चलेगी और शत-शत संततियाँ इसमें भाग लेंगी। हमें अपनी हार नए अनुभव सिखलाएंगी और विजय के मूल्य को हमारे सामने स्पष्ट कर, हमें नए परीक्षण और पराक्रम के अवसर प्रदान करेगी। ताकि कोई यह न कहे कि, मनुष्य विषमता का विष-पान कर मर गया। मनुष्य ने प्रकृति से पराजय पाई। वसुधा वीरों के विक्रम से विहीन है, यह कोई न कह सकेगा।

अब मैं मनुष्य के ज्योतिष भविष्य को अच्छी तरह देख पा रहा था। मुझे यह महसूस हुआ कि दुनिया उतनी ही नहीं जितनी या जैसे हम उसे जानते हैं, हमारे पूर्वज, हमारे ज्ञानी और हमारे आचार्य, जो कुछ जानते हैं, कहते हैं वह तो सिन्धु के एक बिन्दु से उतना ही छोटा है, जितना बिन्दु सिन्धु से। ज्ञान अनन्त है। ध्यान अनन्त है। सिन्धु अनन्त है। सिद्धि अनन्त है। तो यह मनुष्य भी अनन्त है। इन सबसे अनन्त है और जो कुछ भौतिक-अभौतिक अनन्त है, वह सब मनुष्य के लिए है, सबके समान उपयोग और उपभोग के लिए है, सबके समान योग और भोग के लिए। मुझे लगता था, एक दिन आएगा, जब मनुष्य प्राप्त का परित्याग कर देगा—सर्वजन हित के लिए, सर्वजन सुख के लिए।

यह सारे रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, भव-ताप, सताप, अताम्यजनित है। मनुष्य का ‘स्व’ इनकी मूल उपाधि है। यही ‘स्व’ इनका जनक है और मनुष्य का वैरी है।

मे इस भव ताप की तपन का बुझाऊंगा मे सब के हित हेतु अभिनव साम्य को लाऊंगा। तब दुःख नि शेष होगा। और यदि रह भी गया, तो इतना कम होगा कि सब उसे बांट लें और उस समाज मे सुख इतना अधिक होगा कि बाटे न वटेगा। और तब मनुष्य को एक ही बात की शिकायत रह जाएगी कि मेरे पास दूसरे स अधिक सुख है, इसे मैं कैसे, क्यों कर दूसरे को दे सकता हूँ ? हर एक प्राणी को अपने सुख का बोध इसी प्रकार होगा। निश्चय ही तब जीवन अमृत बन जाएगा। मैं उस अमृत को धरती पर लाऊंगा। मैं नए मनुष्य का निर्माण करूंगा। उस मनुष्य का अपने विश्व-परिवार और अभिनव सम समाज की सृष्टि रचना में निरत, निमग्न देख, मेरा मन पुलकित हो जाएगा।

धरती पर वह आनोक कब उतरेगा ?

पिताजी को जब यह ज्ञात हो गया कि मैने पिछले वर्षों न केवल वृद्ध और रोगी देखा है, वरन् एक मृतक भी देखा है। और वह मृतक भी दूसरा कोई नहीं उनका परम सखा कालदेवत था, तो सताप-की सीमा न रही।

महाराज के कई दिवस अत्यन्त उद्विगनावस्था में व्यतीत हुए। मंत्रीजन अलग चिन्तित थे। वे सब मुझे महल की चारदीवारी मे बन्द रख सकते थे। पर भला मेरे मन को कैसे बाध सकते थे ? कालदेवल का कथन सत्य था कि सम्राट् शुद्धोधन के पास ऐसी तलवार नहीं है जिससे वह विपक्षी के मन को काट डाले या उसे विजित कर, बन्दी बनाकर ले आए, तो मैं सोचता रहा क्यों न इस मानव-मन को किसी प्रकार वश में किया जाए। क्यों न, ऐसा उपाय खोजा जाए कि मनुष्य का मन बदला जा सके। यदि ऐसा हो सका, तो हम नरो की यह जीत तलवारों की जीत से, हथियारों की जीत से बहुत बड़ी जीत होगी और लोक मे कहानी चल जाएगी, कि कपिलवस्तु के शाक्य राजा के कुल में एक ऐसा भी दीवाना पैदा हुआ था, जिसने जरा को भी कभी स्वीकार नहीं किया, जिसने मरण को भी कभी स्वीकार नहीं किया। उसने कहा, जरा हमारा धर्म नहीं, मरण हमारी परम्परा नहीं, हार हमारी रीति नहीं। और मुझे प्रतीत हुआ—सिद्धार्थ इसके लिए तुम्हें सबसे लड़ना पड़ेगा। अपने स्वप्न का ससार-भर में सबके निमित्त प्रकाशित देखने के लिए तुम्हे शायद सर्वस्व का बलिदान देना होगा। अरे. अरे. सब छूट जाएंगे।...अकेले रह जाओगे सिद्धार्थ, अपने सगर मे अकेले रह जाओगे। समस्त उच्च वर्ग उनकी सगठित शक्तिया, उनके ज्ञान-विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र सब तुम पर एक साथ अचूक वार करेगे। परन्तु तुम्हारी राह यह साबित कर देगी कि मनुष्य का पराक्रम परिधियो में नहीं बाधा जा सकता। उसके ज्ञान के दीप को नहीं बुझाया जा सकता !

देखना है, क्या होता है।

समाचार लाने में शैवालिका पवन-पुत्र से कम नहीं। महाराज ने, मेरे वृद्ध देखने पर,

पहरा बढ़ाकर एक याजन कर दिया था। रागी की बात यशोधरा ने जब उन्हें बता दी और मेरी सारी शिकायतें उनके सामने रख दी, तो पहरा बढ़कर दो योजन हो गया और प्रहरियों की संख्या तो लाख के आस-पास आ गई। पिछले वर्ष कालदेवल की मृत्यु और उसकी वहन का क्रदन मैंने देखा और इसका समाचार महाराज ने जाना, तो उनके शोक और क्रोध की सीमा न रही। मुझे समझ में नहीं आता, मुझे वाध रखने के लिए, कितने प्रहरियों को अपने प्राणों से बिटा लेनी पड़ेगी। मेरे मांग में आ जाने वाले, किसी भी अनपेक्षित, अकाम्य को मृत्यु-टण्ड मिलता है और मेरी मुग्धा का उत्तरदायित्व जिन पर होता है, उनकी दुर्गति की तो कहना ही क्या, सहस्रों की संख्या में पथ के उन प्रहरियों और अंगरक्षकों को काल के कराल कुण्ड में झाक दिया जाता है।

इन घटनाओं के कई वर्ष उपरान्त, मुझे ज्ञान हुआ कि उद्यान-भूमि जाते समय मेरे मार्ग में वृद्ध भिखारी और पशु कोड़ी को लाना देवदत्त का पड़्यन्त्र था। उसे कालदेवल की भविष्यवाणी और कौडिन्य का कथन अपने गुप्त सूत्रों से ज्ञात हो गया था, और वह जानता था कि यदि मैं घर छोड़कर बेघर हो जाऊँ, तो लोक में मेरा अपवाद फैलेगा और मेरे राज्य-परित्याग पर वह सिंहासन का उत्तराधिकारी बन जाएगा। मैं तो इसमें उसका और उसके तथाकथित साथी देवों का उपकार ही मानूँगा। क्योंकि इस प्रकार वे मेरे ज्ञान-विकास और अन्तर-चिंतना के निमित्त-कारण जुटा रहे थे।

बेचारों ने कितना परिश्रम किया। हमारे विपक्षियों की समस्त अभिसंधियाँ हमारे हित के लिए होती हैं। उनके शुभ को अशुभ हम अपने शुभ से धो देंगे।

22

मुझे एक दिन मालूम हुआ कि रोहिणी के किनारे, जो आम्र-वन है, वहाँ एक विचित्र व्यक्ति आया है। छन्दक ने बताया, वह निर्ग्रन्थ सन्यासी है। सत्सर का अपना सब कुछ छोड़ चुका है। अकेला विचरता है, और अकेला एकांत में रहता है। मेरे मन को बड़ी ललक-लालसा लगी कि उसके दर्शन करूँ। मैं जानना चाहता था कि क्या वह भी मेरी तरह सर्वजन-सुख के लिए पागल बना हुआ है। आखिर उसका कहना क्या है, उसके विचार कैसे हैं। दुनिया का वह किस दिशा में देखना चाहता है ?

विगत वर्षों में चुपके-चुपके, जिन पड़ितों से मिला, छिप-छिपकर मैंने जितने वेद-वेदान्त, ज्ञान-ग्रन्थ पढ़े उनसे मेरा परितोष न हुआ। मेरे मन की जिज्ञासा को राहत न मिली। वह तो अब भी वैसी ही विभ्रान्त, अनजानी, उदास और प्यासी भटक रही थी, जैसी पहले दिन। या, और भी उसकी प्यास और लगन बढ़ गई थी।

यशोधरा थी नहीं। वह अपने मायके गयी थी। सिमतिनी थी। मैंने देखा, अच्छा

अवसर हाथ लगा है, राहिणी तटवाल सन्यासी स मिला जाए शैवानिका कहती थी कि वह बड़ी देर तक उपस्थित लोगो को उपदेश भी देते हैं। शुभ अवसर है। उस दिन, पहली बार मुझे यशोधरा के दूर रहने पर प्रसन्नता हुई। ज्ञान की प्राप्ति हमारे मार्ग में जो भी बाधक बने, वे सब त्याज्य हैं। संघर्ष के लिए हमारे अभियान में जो भी हमारे अवरोधक हों, वे सब हमारे अहित-चिन्तक हैं। उन्हें कोटि-वैरी समझो देना चाहिए। मैंने सोचा यदि सिद्धार्थ यह बात है, तो फिर महाराज, देवी, मा प्रजापति और यशोधरा क्या चीज हैं !

मुझे खयाल आया—कहीं यह सन्यासी भी देवदत्त का छद्म वेशी चर तो नहीं है ? फिर मन में उत्तर मिला—हुआ भी तो हमारा क्या लेगा ? और छद्म चर तो सहसा ही ज्ञान-वार्ता नहीं कर सकता। चलो, यह भी एक नया अनुभव रहेगा।

वेश बदलकर मैं सभा में गया। वहां संन्यासी का अभिवचन चल रहा था—‘परमात्मा ने जीव-जगत् की सृष्टि की है। मनुष्य और पशु बनाए हैं। मनुष्य ने कहा कि वह श्रेष्ठ है और पशु निम्न है। पशु क्यों नीचा है ? उसमें ऐसे कौन-से अवगुण हैं कि वह मनुष्य की जाति में नहीं आ सकता ? उसने कौन-सा अपराध किया है ?

सृष्टि के समस्त प्राणियों में मनुष्य अकेला अपने-जैसा है। वह सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न एवं अद्वितीय है। शारीरिक शक्ति में पशु बली हो सकता है किन्तु, बौद्धिक एवं आत्मिक शक्ति में मनुष्य बड़ा है।

इस बुद्धि-बल ने ही मनुष्य को पशु से बड़ा बनाया है। और बुद्धि में भी चेतना ने उसको विकास दिया है। और इस मनुष्य के विविध रूप हैं। मूर्ख, अमूर्ख। पंडित, अपंडित। परिपूर्ण, अपूर्ण। इन विभिन्न रूपों में मनुष्य के दर्शन होते हैं। भक्त, दास, प्रेमी, न्यायी, अन्यायी अनेक स्वरूपों में वह प्रतिष्ठित है।

लेकिन, जिस प्रकार पशु में पशुता सुलभ है उस प्रकार मनुष्य में मनुष्यता सुलभ नहीं है।

पशु अपने स्वरूप एवं कार्यों के प्रति सच्चा है, किन्तु मनुष्य अपने कर्तव्य एवं रूप-अनुदान के प्रति सच्चा नहीं है। पशु अपने मन और मस्तिष्क को धांखा नहीं देता। मनुष्य प्रतिपल अपने मन, मस्तिष्क और आत्मा को छलता है। पशु मनुष्य से अधिक प्रकृत जीवन बिताता है। वह प्रकृति के नियमों का उतनी सरलता से भग नहीं करता, जितनी सरलता से मनुष्य प्रकृति की लीक के विरुद्ध जाता है। मनुष्य ने इस प्रकार, अपना जीवन अप्राकृत जीवन का प्रतीक बना दिया है। पशु-जगत् अपने सामाजिक विधान का उल्लंघन नहीं करता। जातीय मर्यादा में जीता है। मनुष्य को अपनी सामाजिकता और जातीयता का सम्मान करना नहीं आया। मर्यादा में जीना नहीं आया। मनुष्य अप्राकृतिक, असामाजिक एवं अजातीय जीवन बिताकर, पशु से भी हीन कहलाया।...हमने ‘जियो और जीवित रहने दो’ के रूप में मानव मात्र को स्वीकृति दी। प्राणी मात्र के, अणु के समान जीव-जन्तु से लेकर हाथी और प्राणियों में से सभी का जीवन स्वीकार किया। यहां तक कि अपने लाभ एवं स्वार्थ

के लिए किसी भी रूप में उनकी हिंसा तो दूर रही, उन्हें कष्ट पहुंचाना तक पाप समझा। इस प्रकार मानव और धर्म की स्वीकृति हमने प्रकाशित की है। विरोधी को वाणी की स्वीकृति दी।

अब हमारी सबसे बड़ी स्वीकृति आती है—ईश्वर सम्बन्धी, जगत्-भर की सभ्य कहलाने वाली जातियाँ अधिकार में गाते खा रही थीं, हम ब्रह्म, चेतन, ज्योति, सत्य, परमात्म के रहस्यों को पा चुके थे। उन रहस्यों का अवगाहन कर भारतीय मनीषा ने जीवन और मुक्ति का पारस पाया। अपने सिद्धान्तों पर अटूट विश्वास और समयानुकूल अवस्थाओं का निरीक्षण और दिशा-निर्देशन, सत्य की ओर सभी कठिनाइयों में रहना भारतीय-सांस्कृतिक परम्परा की विशेषताएँ रही हैं।

हम सदैव सत्य की ओर रहे और हमने माना कि जिधर सत्य होगा उधर जय होगी। और इसी एक सिद्धान्त पर विश्वास रखकर पांडवों ने असत्य एवं मिथ्यात्व के विरुद्ध महायुद्ध लड़ा।

हमारी यह परम्परा रही है कि हम सत्य की ओर अग्रसर हों। इस तथ्य का एहसास करें कि सत्य हमारी ओर है। लेकिन, इस वान का दुराग्रह न करें कि हमी सच्चे हैं। छोटी-छोटी बातों को लेकर संस्कृतियाँ और सभ्यताएँ अलग नहीं हो जाती। मूल जीवन-प्रवाह को बदलने वाली धाराओं पर संस्कृतियों की श्रृंखला निर्भर है।

श्रोता 'धन्य-धन्य' कह रहे थे।

‘मित्रो ! जैसा कि हम देखते हैं कि दुनिया-भर की संस्कृतियों ने अपने दार्शनिक एवं धार्मिक उत्थान में, मनुष्य को अधिक, मनुष्य मात्र समझा। उसकी उन्नति एवं सुरक्षा के उपाय ढूँढे और उसके अनेकांगी-विकास की व्यवस्था की। किन्तु भारतीय संस्कृति ने मनुष्य को मात्र अस्थि-मज्जा का पिंजरा मानकर ही चैन न ले लिया, वरन् उसने इन्सान को ‘भगवान्’ समझा। उसने बताया कि मनुष्य यदि बढ़े तो भगवान् बन सकता है। मनुष्य ही भगवान् है। मनुष्यत्व में ही ईश्वरत्व प्रतिष्ठित किया।

राम का जीवन मर्यादा, सत्य और संघर्ष की इतनी बड़ी मिसाल बन गया कि लोगों को उनमें ईश्वरत्व की सभी सीमाएँ विलय होती दिखाई दीं और उन्हें विश्वास हो गया कि यह राम ही ईश्वर है। ईश्वर ही राम है। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी संस्कृति परमात्मा की देन है। और परमात्मा हमारी संस्कृति की देन है। विश्व में सबसे अधिक, आध्यात्मिकता और आस्तिकता का क्षेत्र-शोधन हमारी संस्कृति ने किया है। उसने मनुष्य की सदेह मुक्ति का मंगल-भीत रचा है।

हमारी संस्कृति ने ‘उद्धार’ किसी दूसरे के हाथ में नहीं रखा। व्यक्ति का उद्धार या मोक्ष उसी के हाथ में रहा और रहेगा—यह हमारी संस्कृति ने कहा। हमारे अवतारों, तीर्थंकरों और भगवानों को मनुष्य-रूप में अपनी लीला दिखलानी पड़ी। आकाश में बैठे-बैठे उन्होंने सारा चमत्कार नहीं कर लिया। यदि ऐसा होता, तो संसार में मनुष्य कब का खत्म हो गया होता। तब न मनुष्य रहता, न देवत्व। शैतानों का राज्य होता और वे आकाशचारी देवों को भी शांति से नहीं बैठने देते। हमारी सभ्यता का

विकास इस प्रकार किया गया है कि हमारा सर्वस्व मनुष्य में सं परमात्मा बनने के लिए लगा हुआ है। हमारा भोग, योग, भजन-भोजन सभी ईश्वरत्व की खोज में है, मनुष्य का विकास उस श्रेणी तक करने की तत्परता में है जब वह भगवान बन जाएगा।

यह जो लम्बी-चौड़ी दुनिया दीख रही है, इसके निर्माण में कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। आप ध्यान रखकर सुनें और स्मरण रखें कि इस ससार की रचना 'परमात्मा बनाने' के लिए है। सांख्य-दर्शन के पहले श्लोक में आत्यंतिक सुख-प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य की सार्वकालिक, सच्ची शांति पर संतो ने, धर्मों ने जोर दिया है—यह शांति क्या यूँ ही मिल जाएगी। आज सड़क पर मनुष्य का जो चोला भटक रहा है, उसे मिल जाएगी। नहीं। उस चोले और मनुष्य में पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ेगा। ईसोपनिषद् का श्लोक है - ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। आदि। इसी पूर्णत्व की प्राप्ति है का सौभाग्य मनुष्य को मिला है। मनुष्य को यदि सबसे बड़ा गौरव प्राप्त तो वह है—उसका ईश्वरत्व। जिस प्रकार वट में वट और उसके प्रत्येक बीज में एक-एक वट छिपा है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य में एक-एक परमात्मा का निवास है। वह नाना नाम, रूप और आकार-प्रकारों में विचरण कर रहा है। भारतीय संस्कृति ने इस महत्त्व पर सदैव जोर दिया है।

वट और बीज के उदाहरण में पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिण्ड की परिभाषा स्पष्ट होती है। सारा विश्व ईश्वरमय है। कण-कण में राम रम रहा है। प्रत्येक मनुष्य में परमात्मा बोल रहा है। परन्तु, उसकी बोली समझने वाले कान हमारे पास नहीं, किंतु उसे पहचानने वाली आंखें हमारे पास नहीं।

भाइयो! 'अप्पा सां परम अप्पा' का सत्य हमें पहचान लेना है। यह उपदेश पठन-पाठन के लिए नहीं दिया गया है। हमारे अपने जीवन में और लोगों के जीवन में हम इसे प्रत्यक्ष देखें और दिखाएँ, इसीलिए इसका महत्त्व है।

भारत संस्कृति का केन्द्र है। उसने घोषणा की कि मनुष्य परमात्मा है। सारे ससार में यह वाणी फैली। और अन्य धर्म व्यवस्थाएं तथा संस्कृतियाँ इस पर विचार करने को बाध्य हुईं। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों में आवश्यक परिवर्तन किए। लेकिन, भारत के सिवा किसी ने नहीं कहा कि ईश्वर स्वयं मनुष्य है। यह मनुष्य ईश्वर से, ईश्वरत्व से दूर नहीं है। जितने सत्य हैं सबका एकमात्र उद्देश्य है और वह है—मनुष्य में उसके परमात्म-रूप की प्रतिष्ठा करना।

इसीलिए भाइयो और बहनो, यह विश्वास रखिए कि परमात्मा तुम्हारे अपने रूप में जी रहा है, इसलिए वह परमात्मा है। तुम इस रूप की रक्षा करो। इसे विकृत न होने दो। निरन्तर इस ध्येय में लगे रहो कि हमारा तन, मन, जीवन शुद्ध हो, आत्मा शुद्ध हो और उसे परमात्म-स्वरूप मिले। यदि आपने अपनी आत्मा की स्थिति जागृत कर ली, तो आप परमात्म-रूप को निकट पाएंगे।

सभी यही कहते हैं कि मनुष्य मोह का मोर्चा हटाकर अपनी आत्मा के आइने

को साफ करे, उसमें परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट झलकने लगेगा। लेकिन, कितने हैं, जो ऐसा करते हैं ?

अतएव मैं जोर देकर कहता हूँ कि इन्सान की सेवा भगवान की सेवा है, प्राणी मात्र को जीवित रहने दो। तभी आपका जीवन सुरक्षित रह सकेगा। क्योंकि आपका जीवन दूसरों के जीवन पर आश्रित है। सबको मारकर कोई जीवित नहीं रह सकता। सबकी सेवा में आप अपनी सेवा कर रहे हैं।

अनहित और हिंसा हमारी परम्परा नहीं। ये असुरों और युद्धखोरों की रीतियाँ हैं। भारत में इनके लिए स्थान नहीं। भारत में जब-जब हिंसा आई वह अहिंसा का चोला पहनकर आई, जैसे यज्ञों में की जाने वाली ये हिंसा। इसे भी बदल कर देना होगा। कुछ व्यक्तियों के जीवन में परिवर्तन आया है और उन्होंने समझ लिया है कि लोभ, मद, मोह, मर्यादा, मत्सर, कषाय, पारिग्रह को भस्म करना ही सच्चा यज्ञ है। सच्चा यज्ञ तो ज्ञान का है। जिसके विशाल कुंड में कल्मष भस्म हो जाते हैं। जिसकी आत्मा ज्ञान से आलोकित है उसका निर्माण, उसका निर्वाण और कल्याण दूर नहीं। यही भारतीय संस्कृति का सार-स्वरूप है।...” बड़ी देर तक तालियाँ बजती रही।

संत के उपदेश का मुझ पर बहुत प्रभाव पड़ा। यही सब कुछ तो मैं कहा चाहता था। संतो ने मेरी विचार-माला को वाणी दी।

लेकिन, ये ब्रह्मा और ब्रह्माण्ड की बातें मुझे अच्छी नहीं लगीं। ये सब मिथ्या हैं। और आत्मा-परमात्मा के बारे में तो विचार वही हैं, जो मैं उस दिन अन्ना के सामने प्रकट कर चुका हूँ।

जब मैंने छद्मवेश छोड़कर अपना राजसी वेश पहन लिया और रथ के समीप वहा आया, जहाँ छन्ना था, तो मैंने उसे देखते ही तुरन्त कहा—‘छन्दक, मैं भी सन्यासी बनूँगा। मैं भी निर्ग्रन्थ-अचेल साधुओं में दीक्षित हूँगा।’

‘यह क्या कह रहे हैं ?’

‘मैं ठीक कह रहा हूँ, अपने मन की बात कह रहा हूँ।’

छन्दक का चेहरा उतर गया और कुछ-कुछ पीला पड़ गया। मेरे मन में विचार उठा, अपने भाषणों में इन संतों ने जो कुछ कहा, उसके लिए विरागी बनना क्यों आवश्यक है ? यह तो गृहस्थ रहकर भी कह सकते थे। और यदि विरागी बने, तो अपने केश और दाढ़ी क्यों मुँडवाएँ ? अब मेरे लिए आवश्यक हो गया कि मैं इस बारे में छन्दक से कुछ पूछूँ, अन्यथा यह जिज्ञासा मन में भटकती रहेगी, और मुझे चैन न लेने देगी—

‘सौम्य छन्दक, यह पुरुष कौन है ?’

‘देव ! यह प्रव्रजित है।’

‘इसका सिर भी मुड़ा है और वस्त्र भी दूसरे लोगों जैसे नहीं हैं ?’

‘कुमार, यह संसार छोड़ चुका है, सो सांसारिक वेशभूषा से इसे क्या ?’

‘यह प्रव्रज्या क्या चीज है ?’

‘देव ! धर्मानुसार आचरण करने के लिए, शांति पाने के लिए, और उसका लाभ दूसरे प्राणियों को देने के लिए, पाप-प्रक्षालन और पुण्य-संचय के लिए यह प्रव्रजित हुआ है।’

‘क्या इस ध्येय के लिए इसने गृहस्थाश्रम भी छोड़ दिया है ?’ मुझे याद है मैंने छन्ना से यह प्रश्न उस दिन किया था।

‘यथार्थ है देव !’

‘तो छन्दक ! रथ को वहा ले चलो, जहा यह प्रव्रजित हुआ है।’

‘जो आज्ञा युवराज ! परन्तु हम नहीं जानते, यह तपस्वी किस स्थान और किस गुरु से दीक्षा लेकर सन्यस्त हुए है।’

‘सौम्य, क्या प्रव्रज्या के पूर्व, गुरु का होना आवश्यक है ?’

‘यह तो मैं नहीं जानता। मैं साधारण जीव ऐसे गहन प्रश्नों का उत्तर कैसे दे सकता हूँ कुमार ! अपराध क्षमा करें।’

‘उचित कहते हो छन्दक ! तो किसी प्रकार रथ इन तपस्वियों के आवास तक ले चलो, मैं तुम्हारा उपकार मानूँगा।’

‘देव, यह क्या कहते हैं ? कोई राजकीय गुप्तचर देख लेगा ! मैं तो कुमार का दास हूँ, आज्ञा का पालन करूँगा। वही मेरा धर्म है ?’

‘तब मन में तुम्हारे यह असमजस कैसा ? चलो, बढाओ रथ।’

‘जो आज्ञा देव !’ छन्दक ने रथ बढा दिया, परन्तु मैंने देखा बल्गा-पकड़े उसके हाथ कुछ-कुछ कांप रहे थे।

सन्यासी से मैंने पूछा—‘हे ! आप कौन हैं ? आपके वस्त्र अन्य लोगों जैसे नहीं हैं। सिर भी मुंडा हुआ है। वदन पर तेज भी है। कहिए, आप कौन हैं ?’

‘भद्र, मैं प्रव्रजित हूँ। वैरागी हूँ। हम वैरागियों की यही वेश-भूषा है। हमे केशों के शृंगार से क्या प्रयोजन ? सुन्दर परिवेश हमारी साधना में बाधक ही है।’

‘ठीक, और आप प्रव्रजित हैं, इसका क्या आशय है ?’

‘देव, मैं शुभ धर्माचरण के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ। समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा, सब के प्रति क्षमा और अहिंसा हमारा कर्तव्य है।’

उस संन्यासी को हृदय से नमन कर मैं रथ पर आरूढ़ हुआ।

जब मैं अन्तःपुर लौटा तो मेरे मन में नई अशान्ति थी। एक पर एक प्रश्न उठ रहे थे। यशोधर तो थी नहीं। मैं अपने कक्ष में गया और भित्ति पर टंगे उसके तैल-चित्र की ओर देखकर कहने लगा—‘यशोधरे, सुन रही हो, मैंने आज संन्यासी देखा है। बड़ी मधुर कान्ति थी उनके चेहरे पर, अधरों पर विचित्र, विजयिनी मुस्कान थी। मैं तो उस मुस्कान को अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूँ। अब मैं भी युवराजि, सिर-दाढ़ी मुंडवाऊंगा, काषाय पहनकर घर से बेघर होऊंगा ! मैं प्रव्रजित

होऊगा। मैं लोक की शांति और जन-जन के सुख के लिए अपने सर्वस्व का परित्याग करूँगा। अब अपनी इन रसवती आखों से मेरी ओर न देखो, यशोधरे ! अपने इन होठों की मादकता से मुझे बेसुध करने का तुम्हारा यत्न वृथा जाएगा देववाला। मे तुम्हें भी छोड़ दूँगा।...कह चुका न, मैं अवश्य प्रव्रजित होऊँगा।’

उस रात मुझे नींद नहीं आई।

23

शैवालिका देवदह से लौटी थी। वहाँ के समाचार लाई थी। देवी के बिना मेरा जी न लगता था। यशोधरा में एक अनोखा तेज है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। पिछले दिनों वह यहाँ होती तो मुझे सहारा ही मिलता। चैन ही मिलता।

शैवालिका ने बताया-

‘कुमार, मैं अभी ही देवदह से आ रही हूँ। अरे बाप रे, क्या हैं वहाँ के लोग। कुमार बुरा न मानना, सच कहती हूँ, ऐसे लडाकू लोग मैंने अपने जीवन में कहीं नहीं देखे। और स्त्रियाँ ऐसी नखराली कि वा...वाह !...देवी की दोनों बहनें भी वही थीं। और उनके तीन दर्जन बच्चे ! हाय राम, ऐसे अगिया-बैताल-छोकरे मैंने कहीं नहीं देखे ! अपने-जने होते, तो मुँह में अगारे भर देती। देवी को पल-भर भी चैन से नहीं सोने दिया।’

‘मौसी, मौसी’ चीखते रहते और बहनें भी हरदम छाती पर छाई रहतीं—‘तुम्हारे वे कैसे हैं ? तुम्हारे वे कैसे हैं ?’...यह अच्छा हुआ कि उरुवेला से सुजाता भी देवदह आ गयी थी। अपनी सहेली की इस मगल-घडी में वह पास रहना चाहती थी। देवी तो निरंतर आपके ध्यान में मग्न रहती हैं। मुख पीला पड़ गया है। अधर कुछ कृष्ण हो चले हैं, फिर भी एक अनोखा स्वरूप निखरा है इन दिनों देवी में। जिस प्रकार शनै-शनैः दूज का चन्द्रमा बढ़ता है, उस प्रकार धीरे-धीरे कुलवधू का कटिप्रदेश बढ़ रहा है।...मुझे तो पूरा विश्वास है कुमार, देवी की कोख से राजकुमार का जन्म होगा। ओह, कितना मंगलमय होगा वह पल मेरे लिए। मेरा अनुमान है, अब तो वहाँ से साझ-सुबह में संवाद आता ही होगा। इस बार मैं पूरा-पूरा पारितोषिक लूँगी, पहले से कहे देती हूँ। रोहिणी के तट पर, वह जो भवन खाली पड़ा है, मुझे बड़ा अच्छा लगता है।’

‘वह तो तुम अब भी ले सकती हो।’—मैंने शैवाली से कहा। वह बारंबार मेरी बलैया लेती चली गई।

दो पल बाद शैवालिका पुनः दौडती हुई लौटी। इस बार उसके साथ छन्दक और अन्य अनुचर भी थे। उनमें कुछ अपरिचित चेहरे नजर आए, मैं समझ गया

कि देवदह से कोई खबर आई है। शैवालिका आग-आगे थी। उसने दूर से ही कहा—‘कुमार की जय हो। धन्य भाग्य है हमारे, देवी यशोधरा ने अभी ब्रह्म-मुहूर्त में राजकुमार को जन्म दिया है। देवी और शिशु दोनों स्वस्थ हैं, सकुशल हैं।’

‘छन्दक, पारिजात से किसी महिला को भेजकर, हमारी ओर से देवी की कुशल पूछने का प्रबन्ध हो।’

‘जो आज्ञा युवराज।’

मुझे आनन्द तो न हुआ, पर जाने कैसी एक पुलक से मन-प्राण भर गए। मन में ध्वनित होता था, अपनी ही एक लघुतम प्रतिच्छवि जैसे अवतरित हुई है। इस मूर्ति में देवी ने अपना सपना प्रत्यक्ष पाया है।

मैंने एक नये दायित्व का अनुभव किया। छन्दक पास में ही खड़ा था, मैंने कहा—‘तुम तो प्रसन्न हो, परन्तु यह राहु का जन्म है। यह नया बन्धन जन्मा है।’

उसी दिन, सध्या-समय शैवालिका ने मुझे बताया कि दोपहर में जब छन्दक महाराज की सेवा में उपस्थित था, उससे पूछा था शाक्येन्द्र ने—‘कहो भी, हमारे सिद्धार्थ ने क्या कहा, देवी यशोधरा के इस उपहार को पाकर?’

‘देव। युवराज बोले, यह राहु पैदा हुआ है। यह नया बन्धन आया है।’

‘भोला है कुमार। सच, छन्दक हमारा सिद्धार्थ अभी बालक है। उसने दुनिया नहीं देखी। यह तो यशोधरा है जो उसे जीवन यात्रा में अपने साथ ला सकी। वरना, तुम तो जानते थे, कितना द्रोह था कुमार के मन में। तो यो बोला सिद्धार्थ, राहु पैदा हुआ है। हा जी, देखना है अब, हमारा बेटा इस नए बन्धन को कैसे अस्वीकार करता है? सन्तान का मोह बहुत प्रबल होता है। और छन्दक, क्या राय है तुम्हारी इस शिशु का नाम ‘राहुल’ ही क्यों न रखा जाए।’

‘भगवन्, देवी यशोधरा क्या इसे पसन्द करेंगी?’

‘हा छन्ना, उसकी पसन्द पहली और आखिरी पसन्द होगी। खैर, पूरे साम्राज्य में समारोह मनाया जाए, वन्धुमान् से मैं कहूंगा।’

इस प्रकार राहुल का नाम रखा गया। दो मास पश्चात् यशोधरा अपना यह फूल लिये कपिवस्तु आई। उसकी देह कुछ दुर्बल प्रतीत होती थी। मैंने जब कहा तो हंसकर टाल गई। वास्तव में, वह अपने शिशु में भूली थी। अभी उसकी उम्र ही क्या थी! उसे नया एक खिलौना मिल गया था। अब सेविकाओं पर गुस्सा भी कम करती थी और मुझसे बात-बात में रुष्ट नहीं होती थी।

दिन बीतने लगे। राहुल ज्यो-ज्यों बढ़ता था, देवी की प्रसन्नता बढ़ती जाती थी। उसका मन राहुल में खोया था। मेरा मन संन्यासी के वचनों में लगा था। पिताजी मुझे राजपाट सौंपकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहते थे। और इस विषयक समाचार सुन-सुनकर यशोधरा के मन में एक नवीन उत्साह का संचारण हो रहा था। सम्भव है, उसकी कल्पना हो, मैं अब साम्राज्ञी बनूंगी। मेरा बेटा युवराज बनेगा। चांद-सी दुल्हन लाएंगे

हम अपने राहुल के लिए—और जाने क्या-क्या वह सोचा करती, कहा करती, परन्तु कितनी भोली थी। यह भी भूली हुई थी कि राहुल तो अभी छ महीने का भी नहीं हुआ है।

एक दिन अवसर देख मैंने यशोधरा से कह दिया—‘मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।’

उस पर तो जैसे गाज गिरी। मेरा मुंह जोहती स्तब्ध खड़ी रह गई। आंठ खुले रह गए, पर कुछ कह न सकी। आखे मुझे चीन्हती रह गईं। उसने गांव से शिशु को झूले में लिटा दिया और अपनी सेज पर अधलेटी, तकिए में मुंह छिपाकर रोने लगी।

मैंने देवी को बहुतेरा समझाया। मैंने यह भी कहा कि यह तो मेरा विचार मात्र है, किन्तु उसने एक न सुनी। उसने तकिए से मुंह बाहर तक न निकाला। वह तो जैसे किसी तपी का तप भग करने वाली, शापहता अप्सरा—सी लग रही थी। मुझे छोड़ना नहीं चाहती थी और अपनी चिन्ता उसे इतनी थी कि, मेरी सुनना भी नहीं चाहती थी। इन राजपुत्रियों की यही रीति है। अपने वैभव और यौवन मद की खुमारी में ये इस कदर बहकी-बहकी रहती हैं कि इन्हें सिर्फ वही सूझता है, जो ये देखना चाहती हैं। जब-जब मैं इस वर्ग का जनून देखता हूँ, मेरा मन उसको विनष्ट कर देने के लिए आकुल हो उठता है।

राहुल बढ़ रहा था। मेरे प्रति देवी का रोप बढ़ रहा था। संसार के प्रति मेरा विराग बढ़ रहा था। दिन के पीछे दिन बढ़ रहे थे।

जिस दिन मैंने यशोधरा से पहली बार प्रव्रज्या की बात चलाई थी, उसी दिन वह परम भट्टारक के प्रासाद में दौड़ी गई थी। प्रजा मा की गोद में रो-रोकर अपनी कष्ट-कथा और मेरी शिकायतें उसने रख दी थी। फिर महाराज से भी उसने बहुत कुछ कहा। परिणाम में इस राज-परिवार ने मेरे चारों ओर बन्धनों की बाड़ लगा दी। मुझे यह न मालूम था कि प्रस्तुत अनुचरो में से कौन मेरा सेवक है और कौन राजकीय गुप्तचर। इस मोहपाश के नव-नवीन अनुभवों में मेरा जी क्षुब्ध हुआ। एकान्त में ही मुझे चैन मिलने लगा। अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन में ही मैं डूबा रहता।

अब मैंने खुलेआम सन्यासियों की सगति में जाना शुरू कर दिया। आज पावा, कल कुसीनारा और वैशाली। यों मैं संतो और दार्शनिकों के पीछे-पीछे दौड़ने लगा।

जितना जान रहा था, उतना जान लेने का नशा बढ़ता जा रहा था। रत्नाकर की तरंगों के समान प्रतिपल, प्रतिदिन चिर-नूतन अनुभव मिल रहे थे। मुझे लगता था, आज तक मेरा जीवन यों ही व्यर्थ बहा—बहा। मैंने जो दिवस हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा-प्रासादों में काम-कुमारियों की क्रीड़ा-केलि के बीच खोए थे, उनके लिए अन्तर में अतीव पश्चात्ताप था।

मैं यह नहीं कहता कि भोग आवश्यक नहीं किन्तु भोग ही सब कुछ नहीं है। भोग के सरोवर में हमें सरोजवत् रहना चाहिए। भोग के पश्चात् मानव मन की

जो अवस्था होती है, वैसी यदि सदैव बनी रहे तो अच्छा ही है। उसी प्रकार रोग के समय और योग के पूर्व की दशाएं अग्राह्य तो नहीं।

रात में यशोधरा सोई रहती और मैं वेश बदलकर, महल से निकल पड़ता। मैंने इन दिनों जनता की स्थिति का अध्ययन किया। एक ओर सुख-सुविधा के समग्र साधन, दूसरी ओर भूख और दारिद्र्य। पारिजात में यशोधरा के पालतू मृग और श्वान साने के पिंजरों में रहते थे, इधर नगर के बाहर मैंने मनुष्य के बेटे को पशुओं से भी अधिक दुर्दशा में जीते देखा। श्रम और घोर श्रम से, शूद्र कहलाने वाला, यह वर्ग पशु बन गया था। समाज की रचना और विधान जिनके हाथ में थे, उन सर्वहारियों न सर्वस्व का अपहरण कर लिया था और स्वरचित शास्त्रों के काले पन्ने दिखलाकर इन्हें इस भय में अभिभूत कर दिया था कि यदि ये अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करेंगे तो नरक में जाएंगे। इनके कल्याण का एक ही मार्ग है—सेवा। और इस हत्यारिनी सेवा की नागिन ने इन निम्नवर्गीय लोगों को पूरी तरह डस लिया था।

मैंने इनके घरों में भूख से तड़पते शिशुओं को देखा—ठीक राहुल-जैसे शिशु। उससे भी अधिक सुन्दर और सलोने। क्योंकि राहुल की आंखों में तो उसकी अम्मा-द्वारा पिए गए वारुणी के असख्य प्यालों की खुमारी थी। उस राहुल के पूर्वजों की खूनी आदतों की रेखाएं थी। लेकिन...मैं कहता हूँ, इन भोले अनाथ बच्चों में अधिक सारल्य था। ये वे बच्चे थे, जिनके पिता का पता नहीं था। इनमें से अनेक कुमारी माओं के परित्यक्त बेटे थे। ये वे राजकुमार थे, जिनकी जनेताएं, उन्हें घूरों के ढेरों पर छोड़कर, अंधेरे मुंह किसी अज्ञात दिशा में चली गई थीं।..फिर भी ये राजकुमार तो थे ही। कुटिया हो या महल, हरेक मां को अपना बेटा राजकुमार है। और मैंने देखा—नब्बे से अधिक वर्ष के वृद्धों और वृद्धाओं को चिलचिलाती धूप में काम करते, पशु चराते, हल चलाते और बोझा ढोते। और मैं सोचता रहता, जिस देश में यह दशा है, वह अवश्य एक दिन परतत्र होगा, अवश्य वह रसातल को जाएगा। यदि उद्धार का कोई क्रान्तिकारी मार्ग न पाया गया, अपनाया गया तो सबकी गुलामी और सबकी दासता अनिवार्य है।

जब मैं ऐसे किसी आदमी को कर्मरत देखता, तो मेरा मन करुणा से हाहाकार कर उठता और मैं उसकी तल्लीनता में उस मुक्ति को साकार देखता, जिसका गुणगान करते हमारे साधकों का मुंह आज तक न थका।

मैं दौड़कर, बोझा ढोती वृद्धा को सहारा देता, उसकी गठरी-पूरी स्वयं उठाकर ले चलता। मैंने शीत में ठिठुरते बच्चों के साथ काम किया है, वे इधर-उधर सूखी लकड़ियां खोजते रहते। मैं उन्हें ईधन बीनने में मदद देता और उनकी कुटियों में उनके परिवार को आग से तापते देख मेरा मन हर्ष-विभोर हो जाता। अक्सर मैं महल से खाद्य-सामग्री छिपाकर उन तक ले जाता। “भोजन करते हुए उन भूखों की तस्वीर” अब भी मेरे मन पर अंकित है।

परन्तु मैं क्या क्या करता व्यक्ति के लिए क्या होगा ? मेने इस अनुभव से यह निदान पाया कि जब तक सामाजिक व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक जन-जन कल्याण की बातें, कोरी बातें और कोरी कहानिया बनकर रह जाएगी। प्रचार जितना है, काम उतना नहीं है। जनता को खुलकर धोखा दिया जा रहा है—‘हमने तुम्हारे लिए ऐसी-ऐसी योजनाए बनाई है. यह किया है, वह किया है, ’ किन्तु कुछ किया होता तो वह सब न होता, जो नजर आ रहा है। और जो नजर आ रहा है वह अत्यंत भयकर और कुत्सित है। वह इस समाज को या तो तलातल मे ले जाएगा या उछाल देगा। हो सकता है, एक, दो, दस सदिया गुजरें, मनुष्य नीट लेता रहे, परन्तु रात स्वयं इस बात की गवाही दे रही है कि भोर का उदय होगा। इसलिए मेरा मन मुझे कहता रहा कि राष्ट्रों के जीवन में दो, पाच, पच्चीस शताब्दियों की कोई गिनती नही। समाज के स्वामि जिस ऐश्वर्य का सग्रह कर रहे हैं वही उनके विनाश का अग्रदूत बनेगा। जिस धन-कचन को लेकर ये श्रेष्ठीजन अर्थ-पिशाच बन गए है, उसी अर्थ के आधार पर क्रान्ति हांगी और वह सबको सबमे बराबर बाट देगी।

मैने पिछली भेट पर बन्धुमान् से कहा था कि, काम उनसे भी लो, काम उनको भी दो जो बेकार हैं। तो वह हस पडा था—‘यदि कुमार, तुम्हारे बतलाए मार्ग पर हम चले, तो बस, राजकोष में कानी कौडी न रहे। अरे भोले तरुण, ये शुद्र श्रमिक बेकाम, न रहेंगे, तो ये सेवा-कार्य छोड देगे। और परिणाम यह निकलेगा कि राजकुमारियों को चूल्हा फूकना पडेगा। इसलिए हम इन्हें इतना ही देते हैं, जितने से ये भूख से न मर जाए और इनके पास कुछ बच भी न रहे। यदि बच रहेगा, तो दूसरे दिवस पर ये काम पर न लौटेगे। हम चाहते है कि श्रमिक की सन्तान श्रमिक बनी रहे। और ये अभागे बच्चे भी इतने पैदा करते हैं कि इनके घरों मे भूख की भूमिका सदैव उपस्थित रहती है।’

‘बन्धुमान् जी, हरेक बच्चा दो हाथ लेकर आता है, यदि आप उसे काम न दे सकते हैं, तो यह किसका अपराध है ? यदि सब लोग मिलकर काम करें और सबको बराबर काम मिले, तो सब लोग काम मे लग जाएंगे और काम का भार भी हल्का हो जाएगा।’

बन्धुमान् के जाने पर मैं पर्याप्त काल तक श्रम, श्रमिक और पारिश्रमिक की समस्या पर विचार करता रहा। मुझे प्रतीति हो गई कि ससार मे श्रमिक सबसे ईमानदार है। अपराधी है वह, जो श्रम नहीं करता है; जो श्रम करता है, वही श्रमण है।

अब तक वैराग्य लेने का मेरा निश्चय दृढ़तर हो गया था। राहुल की वर्षगांठ आ गई थी और महल्लो में उसके लिए भारी तैयारिया की जा रही थी। यशोधरा दिन-रात व्यस्त रहती थी। यशोधरा की यह व्यस्तता देख मुझे अपनी मां की याद आ जाती थी। काश, आज वह होती, तो देवी की तरह मेरे जन्म दिवस पर पुलकित हो, इस

कक्ष से उस कक्ष तक फिरती रहती ।

राहुल की वर्षगांठ के दिन जो समारोह मनाया गया था, उसमें कृशा गौतमी भी आई थी। अभी उसका विवाह नहीं हुआ था। महल के छज्जे पर वह खड़ी थी। उधर से जुलूस निकला। मैंने गौतमी की ओर देखा। अपनी सहेलियों के बीच वह भाल की बिन्दु-ज्यों परिलक्षित हो रही थी। मुझे देखते ही बोली—

‘धन्य है वह मां जिसने इसे जना है। जो इसका पिता है, निर्वाण उसका है। धन्य है वह कामिनी, जिसका यह कत है। निर्वाण उसका है, इस देव पुत्र का जो अपना जन है।’

सुनकर मैंने उसके शब्दों पर मनन किया—यह निर्वाण के पथ की ओर संकेत कर रही है। मैं इसका आभारी हूँ। इस तो गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए। और इस विचार के आते ही मैंने अपना हीरक-हार उसकी ओर फेंक दिया। उसने झेलकर अपनी छाती से लगाया और उल्लास के अतिरेक में आखें मूंद लीं।

इस घटना के बाद कोई दो दिन बीते होंगे, पारिजात की चर्चा नगर में घर-घर फैली है। यहां तक तो, खैर कोई बात नहीं थी, पर मैंने सुना, एक सेवक के मुह से—कृशा गौतमी कहती थी, राजकुमार सिद्धार्थ मेरे प्रेम में पड़ गए हैं। मुझ पर मोहित है। तभी न, मुझे वह उपहार दिया।

विचित्र है नारी का हृदय। अद्भुत है नारी का चरित्र।

24

हृदय की व्यथा का गीत गाने के लिए जब जीवन किसी गायक को नहीं पाता, तो वह अपने मस्तिष्क के अभिभाषक-रूप में दार्शनिक की सृष्टि करता है। लेकिन दार्शनिक सदैव सत्य कहने का हामी रहा है। वह सदा अपने समय से आगे रहता है इसलिए उसे अपने कटु सत्य के प्रतिफल की चिन्ता नहीं और सत्य तो ऐसी चीज है, जो ज्ञेय है परन्तु अकथ्य है, उसकी चर्चा हमेशा तो नहीं हो सकती। कठोर सत्य को खोजने के लिए एक अन्वेषक की आवश्यकता पड़ती है। उसकी चर्चा के लिए दूसरे संत का होना जरूरी है और उसे जानने के लिए तीसरे एक साधक की सम्पूर्ण साधना चाहिए।

इन दिनों में मन में निरन्तर यह पुकार उठती : जानो, जानो, जानो, ! यदि तुम अपने को जानना चाहते हो तो जगत् को पहचानो, जानो। जगत् के इस विराट रूप में अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर दो। .

मैं सोचा करता, मैं यात्री हूँ, जिसके सम्मुख अन्तरहित मंजिल है। प्रतिदिन मैं अपने अन्तर में नए और अपरिचित लोको को पा रहा हूँ। और इन समस्त लोको के अमित आनन्द का उपभोग करने के लिए, मुझे प्राप्त का त्याग कर देना होगा,

म्योकि मैं इस जगत् का पूण और अखण्ड भोग करना चाहता हूँ युवराजत्व का यह डोंग छोड़ना पड़ेगा। सच्चा राजकुमार तो वही है, जिसका सिंहासन लोक-हृदय में है।

मैं विश्व के उस वैभव को, जो पहले केवल राजपुत्रों-द्वारा उपभुक्त था, जन-जन को सुलभ कर देना चाहता हूँ, ताकि लोक में यह कहावत चल जाए कि सिद्धार्थ के श्रम से विश्व का वैभव सर्वहाराओं की सेवा में अपना सम्मान समझने लगा है।

तब मन में एक मांग उठती—यशोधरा का क्या होगा ? उसे कैसे छोड़ोगे ? मैं कहता—‘सीधा’ उपाय है, जिनके साथ बैठकर तुम हसे-खिलखिलाए हो, उनको भूलना सरल है। परन्तु उन्हें नहीं भुलाया जा सकता, जिनके गले में बाह डालकर तुम रोए हो। इसलिए, यशोधरा तो मात्र सुख की सगिनी है। जो दुःख के सगी हैं, उनका दुःख दूर करने का सकल्प अधिक आवश्यक है। मेरे मानस में यह भाव भी नहीं है कि मैं अपने ही माता-पिता से घृणा करता हूँ। और मुझे कीर्ति की चाह हो। परन्तु चूँकि मुझे सत्य और साम्य की लगन है, निश्चय कर चुका हूँ कि मैं बुद्ध होऊँगा। चाहता हूँ कि मुझसे कोई भीति न रखे और न मैं किसी से भयभीत होऊँ। अपनी मैत्री-भावनावश मैं जड़-चेतन, पशु और मनुष्य सब पर विश्वास करता हूँ और इस विश्वास-भावना का अवलम्बन लिये मैं वनों में अकेला विचरना चाहता हूँ।

और यह जरा, और यह व्याधि, और यह मरण, मैं मनुष्य को इनसे मुक्त करूँगा। उसे इनका निदान दूँगा।

निदान अवश्य कहीं होना चाहिए। यह असम्भव है कि निदान न हो। मैं खोजकर वह मार्ग पाऊँगा, जिस प्रकार दुःख है, उस प्रकार अवश्य ही शाश्वत सुख भी है। इसी भाँति जीवन यदि है तो मुक्ति भी अवश्य है। अग्नि है, तो शीत भी है। पाप है, तो पुण्य भी है। यह सत्य है कि जन्म है, तो ‘जो जन्म नहीं है’ उसकी खोज होनी चाहिए। गोबर से लथपथ व्यक्ति यदि पास के पोखर में अपना मैल नहीं छुड़ाता और पोखर के किनारे बैठा उसे कोसता है, तो इस जड़-मूर्ख को क्या कहेंगे। इसी भाँति यदि मैं निर्वाण के सरोवर में अपने पापों का प्रक्षालन न करूँ, तो अपराध मेरा ही है। वैद्य सुलभ होने पर भी, व्याधि को जो बढ़ने दे, उस मरणपथी का नाश निश्चित है। और मैं वासना की ज्वाला में जलता रहूँ और ऐसे गुरु की खोज न करूँ, जो अपने उपदेश-उपचार-द्वारा मेरी पीड़ा दूर कर दें। तो कसूर गुरु का नहीं है।

मेरा मस्तिष्क इस विचार से घिरा रहता—जिस भाँति कोई व्यक्ति अपनी ग्रीवा से बंधे मुर्दे से घृणा करता है, और किसी-न-किसी प्रकार उससे छुटकारा पाना चाहता है, और मुक्त होकर प्रसन्न-मन विचरता है, उसी भाँति मैं इस देह के भार से, जगत् के इस ताप-सताप से प्रमुक्त हो विचरण करना चाहता हूँ। समुद्र के तट पर नारिकेल-कुजों में थका-हारा पंथी जिस प्रकार श्री फल का जल पीकर छिलका फेंक

देता है उस प्रकार मुझे अपन मोह का परित्याग करना हागा तट पर पहुचते यदि जलयान टूट जाए, उसमे छेद हो जाएं, उसके पाल-पतवार खंडित हो जाएं, तो यात्री उसे छोड कर चले जाते हैं, उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते उसी प्रकार मैं नो छिद्र वाली इस देही का मोह तजना चाहूंगा, उस मुसाफिर की तरह, जो वन-पथ पर डाकुओं से घिर जाने पर, अपनी धन-राशि वही छोड़कर, पलायन कर जाता है, वैसे ही मैं देह की सीमा से दूर रहना चाहता हू। क्योंकि ऐसा न हो कि इसका मोह मुझे मंहंगा पड़े और गांठ की साख भी जाती रहे ।

मझरात साय-साय कर रही थी । मेरी नींद उचट गई । मैं अपने पर्यक पर पद्मासन मे बैठ गया । नित्य की परिपाटी के अनुसार नर्तकियां रागरग के अनन्तर जहां-तहा ऊध चली थीं । मुझे सोता जान, उन्होंने अपना नर्तन बद कर दिया था । सुजाता के नृत्य-दिवस के समान ही आज भी मैंने नर्तकियों और अन्य सुन्दरियों को बिखरे परिवेश मे देखा । जुगुप्सा और घृणा से मेरा मन उद्विग्न हो गया । ऐसा प्रतीत हुआ मानों मैं जीवित मानवों के मसान मे बैठा हू । ये जो स्त्रियां कुछ ही समय पहले अनेक भाति के हाव-भावों और भंगिमाओ से दर्शकों को रिझा रही थी और ऐसी प्रतीत होती थीं मानो ये साक्षात् देवांगनाए हैं, परन्तु वह प्रतीति मात्र एक आडम्बर, एक माया-जाल, एक आभास था । इनका सही स्वरूप तो इस समय प्रकट हो रहा है । निद्रा तो एक छोटी-बडी मृत्यु ही है । इन वारांगनाओ की दशा देखकर, मुझे यह अनुभव हुआ कि वास्तव मे मृत्यु के उपरान्त मनुष्य किस अवस्था मे पडा रहता है । और रूप-सौन्दर्य तो अब मुझे भुलावा नहीं दे सकता । इन मोहिनियों का वह मादक सम्मोहन कहां गया ? कितनी विकृति गति है इनकी ? केशो से बधी नकली चोटियां बिखर गई हैं और लम्बे केश दिखलाने का जाल अपना रहस्य खो बैठा है । मुह से बहते लार ने कपोलो का गुलाबी रंग धो दिया है । तो वह आभा एक धोखा थी । मनुष्य ऐसे स्वांग क्यों भरता है ? वह तो अपनी स्वाभाविक दशा मे ही अधिक सुन्दर है । और उन्नत उरोजों की यह स्थिति । मृगजल से तृषा तृप्त न होगी ।...न होगी । यह सब दुःखमय है, क्षणभंगुर है, नश्वर है ।...

इस विचार-वीथि पर भटकता हुआ मैं अपने कक्ष से बाहर चला । देवी की सेज के समीप गुजरा कि वह स्वप्न में कुछ बड़बड़ाती है, ऐसा मुझे भास हुआ । लौटकर मैं उसकी सेज के निकट रुका । नींद मे घबराई-सी अस्पष्ट कुछ कह रही थी । उसके सुहावने मुखमण्डल पर भय की रेखाएं झलक रही थी ।

मैंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसकी ग्रीवा के नीचे अपनी भुजा का प्रश्रय दिया और पास में लेटकर उसकी देह सहलाने लगा । मैंने धीमे-से पूछा—‘रानी क्या बात है ? क्यों घबरा रही हो ?’

‘सिद्धार्थ, सिद्धार्थ !’

‘मैं यह तुम्हारे पास हूं । यशोधरे, सपना देख रही हो ?’

उसने आंखे खोल दीं और दो पल एकटक मेरी ओर देखती रही, फिर हौले

से मुस्कराई दुःस्वप्न देखा है

‘सपने सच नहीं हाते।’

‘कभी-कभी सच हो जाते हैं।’

‘अच्छा, मुझे बताओ, क्या सपना देखा है?’

उसने उठकर दो घूट जल पीया। फिर मेरी गोद में सिर रखकर नेट गई।

उसकी अलक-झलक से मंदिर गंध उठ रही थी। मैंने कहा—‘कहो।’

उसने अपने हाथ मे मेरा हाथ कसकर थाम लिया। अब भी उसकी हथेली मे प्रकम्पन था। कहने लगी—‘प्रिय। मैंने देखा कि आकाश से कई देवगण उतर रहे हैं। उनमे से कुछ पारिजात के छत पर उतरे, और उन्होंने युवराज की ध्वज-पताका उतार दी...कुलदेव रक्षा करे। ओर उस पताका के स्थान पर एक नई पताका फहरा दी। इस पताका का वस्त्र बड़ा सुन्दर था और रंग भी लुभावना था। मोतियों की किनारी उस पर जड़ी थी। उन मोतियों से अद्वितीय प्रकाश-किरणें फूट रही थी। कुछ देर पर, मैंने देखा कि मोतियों से छूटती ये किरणें मुखरित हो गई और गम्भीर शब्द-स्वर बन गई। इस स्वर-माला को सुनकर जगती के लाख-लाख प्राणी उल्लसित हो उठे। और दूर-दूर से श्रोता आने लगे।

इसके उपरान्त, पूर्व दिशा से वेगवन्त प्रभजन आया और अब तो पताका चारो दिशाओ मे फहराने लगी। उससे स्रवित सुरों को मानव-जाति ने सुना और नभोमण्डल-से पुष्पवृष्टि होने लगी। ऐसे फूल मैंने आज तक नहीं देखे। ऐसे स्वर मैंने आज तक नहीं सुने। उस पताका से जो वाणी गूँजी, उसमें से मुझे इतना स्मरण रहा—‘समय आ गया है। समय आ गया है।’

इस नादान तरुणी की वार्ता और इसकी स्वप्न-भंगिमा देखकर, मेरा अन्तर अमित रसानन्द से छलाछल भर गया। बोला—‘यह तो अच्छा स्वप्न है। इसमें डरने की कोई बात नहीं।’

‘किन्तु, देव, आपने स्वप्न का शेष भाग तो सुना ही नहीं, मैंने देखा कि लोगो के कोलाहल से मेरी नींद उचट गई है और देखती हू कि आप मेरे पास नहीं हैं। अपनी सेज पर अकेली हू। सिद्धार्थ, सिद्धार्थ पुकारना चाहती हूँ पर कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। मैं बहुत डर गई।’

‘अब तो डर नहीं लगता?’

‘आप जो पास हैं।’

‘परन्तु तुम्हारा मुख अब भी म्लान है। भय अब भी छाया है।’

‘जी, मुझे स्वप्न का अकेलापन अब भी डरा रहा है। ‘समय आ गया है’ मेरे कानों मे गूँज रहा है। नाथ, सच कहिए आप मुझे छोड़कर चले तो न जाएंगे?’

‘पगली हो। तभी तो मैं कहता हू, अभी तुम्हारा बचपन नहीं गया। याद है बालापन मे तुम्हें उस दिन’...

‘आप तो बस!’ उसने हथेली से मुंह छिपा लिया किन्तु उंगलियों के छिद्र

से मुझे देखती रही। अब भी स्मरण है, उसे गुदगुदाकर मैं बाहर खुले में आ गया था।

वह भी मेरे पीछे आई थी। अपना अर्द्धभाग मेरी पीठ पर रखे, खड़ी हो गई। मैं जान गया, उसका भय निःशेष नहीं हुआ है। कहा—‘देवी, शान्त हो, तुम्हारा स्वप्न भ्रम है। और यदि भावी का संकेत भी हुआ, तो क्या भय है ? मैं राजमहलों में अधिक दिन नहीं रहूंगा, यह तो निश्चित है। सम्भव है, लोक को मेरी आवश्यकता हो। शायद देवों का आसन चलित हुआ हो, शायद अखिल जगत् मेरी प्रतीक्षा कर रहा हो। अवनी-अबर अपनी भुजाओं में समेट लेने के लिए प्रतीक्षमान हो। सम्भव है, मेरे विराग से तुम्हें और परिवार को असुविधा हो, परन्तु यह स्मरण रखो देववाला, उससे मेरा, तुम्हारा और जगत् का मंगल श्रेय ही होगा। विगत कई वर्षों से मैं दुःख से मुक्ति पाने का मार्ग ढूँढ़ रहा हूँ। कितने दिनों से समस्त संसार के लिए सुख का अमृत खोज लाने के लिए ललक रहा हूँ। यदि मैं इस सिद्धि को पा सका, तो यह निखिल जगती के लिए होगी। इस दृष्टि से, बहुजन-हित के हेतु हम दो प्राणियों को यदि कुछ दिन कष्ट भी देखना पड़े, तो मैं तो उसका स्वागत करूँगा।’

‘मैं भी करूँगी। मैं आपदाओं से नहीं डरती। तुमसे दूर भी नहीं रह सकती। तुम रहो, फिर चाहे जो रहे, चाहे जो आए, सब सहूँगी।’

‘तुम्हारी वाणी आर्य-नारी की शोभा है। रानी, मैंने भोग का अतिक्रमण किया, मैंने राग की सीमाओं को पीछे छोड़ दिया। हमारे पारिजात के वैभव-विलास के लिए इन्द्र और शची भी तरसने लगे।...परन्तु यशोधरे सच कहूँगा, कहने पर तुम बुरा मान जाओगी। परन्तु हम उच्च-जन्मा लोगों के इस सुख से क्या सारा संसार सुखी समझा जा सकता है ? व्यक्तियों के निजी सुख-दुःख का कोई मूल्य नहीं, जब तक वह सुख-दुःख सारे समाज की अपनी समस्या नहीं बन जाता। मैं सामाजिक सुख को लाना चाहता हूँ।’

‘अपनी इस खोज में मुझे भी साथ ले चलिए नाथ।’

‘नहीं, कठिन तपस्याओं में झुलसना होगा। तुम वह सब सहन न कर सकोगी।’

‘लेकिन यह कैसे हो सकता है कि आप तप-ताप में तपें और मैं इधर बैठी शीत-प्रासाद में हिलोरें लूँ ? क्या आपको मुझसे प्रेम नहीं ? क्या आपको मेरा साथ नहीं सुहाता ?’

‘यशोधरे, क्या कहती हो। तुमसे मोह है, तभी तो तुम्हें भावी संगर में साथ ले जाना नहीं चाहता। मैं अकेला उस कष्ट को सह लूँगा और तुम यहां बैठी, मेरे मंगल की कामना करना। मैं सिद्धि लेकर जल्द ही लौट आऊँगा, यश।’

‘नहीं, नहीं, नहीं।’

‘खैर। वह दिन दूर है। चलो, तुम्हें सुला दूँ।’

मैं चला न जाऊँ, यह सोच, वह मेरा हाथ धरे रही और मैं उसे आश्वासन देता रहा। वह लेट गई। धीमे-धीमे नींद की परी उसकी पलकों पर उतर आई और

उसक मुह के बोल अस्पष्ट होते गए वह फिर स सो गई। मैं उसके पेटो से फिसला अन्तरीय ठीक किया और हौले से उठकर फिर बाहर आया। लेकिन जगकर राहुल रोने लगा। मैंने दौड़कर उसे उठा लिया कि देवी की नींद न टूट जाए और विराग मे विघ्न न आए।

राहुल मेरी गोद में आते ही हंसने लगा। मेरी ओर देखता रहा। उसकी वह हसी और उसका वह दर्शन मुझे आज भी ज्यों का त्यों याद है।

उस समय मेरे मन में एक प्रतिध्वनि उठी थी—‘समय आ गया है, समय आ गया है।’

किन्तु जाने देगा ये ? मैंने राहुल को देखा। वह मेरी ग्रीवा में अपनी नन्ही बाह डाले मेरा कान पकड़े हुए था। कहीं मैं उसे छोड़ न दूँ।

रात का सन्नाटा गहरा होता जा रहा था। और गहराई में से काल मुझे पुकार रहा था—‘समय आ गया है, समय आ गया है।’

माता-पिता का क्या होगा ? यशोधरा तो रो-रोकर जान दे देगी। यह राहु भी बिलखता रहेगा। ये दास-दासी, यह छन्दक, यह कन्थक, और वह कृशा और वह .

राहुल को मैं झूले में सुला आया। कुछ देर ऊँआ कर वह सो गया। देवी भी सो रही थी। उसके होठों पर विश्वास की यह हल्की हसी ! अब शायद वह मेरे घर लौटने का सपना देख रही है।

मा का क्या होगा ? वृद्ध पिता का क्या होगा ?...मैंने जैसे प्रश्न सामने पसरे अधिकार से किया। उत्तर न मिला। उत्तर न मिला।

‘तो क्या अमृत की खोज अपूर्ण रह जाएगी ?’

फिर भी मेरा मन कहता था, ‘समय आ गया है, समय आ गया है।’

और मानो अधिकार में प्रकाश का उदयन हुआ—‘सिद्धार्थ, तुम्हीं न कहते थे, व्यक्ति के कष्ट सहने से यदि समाज का कल्याण होता है, तो वह कष्ट श्रेयस्कृत है।’

‘है तो। मैंने कहा—फिर भी, वृद्ध माता, वृद्ध पिता, युवती पत्नी, शिशु। और जैसे एक आधी उठी ! और जैसे एक तूफान आया। और जैसे एक बवण्डर जगा। उस गाढ़-नीले अधिकार में से एक वृद्ध आकृति अज्ञाहास करती हुई, मेरा उपहास करने लगी—‘तुम्ही हो, समता और न्याय के ढोंगी ? करुणा, दया, मैत्री और साम्य का यह प्रपच छोड़ो और सुन्दरियों के भोग में डूबे रहो। तुम्हें क्या मतलब, हम जीए या मरे। हम भूखे रहें या बरबाद हो जाए। तुम्हारे लिए यह पारिजात है, हमारे लिए वह मसान है, हा हा...हा हा...’

‘रुको, रुको हे जीव !’

‘बहुत रुक लिया। बहुत रुक लिया।’

मैं उसकी आकृति अब पहचान गया—वही बूढ़ा था, जो उस सांझ मुझे उद्यान

भूमि जाते समय मिला था। पूछ रहा था—‘क्या एक वृद्ध शुद्धोधन के लिए तुम हम जैसे अनगिनत वृद्धों को विस्मृत कर दोगे ? सिद्धार्थ, हरेक वृद्ध तुम्हारा पिता है। हरेक अभागिन तुम्हारी माता है और ऐसे कोटि-कोटि वृद्ध है और कोटि-कोटि अभागिने है। स्वार्थी युवराज, जाओ यह ढोंग छोड़ो और सुख से अपनी सुगन्धित सेजों का रस भोगो, तुम्हारे बस का यह काम नहीं। तुम स्वयं मृत हो। तुम स्वयं रुग्ण हो। तुम स्वयं वदी हो। अपने पारिवारिक स्वार्थ को प्रधानता देते, तुम्हें लज्जा नहीं आती।...दुनिया में लाख-लाख शुद्धोधन भूखे-नगें फिरते हैं और केवल नाम-रूप का ही तो अन्तर है। कितनी-कितनी यशोधराएं पथ की भिखारिने बनी भटक रही हैं और कितने राहुल दूध-बूढ़ भर दूध के लिए बिलख रहे हैं।’

और मैंने देखा, उस दिन उस कुटिया में जो भूखा बिलबिलाता बालक था, वही मेरे सामने खड़ा हो गया और अपनी तुतली बोली में मुझे पूछने लगा—‘क्या मैं तुम्हारा लाहुल नहीं ?’

और फिर वृद्ध का प्रश्न था—‘बताओ, क्या मैं तुम्हारा पिता नहीं ?’

मैंने महसूस किया हरेक भूखा वृद्ध मेरा पिता है। हरेक रोगिणी वृद्धा मेरी माता है और हरेक अर्धनग्न बालक मेरा शिशु है। इनकी रक्षा और सुख का निदान खोजकर लाना ही होगा।

और पुकार आई—‘सिद्धार्थ कहां हो ? सिद्धार्थ कहा हो ? हम नगें हैं। हम भूखे हैं। हम दुखी हैं। हम मनुष्य के बनाए नरक की ज्वाला में झुलस रहे हैं। हमें बचाओ . बचाओ।’

उस पुकार के समान ही सन्तुलित स्वर में मैंने जोर से चिल्लाकर कहा—‘हे पुकारनेवाले, मैं आऊंगा। जरूर आऊंगा। मैं आता हूँ, मैं आया..’

इस कोलाहल ने सबको जगा दिया। यशोधरा भी वातायन में आई और प्रश्नमयी अरुण आखों में मुझे देखती रही।

पूरब के कुटीर में किसी ने आग लगा दी थी। और वहां दूर पर लालिमा दहक रही थी। नीचे पारिजात के नक्कासखाने में शहनाइया बज रही थीं।

25

मैंने पूछा—‘कौन है ?’

‘आज्ञा हो देव ! मैं छन्दक हूँ।’ आलीन पर सिर धरे, छन्दक ऊँघ रहा था। मेरा नाम सुनकर, उठ खड़ा हुआ।

‘छन्ना, इस समय एक आवश्यक कार्य है। तुम अश्वशाला जाकर मेरा अश्व ले आओ।’ कुछ न कहने पर भी छन्दक सब कुछ जान गया था। वह भारी मन, भारी पैरों जा रहा था—‘भ्रभु के महाभिनिष्क्रमण का मुहूर्त आ पहुंचा है।’ इतना धीमे

कह, वह सिसक उठा। मैं बाहर आया। उसके कंधे पर हाथ रख, बोला—‘रोता हे पगले !’ और मेरी आखे भी छलछला आईं।

अपने कमरे से कथक की कचन-वल्गा और जरूरी सामान ले वह चला गया। अश्वशाला में छन्दक ने सुगन्धित स्नेह से आलोकित प्रकाश में देखा महाश्व कथक अपनी स्वप्नावलियों में लीन था। उसके सिर पर सुन्दर वस्त्र का वितान तना था। ओर जपा-पुष्प के गजरे उस पर लहरा रहे थे। छन्दक ने घोड़े को जब बहुत कसा, तो घांड़े ने सोचा, ‘आज यह मुझे बहुत कस रहा है। और दिन तो ऐसा नहीं करता, आश्चर्य है ! सम्भव है, आज स्वामी महाभिनिष्क्रिमण कर रहे हों।’ और इस विचारानुभाव के हर्षातिरेक में कथक जोर से हिनहिनाया।—वाद में मैंने जाना था।

कथक का यह उद्घोष नगर भर को जगा देता, किन्तु देवी ने इस महाध्वनि को अवरुद्ध कर लिया। तत्पश्चात् मैंने सोचा—‘जब तक छन्दक अश्व के लिए आता है, मैं तनिक राहुल को एक बार देख लूँ।’ और मैं अपने कक्ष से देवी के कक्ष की ओर चला।

धीमे मैंने यश के शयन-गृह का द्वार खोला। गंधित तेल-द्वीप की मंद आभा मुखरित थी। यशोधरा अपनी सुमन-सेज पर लेटी थी। उसकी सांसों की गति से उसका वक्ष उठ-गिर रहा था। सचमुच उसे गहरी नीद आ रही थी। वह अपना एक स्तन राहुल के मुख में दिए थी। रोते-रोते दूध पीते, वह सो गया था। देवी की बाह राहुल को अपने आंचल की छाया में लिये थी।

द्वार-देहली पर मैं रुक गया और वहीं से दोनों को देखता रहा। आनन्द से मेरे नेत्र उन्मीलित हो गए। फिर आगे बढ़ा। यश का दीपित वदन देखा। मन को तृप्ति मिली। हाथ उसकी ओर बढ़ा, किन्तु अन्तर से आवाज आई—‘यह क्या करते हो सिद्धार्थ ? यह जाग जाएगी तो सिद्धि का स्वप्न अधूरा रह जाएगा !’

राहुल का मुख एक पल देख लेने की चाह उठी, परन्तु मा के पयोधरो ने छिपा उसका नन्हा-सा चेहरा मैं न देख सका। देवी का दूसरा हाथ उठाए बिना मैं राहुल को नहीं देख सकता था और हाथ हटाने पर यश की नींद अवश्य उड़ जाती। कहीं यह उस रात की तरह स्वप्न से चौंक उठी तो.. सब धरा रह जाएगा। मैं दबे पग पीछे लौटा। बाहर से धीमा बुलावा आया—‘स्वामि !’

‘आया, छन्ना !’ मेरे मन में द्वन्द्व था। यश के शयन-गृह के बाहर, मैं विमूढ-सा खड़ा था। फिर विचार उठा, अब जाने कब लौटूंगा। यशोधरा से अन्तिम बिदाई लेनी चाहिए और बेटे का मुह भी केवल एक बार देख लेना चाहिए। यश को जगाऊँ, न जगाऊँ ? इन दो विचारों का तुमुल सगर चलने लगा। नीचे से फिर पुकार आई—‘नाथ !’

‘आया, छन्ना !’ यश की शैया की ओर मैं झपटा। उसका गात छूने ही वाला था कि एक अजाने विचार ने रोक लिया। नेपथ्य में जैसे, अभागिन खिलखिलाई—‘मैं तुम्हारी यशोधरा नहीं ?’ और कुटिया के बालक का वह चेहरा कहने लगा—‘मैं तुम्हारा

लाहुल नहीं ।' अन्तर के अन्तराल में प्रतिध्वनिया गूजी—'समय आ गया है । समय आ गया है ।' फिर मैं एक पल भी न रुका । देहली पर खड़े होकर मैंने अपनी हृदयेश्वर से मन-ही-मन विदा ली । लोंचनो में, दो बूद रोके, न रुके । टपक ही गए । एक राहुल के लिए, दूसरा उसकी मा के लिए ।

कथक मेरे चरणों का अपने मुंह से सूघने लगा । बड़ा वेचैन था वह । मैंने उसकी पीठ थपथपाई—'ठीक है, ठीक है ।' छन्दक ने उसकी पूंछ थाम ली और मैंने कथक को ऐड लगाई । नार्ग मुझे सूझता नहीं था, क्योंकि मेरी आखों में आसुओं की जालिया बह रही थीं । उस दिन के खारे अश्रु-जल का स्वाद मेरे होठों पर अब भी ताजा है ।

अजिर के प्रस्तर-निर्मित कुट्टिम पर जब कथक के पैर पड़े, तो उसकी टाप पारिजात के कक्ष-कक्ष में गूज उठी । मुझे लगा, गजब हो गया । छन्दक ने पीछे ऊपर देखा—'कुमार, देवी के कक्ष की खिडकी खुली है । आलोक फैला है । ऐसा प्रतीत होता है, वे जाग गई हैं । देव, सुनिए राहुल का महीन रुदन आ रहा है ।'

कथक भयकर वेग से उड़ा जा रहा था । अर्ध-निमिष मैंने पीछे देखा, राज-झरोखे में एक छाया खड़ी थी, केश उसके हवा में उड़ रहे थे—'लौटो सिद्धार्थ, लौटो... सि...द्धा...र्थ...कायर !'

छन्दक ने कहा—'स्वामी, खिडकी बन्द हो गई है ।' मैं चुप रहा । कथक पवन बन रहा था । मैं उसकी रास खींचे रहा ।

आषाढी पूर्णमासी की देवी की मौलि-वेणी खुली थी । आकाश में घुमडते-मेघों के पर्दे-पीछे से निकलने की राका-शशि कोशिश कर रहा था । कपिलवस्तु-नगरी—नवविवाहिता-सी सजी, निद्रा में निमग्न थी ।

कथक राज-रथ्या पर आ गया । उसकी टापों से दोनों ओर के भवन गूज रहे थे । मैं संविग्न था, कहीं प्रहरी न जाग जाएं । सामने सघन-तमिस्रा थी, मेघदूतों के कारण ।

पहले सघन तमा थी, सहसा, अब पथ प्रकाशित हो गया । छन्दक ने कहा—'कुमार, कथक की टाप ध्वनि-रहित हो चली है । नाथ, जहां-जहां उसके पैर गिरते हैं, वहां-वहां, देवगण पहले ही अपनी हथेलियां रखते जाते हैं । स्वाभि, सहस्र-सहस्र देव भशालें लिये आपके आगे हैं । उतने ही पीछे हैं । उतने ही दाएं और उतने ही बाएं हैं । देव की जय हो !'

अब मैं अपना मन बस में कर पाया । नगर-द्वार तक हम पहुंच गए । मैंने सोचा, यहां तो पिताजी ने सहस्र धनुर्धारियों का पहरा बिठा रखा है कि मैं छटक न जाऊं । द्वार बंद है । इतना भारी है कि कई सौ लोगो के बल से ही खुलता है । मैंने कथक की गति ही से जान लिया, वह भी चिन्तित है । निश्चय किया—'यदि द्वार बंद रहा, तो मैं कथक को ऐड़ लगाकर नगर का परकोटा लाघ जाऊंगा ।'

छन्दक ने सोचा—‘यदि कपाट न खुला, तो मैं स्वामि को अपने कंधों पर बिठा लूंगा, कथक को अपनी बगल में उठा लूंगा और दोनों को लिये दीवार के पार हो जाऊंगा !’

और तभी कंधक ने सोचा—‘द्वार रुद्ध रहा, तो मैं युवराज को ऐसे आरूढ़ रहने दूंगा। छन्ना पूछ थामे रहेगा और मैं एक ही छलांग में उन्नुग द्वार के पार पहुँच जाऊंगा।’

लेकिन द्वार स्वयमेव खुल गया। कथक अपनी समगति से सरपट दौड़ा जा रहा था। नगरान्त पर वन-पथ आ गया। मन में मोह उठा—एक बार कपिलवस्तु के दर्शन तो कर लूँ। मैंने अश्व को रोक लिया। उसका मुँह फिराया। प्रसुप्ता कपिला की ओर मैंने अन्तिम दृष्टि डाली। टकटकी लगाकर देखता रहा। एक उसाँस रोकने पर भी पिजरे से बाहर आ गई—‘छन्ना, अपनी इस जन्मभूमि से अन्तिम विदा लेता हूँ। इस वेला जिस प्रकार नभ में मेघ छाए हैं, उस प्रकार मेरे अन्तर्नभ में द्वयात्मक विचारों का बादल-दल उमड़ रहा है। सौम्य, शारदीया आएगी, और पूर्णेन्दु अपनी सोलह कलाओं में खिल उठेगा। मेरा मन कहता है आर्य, उसी भाँति मेरा अन्तस्तल सत्येन्दु की ज्योति से सिद्धि पाएगा। सम्यक्-ज्ञान जब प्राप्त हो जाएगा, अपनी इस मातृभूमि में फिर आऊंगा मैं। तब पिताजी के पैरों पड़ूंगा और यशोधरा से भी क्षमा माग लूंगा...और जब तक मैं जन्म और मृत्यु के पार शाश्वत-जीवन के चरम-विन्दु को न देख लूंगा, तब तक कपिल के नाम से सम्बोधित इस पुरी में प्रवेश न करूंगा।

छन्दक, चलो अब हम राजगृह के मार्ग पर चलें।’

हम आगे बढ़ गए।

कुछ दूर जाने पर मैंने देखा कि रस की रागिनी गाता हुआ एक व्यक्ति सामने से आ रहा है। वह कंधक के सम्मुख हवा में अधर खड़ा हो गया और कहने लगा—‘रुको सिद्धार्थ ! आगे न जाओ, क्योंकि आज के सातवें दिन राज्य-चक्र तुम्हारे कर-कमलों में आएगा और तुम सप्त-द्वीप नौ-खण्ड पृथ्वी के प्रतिपालक बनोगे। अब लौट जाओ !’

‘कौन हो तुम ?’ मैंने पूछा।

‘मैं वसवती मार हूँ।’

‘मार, मैं जानता था कि राज्य-चक्र मेरे सामने प्रकट होने वाला है। परन्तु मेरे मन में सार्वभौम राजत्व की कोई कामना नहीं है। मैंने दस पारमिताओं की पूर्ति न इन्द्रासन पाने के लिए की, न ब्रह्म या चक्रवर्ती का पद पाने के लिए की है। मैं तो धर्मचक्र-परिवर्तन करूँगा। जिस दिन लोक-सेवा के पंथ पर चलते-चलते, मेरे मानस में स्वार्थरहित जन-सेवा का अटल निश्चय स्थिर हो जाएगा, जिस दिन मे जरा और मरण के पार मनुष्य को ले जाने का मार्ग निश्चित कर लूँगा उस दिन अवश्य मुझे बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। मार, मैं सम्राट् या चक्रवर्ती बनना नहीं चाहता, मुझे राजचक्र नहीं चाहिए, मैं धर्म-चक्र धारण करूँगा। तू मुझे प्रलोभन दे रहा है, वह मुझे अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगा। मुझमें देवत्व के प्रति कोई आकर्षण

नहीं ह। मे देव बनना नही चाहता, मे इश्वर भी बनना नही चाहता मे मानव बनना चाहता हूं कि मानवमात्र की सेवा कर सकू।'

तब मार मुह नीचा किए चला गया। उसने शायद सोचा होगा, कि इसे अवसर देखकर अपने वश मे करूंगा। आगे ज्यो ही इसके मन मे पहली बार बुराई आएगी, त्यों ही मै इसे पकड़ लूंगा।

हम बढ़ते गए। उस रात हमने तीन राज्यों की सीमाएं पार की। छन्दक कहता था, सुपमाशील समय था वह। दिशा-मण्डलों से स्वर्गीय संगीत की ध्वनियां आ रही थी, मानो अड़सठ लाख वाद्य-यंत्र एक साथ वज उठे हों, मानो झझाकर मेघ सागर पर उत्का के आरे चला रहे हों। मानो युगधर-चट्टानों से महा-समुद्र का आलोडन टकग रहा हो !

वन-पथ का अंत आया। नदी का कगार दिखलाई पड़ा।

‘इस सरिता का क्या नाम है छन्ना ?’

‘देव, यह अनोमा है।’

‘तो मेरा निष्क्रमण भी ससार मे अनोमा के नाम से जाना जाए।’ इतना कहकर मेने घोड़े को ऐड लगाई। कथक उछला और आठ-उसभ चौड़ी सरिता को पार कर, दूसरे तट पर खड़ा हो गया। तट-प्रदेश की सिकता रजत-पत्र-सी चमक रही थी। मै अश्व से उतर पड़ा। कुछ कहने से पूर्व, मन रुद्ध रहा। कैसे कहूंगा छन्दक से कि तुम लौट जाओ अब !

छन्दक समझ गया—‘नाथ !’ कहते रो पड़ा।

‘हा, छन्दक अब तुम मेरे वे वस्त्राभूषण और कथक को लेकर लौट जाओ। मे विराग की शरण जाऊंगा।’

‘तो, मुझे भी ले चलिए। मैं भी विरागी बनूंगा। आज तक आपने मुझे अकेला नही छोड़ा।’

तीन बार मैने सौम्य छन्ना को समझाया। तीन बार ना किया। तब कही मे उस लौटने के लिए राजी कर सका। वस्त्र और आभूषण मैने उतार दिए। और सांचा यह केश-कलाप साधुओं को शोभा नही देता। इसे मै अपनी तलवार से काट देता हू। तब अपने कुछ केश छन्दक की ओर बढ़ाकर मैने कहा—‘यह कुतलराशि यश को आकर्षित करती रही है, उसे तुम मेरी कुशल कहकर, देना। वह कुछ अधिक पूछ, तो उसके मन की सुकुमारता का ख्याल कर मौन रह जाना। भिक्षु को प्रसाधन से क्या प्रयोजन ?’

मैने कुछ केश ऊपर उड़ाते हुए कहा—‘यदि मेरा बुद्ध होना निश्चित है तो ये केश वायुमण्डल मे विहरें, नही तो, भले भूमि पर गिर पड़ें।’ केश अधर रह गए।

कथक की रास मैने छन्ना के हाथ में दे दी—‘सबसे कहना, मै सकुशल हू।’

अब तक कथक हमारी बाते सुन रहा था। चुप था। अब मुझसे बिछुड़ने का

समय आया तो वह मुह से शब्द तक न निकाल सका। जैसे उसका हृदय फटा जा रहा है। वह पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और जब तक मैं अपनी गोद में उस का सिर रख लूं, तब तक उसने अश्रुमयी-दृष्टि से मेरी ओर देखते-देखते सदा के लिए बिदा ले ली।

मेरा कण्ठ भरा था। छन्दक तो वही नदी की बालू में लोटने लगा—‘नाथ, मुझसे तो यह कथक ही अधिक भाग्यवान है, स्वामी से बिछुड़ने के पूर्व ही इसने अपने प्राणों का त्याग कर दिया। परन्तु मैं ये पापी प्राण नहीं निकल रहे हैं।’

मैंने देखा, धैर्य की परीक्षा है। अपने पैरो पड़े छन्दक को उठाकर मैंने हृदय से लगा लिया—‘बालक न बनो आर्य। ससार में किसका साथ सदैव रहा है ? आज हम सग रह भी लेगे, तो कल मृत्यु हमें जुदा कर देगी। इसके पूर्व कि मौत हमें अलग कर दे, हम खुद ही अलग क्यों न हो जाए। और हम-तुम तो फिर मिलने वाले हैं। कुछ ही दिन की बात है। ज्ञान की मशाल लेकर मैं जल्द लौट आऊंगा। तुम सबसे जी जुड़ाकर मिलूंगा। हम फिर साध्य-वेलाओं में उद्यान-भूमि की सैर को जाएंगे। अब जा, मन को बाँझिल न होने दे। मेरा यह हार अन्ना को मेरी स्मृति-रूप में देना। और मेरा प्रणाम कहना। महाराज का ध्यान रखना !...’

रोता, कल्पता, चीखता छन्दक लौट पड़ा।

मैं उसके उठते पैर देखता रहा। पैर जब आँझल हो गए, तो अनोमा के उस रेतीले तट पर अकित उसके चरण-चिह्न खोजता रहा। ‘मुझे नहीं ले गए अपने साथ’—उसका क्रन्दन नदी-कगारों के आर-पार अपनी परछाइयाँ डाल रहा था और धीरे-धीरे ऊँचा उठता हुआ, मानो पेड़ों की चोटियों पर जा बैठा।

अब मेरे पास एक ही चीवर रह गया था। उसके छोर से छानकर पत्तों के एक द्रोण में मैंने जल-पान किया। कुछ देर विश्राम लेकर आगे बढ़ना चाहता था कि दो वृद्ध-तापस आते दिखाई दिए। उनकी आयु कई सौ वर्ष की होगी। वे बोले—‘हम तुम्हें ही खोजते आ रहे हैं। हमें ज्ञात था कि आज के दिन अनोमा के इस कुँआरे जल-दर्पण में तुम अपना रूप निहारोगे। तब, सिद्धार्थ तुमने बड़ा त्याग किया है। लो, भिक्षु की ये आठ आवश्यक वस्तुएँ।’

मैंने सधन्यवाद ग्रहण कीं—‘पूज्यपाद, आप कौन हैं ?’

‘अरे, हमें नहीं पहचाना गौतम ? यह है महा ब्रह्मा और मैं हूँ घटिकार। हम बुद्ध कत्सप काल में तुम्हारे मित्र रहे हैं।’

मैंने उनकी वार्ता सुन ली। मन में सशय था, बुद्ध कत्सप हुआ भी या नहीं, कोन जाने ?

म चलता गया। राजगृह के सस्थागार केतु नजर आ रहे थे। मैंने नगर में जाना उचित न माना। उससे दूर रहना रुचिकर प्रतीत हुआ और अभी तो मुझे अपनी पुरी छोड़े कुछ ही काल बीता था। नगर-पुरी से मुझे अमोह हो गया था। मुझे तो सीधा-साधा ग्राम्य-जीवन ही इष्ट है। वैसे स्वयं अपने लिए तो मैंने वन में रहना ही हितकर समझा, क्योंकि इस क्षेत्र में, अदूर ही कई सत दार्शनिकों के आराम और आवास थे।

राजगृह से इधर अनुपिया नामक आम्र-निकुज है। मैंने परम एकान्त यहाँ पाया। ओर यही रहने का निर्णय किया। नगर में जाना तो इस समय ठीक भी न था। सम्भव है, पिताजी के भेजे चर घूम रहे हों, आज नहीं तो कल वे मेरे लौटने पर जोर दें और यों भाति-भाति के विघ्न पहुँचाएँ। एकान्त-वास स्वयं एक साधना है। फिर जो सिद्धि का साधक है, उसके लिए तो लाभकर है कि वह वन में रहे। अनुपिया का वह स्थल आज भी मेरे सम्मुख झलक जाया करता है। उसके लिए मेरे मन में बड़ा राग है। कितनी मनोरम भूमि है वह। साधुजनों की गति के समान सीधी अमराइयों की रेखाएँ परस्पर मिलकर मानो भूमिति के प्रश्न हल कर रही हैं। घर छोड़ने के उपरान्त पूरा एक सप्ताह मैंने अनुपिया में व्यतीत किया। भोजन की सुविधा नहीं थी। कही जाने-आने की इच्छा नहीं होती थी। मैं तो इसी आनन्द में मग्न था कि चलो, घर-बार का बन्धन छूटा ! बड़े सुख में था कि भूख लगने पर दो-एक आम खा लेता। और कल-कल करते स्रोत का जल पी लेता। चिन्तन-मनन चलता और कब कितना काल आया-गया इसकी स्मृति न रहती। ऐसी गणना करे कौन ? किसलिए ?

पूरे सात दिन आम्र फल पर निर्वाह किया, तो मन में पकवान खाने की रुचि हुई। स्वाद ने जब बाधा पहुँचाई तो मैं नगर की ओर चला। हाथ में भिक्षापात्र था। चला जा रहा था, हृदय कही और था, मन कही और था, और पैरों की गति-दिशा तो वे ही जानें !

इसके बाद की कथा उत्पलवर्णा के शब्दों में यों है—

‘नगर में कुहराम मच गया। झुण्ड के झुण्ड नर-नारी उसे देखने के लिए घरों से दौड़ पड़े। मैं अपने प्रांगण में तुलसी-पूजा कर रही थी। भागी नीचे दौड़ी हुई आई—‘उत्पल देखो-देखो बाहर कैसा सुन्दर युवा संन्यासी आया है।’

मैं उनके पीछे-पीछे बाहर आई। देखकर चकित रह गई। स्त्रियाँ परस्पर उस युवा संन्यासी के रूप, कुल और शील की चर्चा कर रही थीं। भाभी ने उसके पात्र में कई व्यजन डाल दिए। मैं भी दौड़कर भीतर गई और आज भोर ही मैंने अपने हाथों जो मिष्टान्न बनाया था वह इस तरुण तपी के लिए ले आई—‘लो’ मैं आगे न कह सकी। न उसकी नजरें उठी, न मेरी पलके झुकी। मैं तो लोक-लाज छोड़कर उसे देखती ही रह गई !

वह चला गया। भाभी बोली—‘नया-नया साधु है। घर छोड़े अधिक दिन क्या

हुए होंगे तुम्हारा ध्यान कही और है ?

बोली मैं—‘काश यह तपी गृहस्थ युवा होता । इस वय मे इसे कौन-सी लगन लगी है कि यो जोग रमाए बैठा है।’

फिर हम दौडकर अपने वातायन मे आई और वडी ढेर तक उसको लौटते हुए देखती रही । घर-घर से प्रमदाए, बालाए और युवतियां उसके भिक्षापात्र में खाद्य पदार्थ डालती जाती थी । सारी सामग्री का मिश्रण हो रहा था, मैं सोचती रही ये पदार्थ अब यह कैसे ग्रहण कर सकेगा ।

वह चला जा रहा था और लोगों के समूह उसके पीछे-पीछे जा रहे थे । झरोखे खुल गए, खिडकियों के पर्दे हट गए और छज्जावाली कुलवधुओ की आखे पथ पर अटक गई । और नागरिक थे कि उसकी राह रोक रहे थे । कोई अपनी आयु पूछता । कोई अपना भाग्य पूछता । कोई अपना आगम पूछता ।

वह चला जा रहा था और उसके पीछे लोग चले जा रहे थे । अधरों पर बंकिम मुस्कान थी । लोचनों में अजब एक चमक थी । जो देखता, देखता रह जाता । बारम्बार उसे देखने की प्यास उमडती । जिसने नहीं देखा था, वह पछता रहा था, और ‘किस दिशा मे वह गया है ?’ प्रश्न करता था । वृद्धाए लाठी का सहारा लिये और बहुओं का हाथ थामे उसका पथ रोकने लगी—‘बारह बरस हुए मेरी इस बहू की गोद सूनी है । कोई मन्त्र बताओ, कोई जन्त्र, कोई तन्त्र बताओ।’

लेकिन उन्हें वही छोडकर, रास्ता काटकर तरुण-तपस्वी चला जा रहा था । फिर आवाज आती—‘महाराज, ऐसी कोई सिद्धि बताइए, जिससे लोहा सोना हो जाए । दारिद्र्य के चगुल में फसकर मा अधी हो गई है, पिता तो पागल ही हो गए । और ये दस-बारह जो भाई-बहन हैं, पथ के भिखारी हो रहे है ।...’

फिर हमने सुना । महाराज बिम्बिसार के कानो तक बात गई—‘देव, एक युवा संन्यासी नगर-पथ से जा रहा है । सिर मुंडा है । एक वस्त्र पहने और एक ओढ़े हुए है । हाथ में पात्र है । जो कुछ मिलता है, वह उसी मे ग्रहण कर लेता है कोई राजपुत्र मालूम हांता है नाथ । यो, तभी न सभी खाद्य उसके पात्र में मिश्रित हो रहे है । देव, अत्यन्त सुन्दर है वह ! अवश्य वह देवपुत्र है, नागलोक का कोई निर्वासित राजकुमार है । राजगृह अलका के आंगन में खेलता हुआ कोई सुरपुत्र पथ भूलकर आ निकला है । राजगृह धन्य है, धन्य है, धन्य है हमारे भाग्य कि उसके दर्शन हुए ।’

महाराज बिम्बिसार बोले—‘कहां है भां, वह देवपुत्र ? मैं भी देखूंगा उसे ।’ तब तक बाहर शोर सुनाई दिया—‘जरा रुको साधु । हमें मगल-कवच देते जाओ । हमे रक्षा-सूत्र दो । युवा संन्यासी की जय ।’

महाराज अपने महलों से देखते रहे फिर दूत दौड़ाए—‘दौड़ो । पता पाओ, कौन है यह मौन विरागी ? कहां से आया है यह ? क्या नाम-गोत्र है ? कहां ग्राम-धाम है ?’

राजा ने अतःपुर मे जाकर रानी को सदेश सुनाया । उधर दूत दौड़ते हुए वहां

पहुँचे, जहाँ पाण्डव-गिरि पर, आम्र-छाया में वह भिक्षु अपना पात्र लिय बैठा था। उसे आहार के लिए प्रस्तुत देख, वे दवे पाव लौटे और एक ओर खड़े हाँकर प्रतीक्षा करने लगे।

भिक्षा लिये नगर से जब मैं लौटा, तब मेरा मन ग्लानि से भर गया था। कैसे-कैसे अन्धविश्वासी हैं हमारे लोग ! कितना अज्ञान ! कितना तमस् ! एक ओर डकहरा वैभव, दूसरी ओर दुहरा दारिद्र्य !

मैंने अपने पात्र की इस मधुकरी को देखा—विविध प्रकार के खाद्य थे। किसी का जल और किसी का तेल, आपस में रल-मिल रहा था। और इसी में दूध और खटाई, इसी में लवण और मिठाई ! मुझे तो उबकाई आने लगी। खाना तो दूर रहा, मेरे लिए उसे देखना भी दूभर हो गया। तब तो क्षुधा से दुखी था ही, अब मन भी दुखी हो गया। आम्र-पल्लवों से मानो एक मर्म उठी—‘सिद्धार्थ, क्यों व्यर्थ में काया को कष्ट दे रहे हो ? यह कण्टक पथ तुम्हारे लिए नहीं है। कहाँ तुम—क्षुद्र से क्षुद्र जाति का दिया यह भोजन लेकर अपने भाग्य को कोस रहे हो, कहाँ यशोधरा राजपरिवार की रमणियों के बीच राजसी आहार ग्रहण कर रही होगी !...’

नहीं-नहीं, मैंने कहा। मुझे यश का चेहरा आज, आठ दिनों में पहली बार याद आया। आसुओं से भरा हुआ मुख। रोते-रोते रतनारी हो गई अखिया। अश्रु से धुले अधर ! वह भी भूखी होगी। अपनी हठ में वह एक है। दास-दासिया समझाते हार गई होगी, पर उसने दाना मुँह में न छुआया हाँगा। लेकिन मैं तो संन्यासी हूँ। मेरा यशोधरा से क्या लेना-देना !

पात्र सामने था। उससे एक अजीब गंध आ रही थी। फिर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह गंध मुझे कह रही है—घर छोड़ने को तुझे किसी ने न कहा। तू अपने निश्चय से निकला है। गंध और स्वाद से तेरी मित्रता नहीं, शत्रुता नहीं। रस से तुझे क्या प्रयोजन ? तुझे तो सिद्धि पाना है, ज्ञान पाना है।...और शूद्रों का भोजन देखकर तुझे घृणा हो आई। तेरा वह समत्व कहा गया ? साम्य का वह दावा क्या इतनी जल्दी तिरोहित हो जाएगा ? सबका भोजन तेरे लिए समान है। तूने प्रेमभाव न देखा, पदार्थ-भाव में उलझा है। शूद्रों के घरों की वे बहू-बेटियाँ कितने स्नेहपूर्वक भिक्षा दे रही थीं। तूने उनका दान देखा, उनकी भावना नहीं देखी। और राजमहल के नीचे से होकर तो तू खाली ही लौटा। वहाँ प्रेम नहीं, भावना नहीं, सम्मान नहीं, दान नहीं !

मेरी आँखें खुल गईं। सन्तोषपूर्वक मैंने भोजन किया और उसी प्रिय झरने का जल-पान किया। तदुपरान्त स्वस्थ होकर, आसन लगाकर बैठ गया।

राजा का दूत प्रकट हुआ और उसने मुझे अपना मन्तव्य बताया। मैंने स्पष्टतया अस्वीकार किया राजप्रासाद में जाना—‘भद्र, हम साधुओं को महलों से क्या काम ? अपने राजा से कह देना, हमें क्षमा करे और हमारी साधना में अवरोध न लाए।’

दूत के लौट जाने पर संध्या-समय बिम्बिसार स्वयं पाण्डव-पर्वत आए। उनकी पटरानी भी साथ थी। दोनों ने, यह जानकर कि मैं उनके मित्र शुद्धोधन शाक्येन्द्र का पुत्र हूँ, मुझे बहुतेरा समझाया कि मैं घर जाऊँ और यदि न लौटूँ तो कम-से-कम उनके किसी भवन में रहकर अपनी साधना पूरी करूँ। मुझे रानी-राजा के इस प्रस्ताव पर हर्सी आई। फिर भी जाते-जाते राजन् यह वचन लेता ही गया कि जब मेरी साधना पूरी हो जाय तो अवश्य मैं राजगृह लौटूँ और उनकी पाटपुरी में अपना एक विहार बनाऊँ।

अनुपिया की रम्य अमराइयों में मेरे दिन बीतने लगे। मधुकरो के लिए मैं सप्ताह में दो-एक वार ही नगर जाता था। एक तो मैं आस्वाद पर नियंत्रण चाहता था, दूसरे नगर में मेरा मन भ्रमित न हो जाए, मुझे भय था। उत्पलवर्णा मेरी ओर खिंची जा रही थी, यह तो मैं पहले दिन जान गया था, जबकि भिक्षा देते समय उसके हाथ काप गए थे और पलक झुके रह गए थे ! इस जाल से मैं रक्षित रहना चाहता था इसलिए मुझे अपना अरण्य-वास ही श्रेयष्कर लगा। मैंने उत्पल के मुहल्ले तक मे जाना बन्द कर दिया, जब वह उस दूसरे मुहल्ले में, जहाँ मैं भिक्षार्थ जाया करता था, अपने भैया के घर आकर रहने लगी, तब मैं उसे दूर से ही देखकर, बिना भिक्षा मागे पथ से गुजर गया। फिर मेरे कानों में उसका गीत स्वर आया—‘ओ पंथी, ओ सन्यासी, मुझे छोड़ मत जा।’

मैंने निर्णय किया, अब इस राजगृह को ही छोड़ दूँगा।

दूसरे दिन, मैं नदी से स्नान कर लौट रहा था कि मैंने पथ पर जाते एक विशाल अजा-दल देखा। अजपाल उसके पीछे-पीछे आ रहा था, मैंने उसे पुकारा—‘भद्र !’ इस पुकार पर उसने इस हेतु ध्यान न दिया कि ‘भद्र’ शब्द का प्रयोग उसके लिए तो नहीं हो सकता है। फिर पूछा, ‘भाई, यह रेवड कहाँ जा रहा है ?’

वह बोला—‘महाराज बिम्बिसार एक बहुत बड़ा जगन कर रहे हैं, उसी में बलि देने के लिए, यह पशु-दल लिये जा रहा हूँ।’

मैं विस्मित रह गया ! धर्म-धरा पर यह रक्त-प्रवाह ! मैं यह अनाचार न होने दूँगा। मैंने कहा—‘बन्धु अजपाल, मुझे भी अपने साथ ले चलो। आज मैं भी राजा का यज्ञ देखूँगा’ यो कह, मैं उसके पीछे हो लिया।

कुछ दूर जाने पर, मेरी नजर एक नन्हीं-सी प्यारी भेड़ पर पड़ी, वह बहुत छोटी थी, थकी थी, लावा उगलती धरती पर उससे चला नहीं जाता था। पीछे आती भेड़े उसे रुका देखकर सींग मारती थीं और यो उसे आगे बढ़ने का संकेत देती थी। जब मैंने यह देखा कि यह तो पिछले एक पैर से लंगडी भी है, मेरा मन अश्रु-विभोर हो गया। मैंने उसे अपने कंधे पर उठा लिया और चलने लगा। दूसरे कंधे पर गीला उत्तरीय पड़ा था। भेड़ पहले तो बड़े मधुर स्वरों में मिमियाई, फिर चुप होकर, मेरे मुडित माथे पर अपना रोम-राजित सिर रखे ऊँघने लगी।

भेड़ के इस स्नेह-सम्पर्क से मुझे ऐसा सरस आनन्द मिल रहा था, मानो मैं राहुल को लिये जा रहा हूँ। मार्ग लम्बा था। बालू तप गई थी। मुझे इन राहों पर चलने का अभ्यास न था। पगललियो में छाले पड़ गए और प्रत्येक कदम भारी मालूम होने लगा, एक-एक अगुल जमीन सौ-सौ योजन लगने लगी। फिर भी, कोई निश्चय था कि अपने साथ बहाए जा रहा था।

उस दिन हसिनी के लिए देवदत्त को वैरी बनाना पड़ा। आज इस पगु भेड़ के लिए जानें किस-किस से रार मोल लेनी होगी, कुछ भी हो मैं अपने विचार पर अचल हूँ। यह हत्या कभी न होने दूंगा।

आगे की कथा उत्पलवर्णा के मुँह से सुनिए—

“भाभी, याद है उस दिन वह जो तपस्वी हमारे द्वार पर आया था ? कल मैं देवी-पूजा से लौट रही थी कि पौर-द्वार पर अजा-पशुओं की भारी भीड़ देखकर रुक गई। अजपाल के पीछे-पीछे वही तपस्वी आ रहा था। और भाभी, तुम्हें मैं क्या बताऊँ, मैं यह देखकर ठगी रह गई कि उसके कंधे पर एक पशु-छौना ऊँघ रहा है। दूसरे पर एक भीगा वस्त्र पड़ा है। उसकी कनक देह से अद्भुत काँति प्रभासित हो रही थी।

उसने मुझे देखा, जैसे न देखा हो। मैंने ही साहस कर कहा—‘सन्यासिन्, यह क्या भेष बनाए हो ?’

वह मुस्कगया। मैं धन्य हो गई। फिर पहली बार मैंने उसके बोल सुने—‘कल्याणी। राजा के यज्ञ में यह पशु-धन अर्पित होगा। मैं इस सहार-लीला को रोकूंगा।’

मैं मन-ही-मन उसकी सनक पर पहले खीझी, फिर रीझ गई। कुछ भी हो, यह अपनी लगन का पक्का है। पूछा—‘विरागी, तुम्हें सिंह-द्वार में कोई प्रविष्ट भी होने देगा ?’

भाभी, उसने इस प्रश्न को मानों अपमानजनक समझा। मेरी ओर घूरकर ऐसे देखा। ऐसे ..ऐसे।

जब वह कुछ बढ़ गया तो मैं भी अनति दूर रह, उसका अनुसरण करने लगी। मेरा कौतूहल मुझे कह रहा था कि यह योगी आज जरूर चमत्कार दिखलाएगा।

आगे-आगे पशु-दल, पीछे-पीछे अजपाल और उसके पीछे छौना उठाए इस तरुण विरागी को देखकर नागरिक दिग्भूट रह गए। उनके नाना कार्य-कलाप स्थगित हुए। ऊँचे स्वर में बात करते, आदान-प्रदान करते व्यापारी निर्वाक् इस तापस को देखने लगे। शीश पर एक गगरी और दूसरी उठाकर, उस पर रखने जा रही थी कि पनघट की पनिहारिनें चित्र-खचित रह गईं। कारीगरों के हाथों से कल छूटे। लोहार के हाथों उठा हथौड़ा, उठा रह गया। और वह यह विचित्र जुलूस देखने लगा। स्वर्णकार सोने का ताल भूला। ग्राहक मोती का मोल भूला। पिजरे का शुक पछी अपने बोल भूला। क्रीडारत बालक अपना गोल भूला। सिंगारवतियां कगन में कील देने जा रही थी कि

—और झपटीं तरुण के तेज को निहारती रहीं हमारी मामी को तो जानती

हों। कितनी स्थूल है उनकी देह, गटियावात से जकड़ी हैं, कभी खटिया छोड़ती नहीं, उन्हें भी मैंने झरोखे में झाकते देखा। कुलवधुएँ परस्पर वार्तालाप कर रही थीं—‘सखि, यह युवा सन्यासी कभी-कभी हमारे द्वार आता है, भिक्षा के लिए। कितना रूपवान और हृदयवान लगता है। आज तो यह यज्ञ के लिए पशु-दल ले जा रहा है।’

दूसरी बोली—जरा इसकी सुन्दर आखें तो देखो। कैसी करुणामय हैं। प्रतीत होता है, यह नन्हा छौना थक गया है और उसे कंधे पर उठाकर लिये जाता है।’

अजपाल प्रासाद के आंगन में प्रविष्ट हुआ। जहाँ वेदिकाएँ बनी थी और विप्रों के गम्भीर, सतृष्ण कण्ठों से ‘स्वाहा’, का घोष यज्ञ-धूम्र के साथ उठ रहा था। अजपाल ओर उसके रेयड को देखकर, ब्राह्मण वड़े प्रसन्न हुए। उनमें जो महोदर आचार्य थे, उन्होंने आदेश दिया—महाराज को बुलवाओ। एक सुपुष्ट भेड़ को मन्त्र शुद्ध कर, इधर लाओ। शिष्य दौड़े, कुछ पशु-दल की ओर और कुछ राजमहल की ओर। तो भाभी, इस बीच अपने कंधे के छौने को उतारकर तरुण विरागी यज्ञ-मण्डप की ओर बढ़ा। हाथ में छुरा लेकर जो ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण कर रहा था, उसके निकट चला गया और दोनों हाथ जोड़, उसने वेदी पर, असिसुना पर, छुरे की छाया-नीचे अपना सिर झुका दिया—‘इन मूक प्राणियों के बदले, मेरे सिर पर अपनी छुरी चलाओ।’

मण्डप में कुहराम मच गया। ब्राह्मण वड़े क्रोध से उसे ललकारने लगे, परन्तु उसके अविचल मौन को भग करने में असफल रहे। शोरगुल को सुनकर यज्ञ के व्यवस्थापक दौड़े आए। तब तक महाराज बिम्बिसार भी आ गए। राजा ने वेदिका पर झुका तपी का शीश देखा, तने हुए छुरे की धार देखी।

राजा को देखकर सब शान्त हो गए।

सन्यासी ने वैसे ही खड़े-खड़े कहा—‘ब्राह्मणों, महाराज, आप लोग देवों को प्रसन्न करने के लिए इन निर्दोष और मूक प्राणियों की बलि देना चाहते हैं। परन्तु सोचा है कभी, इस कर्म में क्रूरता है। इन जीवों को मारने का अधिकार तुम्हें किसने दिया?’

तरुण के प्रश्न का उत्तर न मिला। सब स्तब्ध हो सुनते रहे। वह फिर बोला—‘धर्म की प्राप्ति निरीह जीवों की हिंसा में नहीं है। हिंसा स्वयं महापाप है, उससे धर्म का पुण्यफल प्राप्त नहीं हो सकता। राजन्, बताइए, विष का वृक्ष हो, तो क्या उस पर सुधा के पुष्प, अमृत-फल लग सकते हैं?’

सब वैसे ही स्थिर रहे। राजा आगे बढ़ा—‘तरुण-तपी, मैं तुम्हारी शरण हूँ। मेरा अपराध क्षमा करो। आज मुझे सत्य धर्म का रहस्य-लाभ हुआ। मैं आज ही महामात्य से मन्त्रणा कर, राज्य में प्राणी हिंसा न करने के आदेश प्रकाशित करता हूँ।’

‘तुम्हारा कल्याण हो!’ केवल इतना ही कह, वह विरागी एक मुस्कान लिये वन की ओर लौट गया। और भाभी, यह उसी की कृपा का परिणाम है कि पिछले सप्ताह से हमें आनिष-आहार न मिला।’ इतना ही कहा उत्पलवर्णा ने।

राजांगण से लौटकर मैं पुनः पाण्डव-पर्वत पर गया और अपने एक प्रिय पीपल-पादप के नीचे बैठा विचार-रेखा के चित्र देखता रहा। वह पूरी वेला हिंसा-अहिंसा के विवेचन में व्यतीत हुई। कुछ देर बाद तृषा लगने पर मैं नदी की ओर चला। बीच में, पहाड़ी का ढाल जहाँ आना था, वहाँ दोनों ओर एक गली-सी बन गई थी। जिसके सिर पर दोनों ओर बड़ी-बड़ी चट्टानें खड़ी थीं, जिन पर विशाल शिलाएँ झूल रही थीं। मैं अपने ध्यान में मग्न चला जा रहा था कि सहसा एक बड़ा, अरूता प्रस्तर-खण्ड मुझे अपना मस्तक छूता हुआ दिखलाई पड़ा। एक पल चूक जाता, और मेरी दृष्टि उस पर न पड़ती तो 'राम नाम सत्य' हो जाता है। क्योंकि मृत्यु से कोई बच नहीं सकता। न तो ऊपर आकाश में, न नीचे समुद्र के मध्य, न पर्वत की कन्दराओं में, न किसी तहखाने में ही पैठकर, हम काल के हाथों बच सकते हैं। ससार में ऐसा कोई स्थान नहीं, जहाँ छिपकर, त्राण पाकर हम मृत्यु की झपट से बच सकें।

शिला मेरे सामने गिरी और चूर-चूर हो गई। उसका टुकड़ा मेरे पैर पर लगा और घाव पड़ गया। उससे रक्त बहने लगा। मैं रुका नहीं। कुछ बढ़कर एक ऊँची शिला पर बैठ गया। तब क्या देखता हूँ कि देवदत्त भागा जा रहा है। तो यह इसका कर्म था। वह समझा, मेरा प्राणान्त हो गया है, सो कलक से बचने के लिए भागा जा रहा है। मैंने स्वतः इतना ही कहा—'देवदत्त, तू अबोध है। नहीं जानता, तू क्या कर रहा है।'

आज मुझे गुरु की खोज में जाना था कि देवदत्त ने मेरी यात्रा में यह बाधा उपस्थित कर दी। स्वस्थ होने में कुछ दिन लग जाएंगे।

लड़खड़ाता मैं नदी-तीर पहुँचा। पहले पैर का घाव धोया। जल पीया। फिर भी ऐसा लगा, पेट कुछ माँग रहा है। हाँ, भूख...तुम भी आओ। मैंने आकण्ठ जलपान किया। लेकिन पानी से प्यास बुझती है, भूख नहीं।

सामने एक नाव आती दिखलाई दी। जब वह निकट आ गई तो मैंने देखा, उसमें कुछ यात्री बैठे हैं। उस पार आकर उन्होंने एक छायादार पेड़ के नीचे अपनी गठरियाँ रखी और तनिक सुस्ताकर वे आहार लेने बैठे। उनके विविध व्यजनों और अचार-मुरब्बों की गन्ध मेरी नासिका पर रही थी। मैंने स्वाद और क्षुधा के इस उभयपक्षीय प्रहार पर अपने को अरक्षित पाया।

यात्रियों ने कहा—'महाराज, आहार ग्रहण कीजिए।'

'नहीं, मैं कुछ ही समय पूर्व ले चुका हूँ।' मैंने अपने से ही विद्रोह किया। इस भूख और प्यास से मैं दबने वाला नहीं। इसके वार से मैं मरूंगा नहीं। इस वन में मैं उदरपोषण के लिए नहीं आया, तप के लिए आया हूँ। मेरी तृप्ति भोजन और जलपान से नहीं होगी। ज्ञान ही मुझे तृप्त कर सकता है। बुद्धि ही मेरी क्षुधा का निवारण कर सकती है। जब तक ऐसी सिद्धि उपलब्ध नहीं होती, स्वाद मेरा शत्रु है और भोजन मेरे लिए विष है।

मैं घोर-कठोर तपस्या करूँगा।

‘क्यों भाई, आचार्य आलार कालाम का आश्रम यही है ?’

मैंने आश्रम में प्रवेश करते हुए एक तरुण सन्यासी से पूछा। वह बोला—‘हा श्रेष्ठ, पूज्यपाद का आश्रम यही है।’

‘तो, आवुस। मैं उनके दर्शन करना चाहता हूँ। इसी अभिलाषा से बड़ी दूर से आया हूँ।’

‘कितु सन्यासिन्, तुम मुझे आयुष्मान् न कहकर, लोक-भाषा में आवुस क्यों कहते हो ? आचार्य सुन लेंगे, तो रुष्ट होंगे। हमारे आश्रम के प्रथम नियम द्वारा शूद्र-भाषा का निषेध है।’

मैंने कहा—‘मैं जानता था, ब्राह्मण और क्षत्रिय आख-कान, नाक-मुह लेकर ही जन्म लेते हैं। आज मुझे मालूम हुआ, वे अपनी माँ के गर्भ से, भाषा को साथ लेकर भी, जन्म लेते हैं। तुम्हारा आभारी हूँ।’

‘बड़े उद्दण्ड हो युवक।’

मैंने उत्तर दिया, पूछा—‘तुम्हारी तपस्या का उद्देश्य क्या है ?’

‘आत्म-कल्याण।’ उसने रट्टू ताँते की तरह घिसी हुई बात कही। मैं बोला—‘नहीं, लोक-कल्याण।’ और यदि लोक-कल्याण हमारा लक्ष्य है तो लोक की भाषा हमारी भाषा है। अच्छा, जाने दो इस विषय को। मैं गुरु की खोज में निकला हूँ।’

शिष्य ने चतुर दलाल की तरह अपने प्रचार की थैली खोली—‘आचार्य से बड़ा गुरु कौन है ? उन्होंने सकल सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। वे हवा में उड़ सकते हैं और पानी में चल सकते हैं।’

‘हवा में तो पंछी भी उड़ते हैं। और पानी में जल-जन्तु जितनी प्रवीणता से चलते हैं, उतनी प्रवीणता दिखाने के लिए आचार्य को मगरमच्छ का जन्म लेना पड़ेगा।’

‘अतिथि।’ इतनी अश्रद्धा अच्छी नहीं। लो, गुरुजी सामने ही आ रहे हैं।’

मैंने अपनी श्रद्धा समेटकर आलार कालाम को प्रणाम किया। उन्होंने शुद्ध व्याकरण सम्मत, ब्रह्मनिष्ठ संस्कृत में मुझे आशीर्वाद दिया। बोले—‘तरुण, वृद्ध माता-पिता को छोड़कर आए हो न। और उस तरुणी पत्नी और नवजात शिशु का मोह भी तुम्हें न बाध सका ?’

मैं आचार्य की वाणी से बड़ा प्रभावित हुआ। कैसे अपूर्व त्रिकालदर्शी है। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि कपिलवस्तु के कुछ सैनिक मुझे ढूँढते हुए इधर आ निकले थे। उन्हीं से आचार्य को मेरा परिचय प्राप्त हुआ था। इस समय तो, मैंने उनके पैर पकड़ लिये, अवश्य अपना शिष्य बनाइए मुझे। मेरा उद्धार आपके हाथ है। आचार्य ने शिष्य-समुदाय की ओर गर्व से देखा—‘तुम्हें इन्द्रिय दमन करना होगा।’

‘आचार्यवर का कथन यथार्थ है। परन्तु पिछले वर्ष मैंने स्वाद को वश में किया है और रसना को जीता है।’

‘तब तुम्हें स्थूल से सूक्ष्म में पहुँचना होगा। देह से मन की ओर आना होगा।

‘गुरुदेव, मैंने सूक्ष्म और स्थूल को भली-भाँति जान लिया है। मेरा मन मेरे वश में है। जिस प्रकार राह चलता पथी विगत पंथ की ओर नहीं देखता, उस प्रकार मैं भोग-मार्ग को छोड़ चुका हूँ, मुड़कर उससे नहीं देखा।’ आलार कालाम अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी तरुण काया और अत्यन्त काले केश देखते रह गए।

‘क्षमा करे, आवुस कालाम। आप इस धर्म को स्वयं जान, साक्षात्कार कर बतलाते हैं?’

‘हा, आवुस। मैं इस धर्म को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर विहगता हूँ।’

‘यह सब तो मैं भी जानता हूँ।’

‘तब तो बड़ा लाभ होगा हमें। तुम जैसे ब्रह्मचारी को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मैं तो जिस धर्म को स्वयं जानकर बतलाता हूँ, उस धर्म को तुम भी स्वयं जानकर विहरते हो। उस धर्म को मैं स्वयं जानकर, उसका उपदेश देता हूँ। जिस धर्म को मैं जानता हूँ। इस दृष्टि से, जैसे तुम, वैसा मैं। जैसा मैं वैसे तुम। अब आओ आवुस, हम दोनों सन्यासियों के इस गण को धारण करें। आज से तुम भी यहाँ के मेरे समकक्ष आचार्य हो।’

इतना कहकर आलार कालाम ने अपने शिष्यों को बुलाया और मुझे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य कालाम के हृदय की सहज गुण-मुग्धता देखकर मैं बहुत प्रभावित हुआ। उनकी इतनी आयु! जितने वर्ष उन्होंने व्यतीत किए, उतने दिन भी संसार में आए, मुझे नहीं हुए। उन्होंने आचार्य होते हुए भी मुझ अन्तेवासी को समान पद प्रदान किया। कुछ दिवस पश्चात् मुझे ऐसा लगा आलार-कालाम जिस धर्म की शिक्षा दे रहे हैं, वह धर्म न निर्वेद के लिए है, न विराग के लिए, न निरोध के लिए है, केवल आकिंचन्य आयतन प्राप्त करने के लिए है। जब मुझे इस विश्वास की प्रतीति हो गई तो मैं इस धर्म-दीक्षा को अपर्याप्त मानकर उससे विरक्त हो गया। और एक सुबह आलार कालाम को नमस्कार कर, चल दिया।

सोचा, मैं इस तरुण वय में घर से निकल पड़ा हूँ। केश-श्मश्रु मुँड़ा, काया पहन उदास ब्रह्मचारी बना हूँ। अश्रुमुख पत्नी और माता-पिता को अत्यन्त कठोरता से, रोता छोड़ आया हूँ। यदि फिर भी मेरे मन का प्रश्न-प्रश्न ही बना रहा, तो क्या लाभ प्रव्रजित होने से? इस दृश्य-अदृश्य जगत् में ‘क्या उत्तम है’ की मैं खोज कर रहा हूँ, यों मैं किंकुशल-गवेशी हूँ। मुझे अपने प्रश्न का निदान पाना है। आश्रमों में यों पेट-भर खाना और चैन से बैठकर गृहस्थियों से गप्पे लड़ाना मेरा धर्म नहीं। तब मैंने शपथ ली, जब तक मुझे सिद्धि की ज्योति न मिल जाएगी मैं सभी प्रकार के प्रमाद से परे रहूँगा।

वन-वन, पथ-पथ, गिरि-गिरि, कदरा-कंदरा—जहाँ-जहाँ, किसी साधु संत के हाँने का मुझे पता लगता, मैं पहुँचता। भटकते-भटकते कई दिन निकल गए, तब मैं अनुत्तर शांति के परम पद को खोजता हुआ जहाँ उद्रक-रामपुत्र था, वहाँ गया। मैं इतना

आकुल था, मेरी ज्ञान-पिपासा इतनी बेचैन थी कि, मैं अपने को मौन न रख सका और उद्रक-भिक्षुओं के डेरें-बाहर से ही चिल्लाया—‘आवुस राम ! प्रणाम करता हू। मैं कपिलवस्तु के शाक्य शुद्धोधन का पुत्र हू और किकुशल-गवेपी हू। तुम्हारे इस धर्म-विनय में मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हू।’ एक सास में मैं सब कह गया। मुझमें इतना धैर्य न था कि रामपुत्र मुझसे परिचय पूछे और मैं उसका उत्तर दूं और यो व्यर्थ ही समय नष्ट होकर मेरी अभिज्ञा-प्राप्ति में विलम्ब हो। उद्रक रामपुत्र ने प्रसन्न होकर कहा—‘विहरो आयुष्मान् ! यह धर्म-विनय ऐसा आश्रम है जहां विज्ञपुरुष न-चिर में आचार्यक-विशेषज्ञता को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हैं।’ तब राम ने मुझे समाधि की सात अवस्थाएं और ‘नैव सज्ञा-नाऽज्ञा-आयतन’ बतलाया। तो मैंने उससे कहा कि यह सब तो मैं जानता हू। परीक्षा दे सकता हू। कुछ और बताओ। उत्तर में वह बोला—‘हे राजपुत्र, मेरे इस विनय में कई वृद्ध श्रमण हैं। कुछ ऐसे भी हैं, जो शताब्दियों से तप कर रहे हैं परन्तु वे समाधि की अवस्थाओं में पारंगत नहीं हैं। मैं भी अधिक नहीं जानता हूं। जैसे तुम हो, वैसा ही मैं हू। आओ आवुस ! हम दोनों, भिक्षुकी की इस मंडली की अध्यक्षता धारण करें।’

मैं बोला—‘रामपुत्र, मैं अध्यक्षता करने नहीं निकला हू। विश्व की मानवता दुःख और अशान्ति की खन्दक में बिलख रही है। उसे सदेह-मुक्ति का शुभ-संवाद देना है। मैं उसी अनुत्तर शान्ति की खोज में चला हूँ, तुम्हारे पास वह नहीं, तो मैं और कहीं जाऊंगा। अच्छा, नमस्कार ! कष्ट के लिए क्षमा करना।’

मैं चल पड़ा तो उद्रक रोककर बोला—‘सिद्धार्थ कुमार, ये फल तो खाते जाओ। तुम भोर से भूखे हो बन्धु।’

मैंने सुना, न सुना।

फल और रोटी, प्रासाद और पद्मिनी—इस चक्कर में मैं फंसने वाला नहीं। मैं बहुत कठोर हू। अपने आप से लड़ रहा हूँ और अपने ही से न झरूंगा।

अब मुझे एक ही बात का खेद था। अज्ञान सब कहीं है, ज्ञान कहीं नहीं है। मेरी भूख-प्यास, निद्रा-जागृति सब उड़ गई। पैर बढ़ते गए। अब तो इन्होंने कटको में चलना सीख लिया था।

दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष वात्स्याचक्र के पत्तों की तरह उड़े जा रहे थे। अब तक मैंने सभी दर्शन देखे। योग-विद्याएं सीखीं। समाधियों में बैठा। और भी बहुत कुछ किया परन्तु शान्ति न पा सका। जब मैं स्वयं अशान्त हू, चराचर को शान्ति कैसे दे सकता हू !

मैं उजाड़ वन-खण्डों में जाता, गिरि-गुहाओं में घुस जाता और महीनो श्वासोच्छ्वास रोके समाधि में लीन रहता। पेट में भयकर वेदना होती। शरीर में शूल उठता। तप के कारण सारी देह जल उठती पर मेरी लगन और मेरा उत्साह न जल सका। मेरी आशाएं भंग न हुईं। निश्चय अचल रहे और उग्रातिउग्र-तप चलते रहे।

शीत-ऋतु में मंति शीतल जल में आकण्ठ बैठकर, योग साधना करता ग्रीष्म में जब धरती-आकाश आग उगलते, तब मैं चारों ओर धधकती अग्नि जलाकर बीच में अकम्प बैठा रहता। वर्षा-काल में मैं खुले मैदानों में नग्न पड़ा रहता। मैंने गुरु की आज्ञा से पावस की अनन्क रातें उस घनी झाड़ियों में सो कर बिताई, जहाँ सभी प्रकार के हिंस्र जन्तु—सिंह, रीछ, नाग, साप सोए रहते। उनकी सास की घर्-घर् और गध का अब भी मैं स्मरण कर सकता हूँ। मेरे इस उग्र तप का देख-देखकर व्यवसायी ब्राह्मणों के टोले मेरे पास आते और अपना गुरु बन जाने के लिए विनती करते। परन्तु मैं उनकी मक्कारी खूब जानता था। वे मेरी ओट में अपना उद्योग चलाना चाहते थे। जब-जब वे आए मैंने उन्हें निकाल बाहर किया। मैं स्पष्ट कह देता—‘मेरे पास शान्ति नहीं, ज्योति नहीं, विप्रो, तुम कहीं और जाओ।’ तब भी यदि वे मेरा पीछा करते तो मैं रात में उन्हें तजकर चल देता।

मैंने वर्षों वृक्षों पर चढ़कर तपस्या की। डाल से उलटा लटक, नीचे धुआ जलाकर मैं ज्ञान के लिए हठ करता रहा। महीनों कांटों की सेज पर सोया। धरती में गड़ा रहा। नदियों में तैरता रहा। एक टांग से खड़ा रहा। शीर्षासन लगाए रहा। अमावस्या की रात श्मशान में शव की छाती पर बैठकर मन्त्र-तन्त्रों की साधना देखी, पर मेरे मन का कोलाहल वैसा ही रहा, विश्व का क्रन्दन वैसा ही रहा। मैंने पाया, शान्ति इन सबमें नहीं है। यह सब मिथ्या है। यह सब प्रपञ्च है, यह सब धोखा है। ये तपस्याए झूठी हैं।

प्रान्त-प्रान्त, वन-वन, देश-देश, आश्रम-आश्रम, मैं छानता गया। यात्रा का न आदि मिलता था न अन्त।

मैंने भविष्य-वक्ता ज्योतिषियों के साथ रहकर आगम-वाणी और सामुद्रिक शास्त्र सीखे। वहाँ पाखण्ड वर्तमान था। फिर एकान्त-सेवी गुरुओं की सेवा में रहा। एक गुरु ऐसे मिले, जो केवल खेत में गिरे हुए अन्न के दानों पर निर्वाह करते थे। उनकी सगति में रहकर मैं भी उच्छ्रवती बना। निरा-पशु-सा जीवन था वह। नैष्काम्य मार्गाध्यायी की प्रतिशरण मिलती नहीं थी। त्रैचीवरिक संतों का अनुशरण किया। और देखा कि वे तो केवल वस्त्रों की संख्या को ही मनसिकरणीय समझ बैठे हैं। सो, मैं ऐसे धर्म से उदास हो, चल दिया।

किकुशल-गवेषी मैं शान्ति-पद की लगन में मगन, मगध में चारिका करता रहा। बड़ी सुन्दर थी वह धरती—रम्य भू-भाग, मधुर वनश्री, रुचिर, रुचिर प्रान्तर और बहती नदी—देखी। पास ही भिक्षाटन-योग्य ग्राम्य देखा। मेरे मुह से निकला—‘रमणीय है यह भूमि-भाग। प्रधान के लिए यह अल है।’ और मैं वहीं बैठ गया। उस समय मुझे अद्भुत, अश्रुतपूर्व तीन उपमाओं का भान हुआ—जिस भाति गीला-काष्ठ जल में डाला जाए। कोई आकर उसे उठा ले, कहे इस काष्ठ से आग जलाऊंगा, तेज उत्पन्न करूंगा, भोजन बनाऊंगा आदि। और वह उत्तरारणी (रगड़कर अग्नि निकालने की लकड़ी)

से उस गीली और भारी लकड़ी से अनल जला लेने का प्रयत्न करे, तो वह व्यक्ति पीड़ा का ही भागी होगा। और भले ही थककर चूर हो जाए, लकड़ी नहीं जलेगी। उसी भाँति जो व्यक्ति वासना में लीन हो विचरते हैं, जिनकी काम-रुचि, काम-स्नेह, काम-मूर्छा और काम-पिपासा, लकड़ी की आर्द्रता की भाँति भीतर से नहीं छूटी है, अशमित है, तो ऐसे व्यक्ति प्रयत्न-बुद्ध होने पर भी निरन्तर वेदनाएँ सह रहे हैं और उन्हें परम ज्ञान का अनल प्राप्त नहीं होता।

और जिस प्रकार स्नेह युक्त गीला काष्ठ जल के समीप स्थल पर पड़ा हुआ है, और उससे भी अग्नि प्रकट नहीं हो सकती। और केवल उसी नीरस, शुष्क काष्ठ से हो सकती है, जो जल से दूर सूखे स्थल पर पड़ा हो। उसी प्रकार जो कोई व्यक्ति—श्रमण, ब्राह्मण, काया-द्वारा, काम-वासना और भोगों से अलिप्त हो विहरता है, और जिसका अन्तरतम भी काम-दाह से सुप्रहीण है, सुपमित है वही उस परम ज्ञानरूपी अग्नि को प्रकट करने में समर्थ है, जो सारे बाधा-बन्धनों को भस्म कर देती है।

इसके दूसरे भाग, जाने कैसे मेरे मन में आया—क्यों न मैं दातों पर दाँत रख, तालु को जिह्वा से दबाकर, मन से मन का निग्रह करूँ। और मैंने दाँत पर दाँत रख, जिह्वा से तालु दबाया। इस प्रक्रिया में कुक्षि से स्वेद बहने लगा, जैसे कि कोई बलवान पुरुष किसी दुर्बल का शीश और कन्धा पकड़कर उसे धर दवाएँ, तपाएँ। इस प्रयत्न में मेरी स्मृतियाँ बनी रही, काया तत्पर रही। मेरे सम्मुख दूसरी क्रिया श्वास रहित ध्यान की थी। तत्काल मैंने उसका अनुसरण किया। मुख और नासिका में साँस का आना-जाना रोक दिया। तब मेरे मुख और नाक से श्वास-प्रश्वासाँ के रुद्ध हो जाने पर, कर्ण-छिद्रों से निकलते वात के कारण बहुत अधिक झंकार होने लगे। जैसे लोहार की धौकनी से धौकने पर बहुत अधिक शब्द होता है, वैसे ही मेरे कानों में धौकनियाँ चल रही थीं। फिर मैंने मुख, नासा और कर्ण तीनों इन्द्रियों से श्वास-रहित ध्यान किया तो मूर्छा में बहुत-सी वात टकराने लगी। और ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मेरे सिर का मन्थन कर रहा है। सिर में पीड़ा होने लगी। मेरा यह संकल्प उल्टा था। पेट में शूल उठने लगा, मानो कोई विकर्तन से उदर काट रहा है। सारी देह में दाह होता था। जैसे कोई अंग-अंग को अंगारों पर तपा रहा है।

यही मुझे कौण्डिन्य और उसके चारों साथी—वप्प, भद्रिय, महानाम और अश्वजित मिले। ये मेरे जन्म के समय से ही प्रव्रजित हो, वर्षों से भिक्षाटन कर रहे थे। जब इन्हें मेरा पता चला, तो खोज करते हुए आ पहुँचे और तन-मन से मेरी सेवा करने लगे। ये मेरे चारों धोते, वासस्थान को स्वच्छ रखते और विविध भाँति की परिचर्याओं से प्रसन्न रहते कि श्रमण गौतम जिस धर्म को प्राप्त करेगा, उसे हमें भी बतलाएगा। सदैव मेरे अनुचर बने रहते और मेरे आदेश की प्रतीक्षा करते। इन्हें मेरा तप देख, सदैव यह आशा लगी रहती कि अब गौतम बुद्धत्व को प्राप्त होंगे, अब यह बुद्ध बनेंगे। और मैं सोचता रहता, अभी मेरी मंजिल बाकी है, अभी मुझे बहुत चलना

हे, अभी तो मेने चलना साखा है। इस धुन मे मै तप-लीन रहा और इन पाचो शिष्यो ने सोचा—‘छः वर्ष होने आए श्रमण गौतम उग्रतर तप कर रहा है, परन्तु इसे अभी तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं हुआ। अब इसके साथ अधिक रहने मे कोई सार नही। यह स्वय असफल रहा है। जिधर जाना है ग्राम और नगर-जन इसका परिहास करते हे, इतलिए, इसका साथ छोड देने मे ही कल्याण है, यदि सग रहे तो इसकी असफलता मे हिस्सा बंटाना पड़ेगा। यह तो केवल एक बदरी-फल पर रहता है, किंतु हम तो ब्राह्मण है ! हमें तो पेट-भर भोजन चाहिए। भूखा रहकर तो भजन नही किया जा सकता।’ .यह जान, मै स्थूल आहार ग्रहण करने लगा। तो इन्होंने इसमें भी वुराई देखी। और ‘श्रमण गौतम बाहुलिक है। बाहुल्य-परायण है। पेटू है। इससे कुछ आशा रखना ओस-बिन्दु से सिर धोने के समान है’—कहते मेरा तिरस्कार कर, अपने झोली-झडे उठा, चले गए।

जब ये पांचों अनुचर न रहे, तो मैने चैन की सास ली। चलो छन्द छूटा। अब मै अधिक एकाग्र होकर सिद्धि का स्वागत करूंगा। लेकिन पेट ने पूछा—भद्रिय कं बिना भिक्षा कौन लाएगा ? मैने कहा, मै भूखा ही रह जाऊंगा। और निश्चयपूर्वक मैने भावी कार्यक्रम बनाया—क्यो न आहार का सर्वथा त्याग कर दूं ! तब देवो ने आकर कहा—‘मार्घ, तुम भले भोजन तज दो। हम तुम्हारे रोम-कूपो-द्वारा दिव्य ओज डाल देंगे, उसी से तुम निर्वाह करोगे। इस भव्य भोजन के योग से तुम्हें क्षुधा-बाधा न व्यापेंगी।’

‘नही। रहने दो’—मैने देवों का भोज अस्वीकार किया। यदि ऐसा न करता तो, मेरा तप मृषा होता।

दिनो से निराहार और श्वास-निरोध के कारण एक दिन मैं असुध अवनी पर पड़ा रह गया। मेरी यह दशा देख-देख पथिकजन कहने लगे—‘श्रमण गौतम मर गया है। सन्यासी सिद्धार्थ मर गया है।’ ‘चलो एक पाखंडी कम हुआ।’ सुनकर ब्राह्मण बोले।

यह मिथ्या सवाद यों फैलता गया, फैलता गया। झूठी अफवाह की गति पवन से भी अधिक होती है।

खबर यह कपिलवस्तु पहुची। और शाक्य शुद्धोधन से कहा गया, ‘आपका बेटा मर गया।’

शुद्धोधन ने पूछा—‘क्या वह बुद्ध बनकर मरा या उससे पूर्व ?’
‘देव, वह बुद्ध बनने मे असमर्थ रहा। और बुद्धत्व प्राप्ति के प्रयत्न मे असफल भटकता रहा। उसकी मूर्खता, हठ और दुराग्रह के कारण किसी ने उसका साथ न दिया और वनान्तर मे वह अकेला ही भूखो मर गया। अन्त समय मे कोई पानी पिलाने वाला भी न मिला। न कोई उसे चिता-दान दे सका। यों ही खुले मैदान मे चील- कौए नोंच कर खा गए।...राजन् । हमने अपनी आंखों से देखा है।’

‘मैं नहीं मानता। मुझे विश्वास नहीं होता। जब तक मेरे बेटे को बुद्धत्व प्राप्त

नहीं हो जाता, मृत्यु उसका वाल भी वाका नहीं कर सकती। तुम सब झूठ हो। प्रहरी, इन बदमाशों को पकड़ लो। और इनके हाथ-पैरों में मन-मन-भर लोहे की बेडियां डाल दो। ताकि उनकी झंकारें सुनकर इन्हे अपने किए पर पश्चात्ताप हो।...मैं इस बात पर कदापि विश्वास नहीं कर सकता। मैंने स्वयं कालदेवल को सिद्धार्थ की चरण-रज लेते देखा है। कौन्डिय ने सिद्धार्थ के बुद्ध बनने की घोषणा की थी। विधाता की रेखाएं झूठ हो सकती हैं, कालदेवल का कथन मिथ्या नहीं हो सकता। और बन्धुमान्, तुम्हें याद होगा उस दिन जम्बू-वृक्ष के नीचे हमने सिद्धार्थ का, भावी बुद्ध के रूप में दर्शन किया था।'

सूनी पगडण्डियों के किनारे, वन वृक्षों के नीचे बैठा मैं राहगीरों के मुख से विविध वार्ताएं सुनता रहता। और जो ज्ञानी थे, वे कहते थे—'श्रमण गौतम नहीं मरा, न मरेगा। श्रमण गौतम अर्हत है। अर्हत का विहार इसी प्रकार होता है।'

तब मैंने निराहार को मिथ्या मान, यह सोचा कि क्यों न मैं थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करू—पसर-भर मूंग का जूस, मटर या आहार का जूस लेना चाहिए। थोड़ा, पसर-भर मूंग या दूसरी दालों का जूस लेते रहने पर भी, मेरी देह दुर्बलता की परम सीमा पर पहुंच गई। मेरा अंग-प्रत्यंग आसीतिक की ग्रन्थियों-सा गोचर हुआ। उस अल्पाहार से मेरा आनिसद ऐसा हो गया जैसे ऊट का पैर हो। पीठ की हड्डियां सूओं की पाति-जैसी ऊची-नीची हो गई। मेरी पसुलियां पुरानी शाला की कड़ियों के समान ओलुग-विलुग (अहण-बहण) हो गई। जैसे गहरे कुएं में पानी का तारा—उदकतारा गहराई में बहुत दूर दिखाई देता है, वैसे मेरे चक्षु-तारक थे। जिस प्रकार कच्चा ही तोड़ लिया गया कड़ुआ लौका पवन और धूप से चिचुककर, मुरझा जाता है, वैसे ही मेरे सिर की चमड़ी चिचुक गई थी। यदि मैं पेट की खाल को मसलता, तो पीठ के काटों को पकड़ लेता और पीठ के कांटों को मसलता तो पेट की खाल पकड़ लेता था। उन दिनों मेरा पीठ और पेट एकदम सट गए थे। यदि मैं दिशा जाता, वहीं चकराकर गिर पड़ता था। और जब मैं अपने शरीर को सहलाते हुए हाथ से गात को मसलता था, तब देह से सड़े मूलवाले रोम झड़ पड़ते थे।...मुझे इस दशा में देखकर पनघट की अपरिचित स्त्रियां भयभीत हो भाग जातीं। लोग कहते थे—श्रमण गौतम काला है। नहीं, काला नहीं श्याम है।...वे परस्पर तर्क करते। श्रमण गौतम न काला है, न श्याम ही है, वह तो मंगुर वर्ण है। इस कथोपकथन से मेरी उस अवस्था का अनुमान लग सकता है। मेरा वह पूर्वकालीन परिशुद्ध परिअवदातछवि-वर्ण नष्ट हो गया।

इस तपस्या पर मैंने निर्णय दिया—पुराकाल में जिन-किन्हीं साधकों ने घोर कष्ट सहे, कटुतम वेदनाएं सही, वे इससे अधिक नहीं, इतने ही पर्यन्त थीं। भावी मे भी जो कोई साधक कठोर कष्ट सहेंगा, उसकी सीमा का अन्त भी यहीं होगा। और आज वर्तमान में भी जो कोई साधक तीव्र तप ताप सह रहे हैं, वह भी यही

तक है। इतने पर भी परम तत्त्व अप्राप्य रहा। और इस दुष्कर कारिका से भी उत्तर-मनुष्य-धर्म—अलमार्य-ज्ञान-दर्शन विशेष न पाया, तो अवश्य बोध के लिए कही कोई दूसरा मार्ग है। अब मुझे उस मार्ग की खोज करना चाहिए।

तब मैं कुल्माष (दाल-भात) ग्रहण करने लगा। इससे सबल हो, वितर्क तथा विचार सहित, विवेकज, प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। इसी प्रकार मुझे द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हुई। फिर मैं प्रीति और विराग की उपेक्षा कर, सुख विहारी बन विहार करने लगा।

इस प्रकार मेरे दिन बीतते गए। पर परम-ज्ञान परे और परे रहा। और तपस्या के ये वर्ष तो ऐसे बीते, मानो कोई वर्षों हवा की गांठें बांधने का विफल प्रयत्न करता रहे। तथापि, लोग आते, साधुओं के सघ आते और मुझे नाना प्रलोभन देते। वे मेरी तपस्या का प्रदर्शन करना चाहते थे। मुझे सुख-सुविधा, गुण-गरिमा और धन-कचन से ढंक देना चाहते थे और जब मैंने यह सब अस्वीकार किया, तो वे कहने लगे—‘सिर फिरा है गौतम।’

वे मुझे पागल कहते थे क्योंकि मैं अपने अनमोल क्षण सोने-चादी के बदले बेचने का तैयार न था। मैं पेट के उन गुलामों से घृणा करता था। और मुझे इस बात पर तरस आता था कि क्यों कर वे सोचते हैं—मेरे प्रयत्न और पलों का मोल किया जा सकता है। मेरे परिजन छूटे थे, नाते टूटे थे। साथ में साथी नहीं था। दिशाएं विपरीत थीं और पवन प्रतिकूल थे। पर, मन में मर मिटने का मान और सिद्धि पाने का सकल्प था—कौन जाने, शायद इसी कारण, मैं इन दिनों बहुत प्रसन्न रहता था।

28

मगध में चारिका करते हुए मैं उरुवेला नामक सेनानी निगम में पहुंचा। वहां मैंने एक प्रासादिक प्रान्तर के वन-खंड में बहती एकाकिनी सरिता को देखा।

उस निर्जन में किससे पूछू इसका नाम? लेकिन अपनी कल-कल में नेरजरा नाम वह स्वयं ही बता रही थी। पास ही कुछ और ग्राम भी थे। नेरजरा के स्वर से ऐसी ध्वनि आती थी मानो तुषित-लोक की किसी देवकन्या का स्नेह इस लोक में सरित् बन बह निकला है और कल-कल में अपना पूर्व-प्रेम-गीत गा रहा है। एक स्वर, एक तान, एक लय—मुझे नेरजरा की यह एकनिष्ठता भा गई। मन में किसी ने कहा—‘यदि ऐसी निष्ठा ले तुम अटल बैठ जाओ, तो बुद्धत्व स्वयं चला आएगा। तुम्हें कहीं जाना न पड़ेगा।’ और परमाथ-उद्योगी कुलपुत्र की साधना में सहयोगिनी होंगी यह भूमि। इस अनुमान पर मैं वही विचरण करने लगा।

तप मरा चल रहा था। एक ऊँची, काफ़ा चौड़ी और सघन श्याम शिला पर मैं बैठा था। यह समाधि कई दिनों तक चलती रही। एक दिन की बात है। दोपहर का प्रचण्ड प्रभाकर पृथ्वी के अग-अग को उवान रहा था। चारों ओर सूना-मन्नाटा था। ऐसे समय, जाने कैसे मैं सज्ञा-शून्य हो गया और जाने कब तक वैसा ही पड़ा रहा। तभी उधर से एक मेषपाल गुजरा। उसने मेरी यह दशा देखकर सोचा, अभी जब इधर से निकला था तो यह सन्यासी ध्यानावस्था में बैठा था, और अब इस क्या हो गया है ? क्या तो, क्षुधा से जर्जर इसकी देह तीव्र ताप को सहन न कर सकी है, क्या यह तृपाकुल होकर बेसुध हो गया है। अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ ? मैं तो शूद्र हूँ और यह उच्चवर्ण है। इसे कैसे छू सकता हूँ ?

उसने अपनी प्रेमिका को, जो कहीं दूर, गाए चरा रही थी, पुकारा—‘अरे ओ ..शएला...आ...आ...अड...शैला !’

किंतु कहीं से कोई उत्तर न मिला और दूर चरागाहों और पास की पहाड़ियों से गूँजकर उसकी पुकार खाली लौट आई। मेषपाल दुःखी हुआ। उसकी आँखों में आसू आ गए। मेरे जीवन में मेरे लिए बहाए गए वे सबसे कीमती आँसू थे।

मेषपाल नेरंजरा-तीर से एक ट्राण में जल भर लाया और उसने मेरी आँखों पर उसका अभिसिंचन किया। सिर पर भी जल के कुछ छींटे दिए। धीरे-धीरे मेरी सज्ञा और उसकी मुस्कान लौट आई। परन्तु दो पल पर ही वह मन्द पड़ गई। भयभीत-सा वह बोला—‘मुझे शाप न देना स्वामी ! मैंने अपराध किया है कि भगवान् का स्पर्श कर लिया है। मैं परम शूद्र हूँ।’

सस्मित मैं बोला—‘दूसरों के प्राण बचाने वाला शूद्र नहीं होता। और भगवान् इसीलिए है कि तुम उसका स्पर्श करो। वह भगवान् नहीं है, जिसका स्पर्श करते भक्त का मन भयग्रस्त हो जाए।’

‘मैं देव का दर्शन कर, धन्य हुआ महाराज !’

‘भाई, तुम मुझे थोड़ा दूध दे सकोगे ? उससे मेरी भूख का शमन होगा।’

‘देव, मेरे हाथ का पय आप पान करेंगे ?’

‘क्यों नहीं, तुम ऊँच-नीच के भेद से न डरो। यह मनुष्य-कृत है, दूध देवकृत है। और जो देवकृत है वह कभी मानवीय पंक से कलंकित नहीं हो सकता।.. बड़ा मधुर है तुम्हारा दूध। कुछ और दो भाई !’

और वह निर्द्वन्द्व, भोला ग्रामीण मुझे बड़े प्रेम से पय-पान कराता रहा। उसकी मुद्रा से मुझे ऐसा सकेत मिला, मानो वह कुछ कहना चाहता है, पर अपने में ही उलझ रहा है। मैंने पूछा—‘कुछ कहना चाहते हो ?’

‘महाराज ’ वह लजा गया। अभी तरुण ही था यह मेषपाल। मूछ की रेखा बन रही थी। घने घुघराले बाल थे उसके। दृष्टि स्वच्छ थी और भावना निर्मल थी।

मैंने उसे आश्वस्त किया—‘कहो !’

‘महाराज ! मेरा हाथ तो देखिए। यह शैला है न, मेरे पड़ोस में रहती है। यही

नेरजरा कं पार गाँएं चराती है। बड़ी लडाकू है महाराज ! पर मुझे मानती है। उस दिन कहती थी..। जरा हाथ देखिए न ! आप तो तीन लोक की लीला जानते है।’

मै बड़े सकोच मे पड गया। अपने इस उपकारी को कैसे समझाऊँ। दुनिया मे किमी का तनिक भी उपकार लेना, कितना बोंझिल कर्तव्य बन जाता है। ज्यो-त्यो बुझाकर मैने उसे बिदा किया। दूसरे दिन वह फिर आया—‘महाराज, कल आपने भविष्य नहीं देखा, किन्तु शेला स्वय ही हमारी चौपाल चली आई। मा कहती थी, अगले बेसाख हमारा ब्याह हो जाएगा। मै समझ गया था, यह आपकी कृपा का फल है। आपने हाथ तो न देखा, पर पीत जरूर कर दिया।’

और वह जैसे दक्षिणा देता हो, बोला,—‘दूध पीएंगे महाराज।’

‘नहीं, आज मेरा व्रत है।’

वह टण्डवन् बिदा हो गया। फिर बड़ी देर तक दो दिशाओ में दो बसरिया बजती रहीं। बासुरी दो थीं, पर सुर उनका एक था। कण्ठ दो थे, किंतु राग एक था, शरीर दो थे, पर प्राण एक था।

प्रेम की इस तन्मयता पर मेरा मन मोहित हो गया। फिर मै समाधि की तैयारी मे लग गया।

मैने अभी लोचन-पट बद कर, दृष्टजगत् से दूर प्रस्थान किया ही था कि उस मार्ग से होकर कुछ राहगीर निकले। गायक और वादक थे यह। किसी सामन्त के घर पुत्र जन्मा था, वहां समारोह में सम्मिलित होने जा रहे थे। आगे-आगे अपने घुघरू छमछमाती एक नर्तकी और पीछे-पीछे उसकी दो सहेलियां थीं। उनमें से एक बजाने वाली और दूसरी गाने वाली थी। परस्पर परिहास करती वे जा रही थी कि गायिका ने वाद्य-तन्त्री बजाने वाली सहेली से कहा—‘क्यो री झुन्नो, तूने बीना के तारों को इतना तो नहीं कस दिया है कि वे टूट जाए ? टूटे तारों से झंकार नहीं निकलेगी, यह याद रखियो।’

इस पर आगे जो नर्तकी चल रही थी, वह बोली—‘और सुन री कट्टो, तारो को इतना ढीला भी न छोड़ दीजियो कि तान ही न निकले।’

इस पर गायिका ने कहा—‘हा री बन्नो, मै क्या कोई अयानी हू, जो ऐसा करूंगी, मैने अपनी बीना के तारों को न तो अधिक तान लिया है और न अधिक ढीला ही रख दिया है, जब तार ही न रहेगा, तो तान निकलेगा कहां से ?’

इन पथियो ने मेरी आखें खोल दीं। ये नर्तक, गायिकाएं और इनकी सहेलिया मेरी पथदर्शिकाएं बन गईं। ओह मेरे भ्रम का, मेरी भटकन का अन्त नहीं। मैने अपनी जीवन-बीणा के तारों को इतना कस दिया है कि वे अब टूटने ही वाले हैं। पहले यह तार ढीले थे, जब मै राजप्रासाद मे था। उस रागातिरेक ने मुझे दुःख दिया। अब विरागातिरेक मुझे व्यथित कर रहा है। सचेतना जागी—मध्यम मार्ग ही आत्म-कल्याण का सही मार्ग है। गति ऐसी न हो कि दुर्गति बन जाए, विगति ऐसी न हो कि अवगति

वन जाए । आज से मध्यम-मार्ग मेरा मार्ग होगा, मैंने निश्चय किया ।

वशाख का महीना था । अस्थि-अन्तर्धान के लिए मैं कठिन तपस्या कर रहा था । तब एकान्त में ध्यान करते समय एक मुहूर्त मेरे चित्त में यह प्रश्न उठा—संसार दुःख का अनन्त-सागर है । इसके प्राणी जन्म लेते हैं, वृद्ध होते हैं, मरते हैं । निखिल विश्व का सर्जन-विर्सजन है । दुःख के कारण संसार जरा और मृत्यु से छूटने का उपाय नहीं जानता । इस महारोग में निःसरण का पथ उसका परिचित नहीं । दुःख के रहते उस पथ को कैसे पाया जाएगा ?

तब मैंने सोचा—किस कारण से जरा मरण है ? किसके होने से जरा-मरण होते हैं ? इनका प्रत्यय क्या है ? बहुत देर विचार-विमर्श के बाद मुझे अपनी प्रज्ञा से बांध हुआ—जन्म के होने से जरा और मरण होते हैं । जन्म के कारण जरा और मृत्यु हैं ।

तब दूसरा प्रश्न उठा—जन्म का प्रत्यय क्या है ? क्या होने से जन्म होता है ? तब विचार का सूत्र बढ़ता गया—भव के प्रत्यय से जन्म होता है । जन्म का कारण आवागमन है । लेकिन प्रश्न का निदान नहीं मिला—क्या होने से भव होता है ? किस प्रत्यय से भव है ? उत्तर मिला, उपादान के होने से भव होता है । भव का प्रत्यय उपादान है । फिर मन ने पूछा—और इस उपादान का मूल क्या है ? इसके अस्तित्व का आधार क्या है, कहा है ?

मन का प्रवाह स्वाभाविक गति से बह रहा था । अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही उसने दिया—ओ पगल, इतना भी नहीं जानता, उपादान का कारण तृष्णा है । तृष्णा के मूल से अशान्ति की शाखाएं फूटती हैं ।

और यह तृष्णा कहा से आई ? किसने इसे जन्म दिया ?

तृष्णा का आधार वेदना है । अनुभव के प्रत्यय से वेदना होती है । इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने के पश्चात् चित्त में जो विकार उत्पन्न होते हैं, वही वेदना है । बड़ी भयंकर होती है यह वेदना । आदमी की मजबूरी है यह । मजबूर आदमी क्या नहीं करता ?

तब नया प्रश्न आया—जब स्पर्श से वेदना, और वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है, तो स्पर्श का प्रत्यय क्या है ? क्या होने से स्पर्श होता है ?

षडायतन यानी छः आयतन के होने से स्पर्श को आधार मिलता है । ये स्पर्श के कारण हैं । और ये छः आयतन कौन-कौन-से हैं, जरा उन्हें भी देखें ।

आंख, कान, नाक, जीभ, काय और मन—ये हैं स्पर्श और वेदना, तृष्णा और उपादान के पूर्वज । मन को चैन मिला । समस्या और समाधान का सूत्र बढ़ता जा रहा था । उत्तर यदि मिलते रहे, तो चिन्ता नहीं प्रश्न चाहें कितने ही आएंगे । सो विचार उठा—इस षडायतन के जनक कौन हैं ? जिस प्रकार यह अपने पुत्रों का जनक है, उस प्रकार इसका भी कोई जनक होना चाहिए ?

तुरन्त निदान आया—नाम-रूप, नाम-रूप । ठीक । लगता है महामूल दूर नहीं है । और जानता हूँ, इस नाम-रूप का जनक है विज्ञान । विज्ञान सबका प्रत्यय है ।

अब मन को अपने ही प्रश्नों ने मोह लिया । उसे अपने ही उत्तर प्रिय लगे । किंतु आगे का मार्ग ओझल था ।

संसार की अनित्यता मेरे अन्तर में गहरी पैठ गई थी । संसार का दूसरा नाम दुःख है, मजबूरी है, मायूसी है, असमता है और विषमता है । मैं इस दुःख को दूर करूँगा । 'मैं' का अर्थ सिद्धार्थ नहीं, मनुष्य, आज का मनुष्य, आगामी कल का मनुष्य । मेरा स्वप्न पूरा होगा, आज होगा । कल होगा । मेरे स्वप्नों को मूर्त आकार-प्रकार मनुष्य देगा । दुःख की उत्पत्ति मनुष्य के हाथों हुई, तो उसकी मृत्यु भी मनुष्य के हाथों होगी । मनुष्य ने दुःख की रचना की, तो वह सुख की सृष्टि भी करेगा । सकाल समीप है, असमता पर समता विजयिनी होगी । मनुष्य अमर होकर विहार करेगा । क्योंकि वह अमृत-पुत्र है ।

और इन चक्राकार बहती तरंग-मालाओं के बीच किसी की याद का सरोज खिल उठता । घनवती-सांझ के धूमिल अधकार के बीच दीपक की लौ-सी किसी की याद जल उठती—यशोधरा ..य शो ध रा । तुम हो ।

और दो पल बाद वह आलोक-छवि अदृश्य हो जाती । मन अजाने, मायावी शून्य से भर जाता और उस अकाम शून्य की गहराइयों से एक अलवेती रागिनी गूँज उठती । बड़ा लुभावना था उसका स्वर, यशोधरा तुम्हें बुला रही है । यशोधरा विकल है । लौट चलो । लौट चलो ।

घने-घने अधकार । श्याम-श्याम राते । कोरे-कोरे आकाश । सूनी-सूनी वसुधा और यह एकाकी अन्तर । मर्म की मादक पुकार—सिद्धार्थ, अब लौट चलो ! सिद्धार्थ, अब लौट आओ ! मैं तुम्हारा वियोग अब नहीं सह सकती सिद्धार्थ । मेरे प्राण, लौटो-लौटो, तुम्हें राहुल की कसम ..सुनते हो निष्ठुर !...

नहीं । नहीं । नहीं ।

मन ! अनोतत्तदह का पानी गंगा में बहता है । गंगा उसे बहाकर समुद्र की शरण ले जाती है । समुद्र उसे पाताल में बहा देता है । मन, पाताल से वह पानी फिर कभी लौटकर नहीं आता, उलटकर नहीं बहता, उसी प्रकार मैं नहीं लौटूँगा । तू पारिजात नहीं लौटेगा । सिद्धार्थ नहीं लौटेगा ।

झाड़ियों में बरसती मतवाली राते । उरुवेला के वनान्तरों को पार कर आने वाला किसी वियोगिनी का गीत मेरे कानों में गूँज-गूँज उठता । इस निष्ठुरता की सीमा है ? इन बेकल झड़ियों-सी विकल घडियों में महल के वातायन में यशोधरा जाग रही है । प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष की ओर न दौड़ो हठी ! इस प्रण को छोड़ो, इस तप को छोड़ो । यश स्वयं मुक्ति है । अपनी मुक्ति तो तुम पारिजात में छोड़ आए, अब किस मुक्ति की खोज में हो ? मुक्ति एक है, दो नहीं । और उसका नाम

हे, यशोधरा .

लो, अपनी मुक्ति को पहचानो। कितनी दुर्बल पड़ गई है। इसकी इस दुर्बलता का श्रेय तुम्हें है। वक्ष के भार से आगे झुकी जा रही है। गहुल को दूध पिनाती इसकी यह झांकी देखो। इन प्रबुद्ध-पयोधरो का अमृतपान करके ही मनुष्य ने मृत्यु का ललकारा है। इस अमृत का एक ही बिन्दु पाकर कोई बुद्ध बन सकता है। तुम इसी को छोड़कर अनास्था के इस विपिन में चले आए, सन्यासिन् ! अब भी समय है, चलो, लौट चलो, ! वह मदिराक्षी पत्नी, वह पिता, वह पुत्र। तुमने देखा है, सामंतों और श्रेष्ठियों को पुत्र्यंष्टि-यज्ञ करते। पर अपने दुलारे की ममता तुम्हें न व्यापी निर्मोहि। तो लौट चलो। यशोधरा अगवानी के लिए द्वार पर आकुल खड़ी है। महाराज तुम्हारा राजतिलक करना चाहते हैं। वे तुम्हारी बाट देख रहे हैं। क्यों भूल रहे हैं कि मोह भी कभी-कभी जीवनाधार होता है। और तुम हो कि विमोह को जीवन मान बैठे हो। चलो, पिता बुलाता है, उसकी आखें देखो ! मा बुलाती है, उसके आसू देखो। पत्नी पुकारती है, उसका क्रन्दन देखो। पुत्र रोता है, उसका रुदन देखो, और कुछ न देखो, तो अपनी ओर ही देखो। लौट चलो, कपिलवस्तु का कण-कण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम्हारे आगमन पर सोती हुई शहनाइया जाग उठेगी और बीती हुई वधाइयां बज उठेगी। मा की, पिता की, पत्नी की पुकार सुनो !...हां, ऐसे खड़े हो जाओ। अच्छा, हा हां...इधर है राह, तुम उठो तो सही।

मैं गरजकर ललकार उठा—मारदेव, दूर हो जा। मुझे मोह की मकड़ी के जालों में बांधना चाहता है ? मैं जानता हूं, माता बन्धन है। पिता बन्धन है। स्त्री बन्धन है। बन्धु-बान्धव बन्धन है। मित्र बन्धन है। धन बन्धन है। लाभ-सत्कार बन्धन है। पाच काम-गुण बन्धन है। मैंने इन सभी बन्धनों को काट दिया है। मार, मे कटे पाश में फिर नहीं बंध सकता। मैं अपने ज्ञान को पका रहा हूं। तू बाधा न दे। मैंने दुःख-चर्या का अभ्यास किया है, मुझे सुख से न ललचा। लालच मेरा अवरोध नहीं। माया मेरा बन्धन नहीं।

तू जा। मैं नहीं लौटूंगा। देव-पुत्री गंगा अपनी मर्यादा छोड़कर, भले उल्टी बहने लगे, किंतु सिद्धार्थ नहीं लौट सकता। गो-पद-जल के समान धरित्री के समस्त, अथाह सागर भले ही सूख जाए, परन्तु मैं नहीं लौटूंगा। सुमेरु पर्वत के सहस्रो टुकड़े हो जाना सम्भव है किंतु सिद्धार्थ का घर लौटना सम्भव नहीं। ऊँचे फेंके गए ढेले जिस भाँति नीचे गिरते हैं, उस भाँति चाहे ये चौद सूरज और सितारे गिर जाएं, परन्तु बिना सम्यक् सम्बोधित्व पाए शुद्धोधन का बेटा घर नहीं लौट सकता। मुझे अपनी मा के दूध की सौगन्ध यदि मैं बुद्ध न बनूं। मुझे यशोधरा के प्यार की शपथ, जो मैं परम-ज्योति की प्राप्ति का प्रत्यन अधूरा छोड़ूं। कामदेव ! मेरा रोम-रोम मेरी यशोधरा है। यशोधरा मेरे अन्तर में विराजमान है। उस मुक्ति-लक्ष्मी की छवि मेरा पथ आलोकित कर रही है। वह मुझे कह रही है—सिद्धार्थ, तुम्हारा बुद्धत्व निकट है। अमृत का रहस्य खुलने ही वाला है। मरण का मरण निकट है। सिद्धार्थ, अचल रहो, अचपल रहो।

सुजाता को मेन तब पहचाना था, जब वह खीर लेकर आई थी। जब मे खीर स्वीकार कर चुका, तब मैंने पूछा—

‘देवि, तुम कौन हो ?’

‘मैं उरुवेला के नगर-श्रेष्ठि की पुत्र-वधू हूँ। क्षमा करे, पानी पीकर जाति पूछते हो ?’ वह खिलखिलाई।

उसकी यह खिलखिलाहट और स्मिति मुझे पहचानी-सी लगी।

‘तुम्हें कहीं देखा है।’

‘संभव है। मैं आपसे अपरिचित हूँ।’

उसके साथ की दासी ने कहा—‘देवी का नाम सुजाता है।’

‘ओह !’ मैं उसे कैसे पहचान पाता। अब तो वह चंचल तरुणी से गभीर गृह-वधू बन गई थी। अब वह पर्वतीय सरित् न रहकर मैदान में बहने वाली अपने आप में आश्वस्त नदी बन गई थी। उसके चेहरे की रेखाओं से यह भी परिलक्षित होता था कि कोख भरी है। दासी फिर कहने लगी—

‘भगवन्, आज का दिन धन्य है। देवी ने अपनी कौमार्यवस्था में, बरगद के नीचे यह व्रत लिया था कि—‘हे बरगद देव, यदि मुझे अपने तुल्य वर मिला और मेरी प्रथम सतीति पुत्र हुआ, तो मैं प्रति वर्ष तुम्हें एक लाख मुद्राएं अर्पण करूंगी।’ आज वह दिन आया। देवी ने प्रथमतः लत्थि-मधुवन में एक सहस्र गौओं के पालन का प्रबन्ध किया और उनका दूध पाच सौ गौओं को पिलाया। दूध पीकर ये पाच सौ गौएं अति स्निग्ध और बलवान बनीं और उनका दूध अढ़ाई सौ गौओं को पिलाया गया। इस प्रकार सोलह गौओं का पय आठ को पान कराया गया। इससे प्रत्येक बार पय पुष्ट और घना होता गया। उसकी मधुरता बढ़ती गई और उसके तत्त्व अधिकाधिक पोषक होते गए।

‘और आज जब व्रत का दिवस आया। देवी प्रातः काल शुभ-वेला में उठी। इन्होंने गौ-दोहन की आज्ञा दी। उस समय बछड़े अपने स्थान पर ऊब रहे थे। जब तक सेवक उन्हें लाएं, तब तक गौ के थनों से दूध की धाराएं बहने लगीं। हमने दौड़कर देवी को सूचना दी। आकर, देवी ने स्वयं अपनी आंखों से यह दिव्य दृश्य देखा। और स्वयं अपने सुकुमार करों से पात्रों में उस पय को झेल लिया। अपने ही हाथों देवी ने खीर बनाई।

‘जिस समय खीर पक रही थी, पात्र में बड़े-बड़े बुद्-बुद् उठने लगे। उठ-उठकर वे दाहिनी ओर घूम जाते और आपस में विलीन हो जाते, किंतु सबको आश्चर्य रहा कि एक भी बूंद पात्र के बाहर नहीं छलका, और न धुए की एक लघु रेखा भी अग्नि से ऊपर उठी।

तब देवी ने मुझे आदेशा—‘पुन्ना, जा रि। आज मेरे भाग्यदेव तुष्ट प्रतीत होते हैं, जल्दी जा, और उस पवित्र बरगद-वृक्ष के नीचे सभी उपकरण तैयार रख, तब तक मैं सास-मां की आज्ञा लिये आती हूँ।’ मैं तत्क्षण चली और यहा आई। उस

माधवी लता के पास पहुँची थी कि देव पर मेरा दृष्टि पड़ी- भगवन् शान्त बैठे हैं नयन मूँद, ध्यान-मुद्रा में। और शीश पर, महानाग पीछे से फन फैलाए, छाया कर रहा है। मैंने सोचा, वरगढ़वासी वन देवता स्वयं आज मेरी स्वामिनी का नैवेद्य लने आए हैं। और शायद उसी की प्रतीक्षा में बैठे हैं।

‘ठीक कहती है पुन्ना ! मैं भिक्षा के लिए जाने ही वाला था।’

आगे वह बोली—‘मैं जैसी आई थी वैसी उल्टे पैरो दौड़ी-दौड़ी, लौट पड़ी। मेन देवी को सारा प्रसंग सुनाया। बोलीं ये—‘धन्य भाग्य है। आज भोर ही तूने यह सुसंवाद दिया है, आज मे तू मेरे कक्ष की प्रधान परिचारिका बनी।’ इतना कहकर देवी ने मुझे वस्त्र और आभूषणों का पुरस्कार दिया और तन-मन पूजा में लगाए, एक लक्ष मुद्रा के पात्र में खीर परसे, यहां आई।’

अब सुजाता की बारी थी—‘देवता ! उपकृत हूँ मैं। मेरा यह नैवेद्य अगीकार कीजिए। और इस शिशु को आशीष दीजिए।’ उसने इतना कहकर अपने बालक को मेरे पैरों में लिटा दिया। मैंने आखे बन्द कर ली। मन ने कहा—ठीक राहुल-जैसा ही तो है।

‘भगवन् !’

‘देवि, मैं वनदेव नहीं हूँ। न कोई सिद्ध-संन्यासी ही हूँ। मैं एक साधारणजन हूँ।’

‘भगवन् ! अब और परीक्षा न लें। वर्षों से जिस व्रत-कामना को सहेजती आ रही हूँ, आज वह समूर्त दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर मैं कैसे मान लूँ ? क्या मैं साधारणजन और असाधारण संत का भेद भी नहीं जानती ? अब अधिक विलम्ब न करे। मेरा स्वल्प पुजापा, ये पत्र-पुष्प स्वीकार करें।’

‘देवि ! तुम वरव्रती हो। मैं अवश्य यह पायस ग्रहण करूँगा। शायद यह मेरी ज्ञान-क्षुधा की भी तृप्ति कर सके।’

उसका मुख उमंग से खिल उठा—‘भगवन्, अवश्य आपको ज्ञान-ज्योति प्राप्त होगी। जिस प्रकार मेरी मनोकामनाएँ पूर्ण हुई, उस प्रकार आपकी साधना भी सफल होगी।’

सुजाता मुझे देखती रही। मन ने कहा। कहीं यह पहचान न ले, यों अपलक जो देख रही है। परन्तु वह मुझे कैसे पहचान पाती। मैं कितना बदल गया था। और क्यों कर उसे विश्वास होता कि उसकी सहेली का सुख-सगी काम-दूतिकाओं के हास्य से गुजित रास-गृहों को छोड़कर, यों न्यग्रोध के नीचे हवा खा रहा है।

‘अब आज्ञा हो, मेरे स्वामी प्रतीक्षा करते होंगे।’

मैं समाधि के सोपान पर ही स्थित रहा। अपना दाहिना हाथ उठाकर, अभय-मुद्रा-द्वारा मैंने विदा का संकेत दिया।

वह अपनी दासियों के संग लौट गई।

खीर का वह स्वर्ण थाल लिय म नेराजरा के तीर पर आया, थाल को पत्ता स ढककर एक ओर रख दिया। तदनन्तर मैं स्नान के लिए जल में उतरा। स्नान कर मैंने खीर खाई।

उस वेंला मेरा मुख पूर्व-दिशा की ओर था। सिर पर अजपाल की शीतल छाया थी। मैंने पायस के उन्चास छोट-छोटे ग्रास बनाए थे।

तृप्ति हुई।

क्षुधा निवृत्ति हुई कि फिर मुझे उन्चास दिनो तक भूख न व्यापी।

पायस खाकर मैंने सुजाता के स्वर्णथाल को यह कहते हुए नदी में प्रवाहित कर दिया—

‘यदि आज मेरा बुद्ध होना निश्चित हो तो, उरुवेला की धन्यव्रता कुलवधू का यह पवित्र-पात्र धारा के ऊपर बहता जाएगा, यदि नहीं तो, भले यह लौटकर, नीचा बहता आए।’

और मैंने सस्मित वदन देखा—यशोधरा की सहेली का वह सद्पात्र धारा में बढता गया, चढता गया। और जब नदी के मध्य में पहुँच गया तो क्षिप्र नौका के समान वेग से ऊपर बहने लगा।

वह दुपहरिया मैंने नेरंजरा के कगार पर खड़े फुल्ल-कुसुमित शाल-द्रुमों की छाया में बिताई। और जब रात की तंत्री सस्वर हो उठी—‘समय आ गया है, समय आ गया है’ तो मैं वनराज की तरह उठा और वहा से आठ उसभ दूर अश्वत्थ-वृक्ष की ओर आया।

वन-वेलियां महक उठी। विहग-बालाए चहक उठी। कलियों की हसी उनका यौवन बन गई। पंखियों का गीत उनका जीवन बन गया। वातावरण युग-युग की अलमस्त उमगो से नर्तित हो उठा।

उसी दिन—

सामने से आते सोत्थिय घसियारे से मेरी भेंट हुई। उसके सिर पर घास का गड्ढा था। बड़ा भोला था वह। उसके मन में भाव उठा, गौतम को देने के लिए आज मुझे कुछ न मिला। पश्चात्ताप के पीर से अधीर हो रहा था। फिर जानें क्यों-कर उसने आठ मुट्ठी घास मेरी ओर बढ़ाया; किंतु, ज्यों ही अपनी मुट्ठी उसने खोली, क्या देखता है कि वह तृणदल सुरभित सुमन बन गया है।

मैं मुस्करा दिया—‘जा रे सोत्थिय, तूने मुझे जितनी मुट्ठी फूल दिए, उतनी ही कोटि मुद्राएँ तुझे मिलेंगी।’

वह अपने पोपले मुँह में हसी न रोक सका—‘श्रमण गौतम, आज क्या बात है, बड़े प्रसन्न दिखते हो ? फूल कहीं मुद्रा बन सकते हैं ?’

‘क्यों नहीं ? जब तृण फूल बन सकते हैं, तो फूल मुद्रा क्यों नहीं बन सकते ?’

‘मैं तो समझता था, मैं ही पागल हूँ। परन्तु श्रमण गौतम भी...’ वह यो कुछ बडबड़ाता हुआ, हवा में अपना हंसिया घुमाता हुआ, अपने गेह गया।

सोत्थिय के जाने पर, मैं उत्तराभिमुख हुआ, वे तृण या वे फूल, अब भी मेरी अजलि में थे। सहसा पीछे का भू-भाग पानाल में जाने लगा। मैंने कहा, सिद्धार्थ, यह तो भूमि नहीं है ऐसी कि बुद्धत्व यहां मिले। फिर अश्वत्थ की ओर अपनी दाहिनी वाजू रखे, मैं पश्चिम में आया और पूर्वाभिमुख खड़ा रहा। सहसा, पश्चिमी गोलाद्ध धसने लगा। पूर्व भूगोल ऊंचा और ऊंचा उठने लगा। अब जहा-जहा में पैर धरता था—धरती उठती और गिरती थी, जैसे गाड़ी का पहिया अपनी धुरी पर घरा हो, और कोई उसके किनारे-किनारे चल रहा हो। यह भी उपयुक्त स्थल नहीं है। मैंने इस बार दक्षिण दिशा में प्रयत्न किया, उसका भी यही हाल हुआ। अश्वत्थ के पूर्वीय पक्ष की ओर आया। धरती अब न धसती थी, न कापती थी।

मैंने जाना, यही अचला का वह अचल ठौर है, जहां सभी बुद्धों का आसन लगा है। मार-विकार की हार यही होती है।

काम यही भस्म होता है। माया जाल यही टूटता है। मुक्ति का द्वार यहीं खुलता है।

मन में मानो एक झंकार उठी।

अनहद एक पुकार उठी। मैं अश्वत्थ पादप की ओर पीठ करके पूर्वाभिमुख बैठा। मैंने निश्चय किया कि कोई शक्ति चाहे इस वसुन्धरा को बेर की तरह निगल जाए, चाहे इस समग्र आकाश को चटाई की तरह लपेट ले, परन्तु मार-पुत्रियां अपनी वासना के मदिरावरण में मुझे नहीं लपेट सकतीं। और आज तो मैं अपनी ही शपथ लेता हूँ—इस अविचल आसन पर अखंड संकल्प करता हूँ कि जब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं होती, मेरा यह आसन वज्रासन होगा। वज्र का वार चूक सकता है, मेरा निश्चय अचूक, मेरा यह आसन अडोल, अकम्प रहेगा। इसके बाद मैं अपने समस्त ज्ञान, तारुण्य और बल को बुलाकर बोला—

‘चाहे मेरी त्वचा, नसे, अस्थियां ही शेष क्यों न रहे, अथवा वे भी न रहे। चाहे रक्त, मांस और शरीर सूख जाए, रहे न रहे किंतु सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किए बिना, इस आसन को न छोड़ूंगा।’

मैंने फिर गर्जना की :

‘आओ वज्र लाख-लाख बार एक साथ वार करो, तुम सिद्धार्थ को अविचलित, अपराजेय पाओगे।’

उस दिन जरा-मरण से चलकर, जो विचार-पथी विज्ञान तक आकर रुक गया था, आज फिर से नवोत्साहपूर्वक आगे बढ़ा। मन के चारों ओर की स्थितियां शान्त होने पर, उसकी एकाग्रता अपने विषय के प्रति चिन्मय हुई—विज्ञान से लौटना पड़ता है, नाम-रूप अन्तिम छोर है।

विज्ञान से लेकर दुखों की उत्पत्ति तक मैं निरंतर सोचता रहा। अब मुझमें अश्रुतपूर्व, अपूर्व धर्म विषयक दृष्टि का उदय हुआ, ज्ञान का उदय हुआ, प्रज्ञा का

उदय हुआ, विद्या का उदय हुआ। विद्या उत्पन्न हुई। नवीन आलोक उत्पन्न हुआ। उस आलोक से मैंने पूछा—किसके नहीं होने से जन्म-मरण नहीं होता ? किसके निरोध से जरा-मरण विनष्ट होते हैं ?

बोध हुआ—जन्म के नहीं होने से जरा-मरण नहीं होता। जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध हो जाता है। उसी प्रकार आवागमन के निरोध से जन्म नहीं होता। उपादान भोग-शक्ति के नहीं होने से भव-आवागमन नहीं होता। इसी प्रकार किरणें वदती गई। और मैंने देखा कि नाम-रूप के नहीं होने से विज्ञान भी नहीं होता। नाम-रूप का निरोध विज्ञान का निरोध है।

और चार आर्य सत्य हैं—

दुःख है,

दुःख का कारण है,

दुःख का नाश है,

नाश करने का निदान है।

मन ने साक्षी दी—मुक्ति का मार्ग तूने पा लिया है। सारे दुखों के निरोध नाश का कारण तूने जान लिया है। 'निरोध-निरोध' करके पहले किसी मनुष्य द्वारा न सुने गए, न जाने गए, अभूतपूर्व धर्म का बोध हुआ है, उसका ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक उत्पन्न हुआ है। इस आलोक में तूने लोक को देखा है, भौतिक और अभौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश का रहस्य तुझे मिला है। पांच उपादान-स्कन्धों के उदय और व्यय को देखकर विहार करने से तेरा अन्तःकरण चित्तमलों, आसवों से सर्वथा मुक्त हो गया है।

अब तू मुक्त है। यह तेरा अन्तिम जन्म है, अब दूसरा जन्म नहीं होगा।

अमृत मिल गया है।

रात चली गई थी। दिन आ गया था। स्वर्ण-विहान से दिशाएँ रस और आलोक से भर गई थी। पूरब की उपा आज अधिक छविमान थी। जिस प्रकार प्रकाश से पुष्करणियों में पद्म प्रफुल्लित हो रहे थे, उस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से मेरे मानस का प्रज्ञा-पद्म प्रमुदित था।

मैंने सुधा का निर्झर पाया। ज्योति का उद्गम पाया। और प्रथम बार विश्वास आया—मृत्यु अब नहीं रहेगी। अन्धकार अब नहीं रहेगा। मैंने कहा—

‘अमृत का द्वार खुल गया है।’

बौद्ध अनुष्ठानों का इतिहास

1

वर्ष (अथवा वस्स अर्थात् ग्रीष्म का एकांतवास) न करने के विषय में

जो भिक्षु वर्ष¹ नहीं करते वे उससे होनेवाले दस² लाभों से वंचित रहते हैं, परंतु इस कारण से उनको संप्रदाय में उनके वास्तविक पद से नीचे के पद पर गिराना और सहसा अपनी क्रिया में परिवर्तन करने और अपने से छोटे भिक्षु की, जो अभी कल ही उसे प्रणाम किया करता था, वंदना करने पर विवश करना उचित नहीं है। परंतु पद के गिरा देने की यह रीति (चीन में) प्रचलित थी, यद्यपि इसकी पुष्टि में कोई आप्तवचन या प्रमाण न था।

भिक्षु ने चाहे वर्ष न भी मनाया हो, उसे पद में नहीं गिराना चाहिए। यदि हम बुद्ध की शिक्षा का पाठ और मनन करे तो (इस रीति के लिए) उसमें कोई प्रमाण नहीं। तब पूर्व काल में किसने (चीनियों में) इस रीति का प्रचार किया ?

2

पूज्यों के प्रति व्यवहार

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब कोई भिक्षु पवित्र प्रतिमा के सामने हो, या पूज्य आचार्यों के पास जाय तो, रोग की अवस्था को छोड़कर, उसे नंगे पाव रहना चाहिए। उसका दाया कंधा सदा नंगा और बाया उसके कंधुक से ढका हुआ होना चाहिए।

1 वर्ष वास्तव में वर्षा-ऋतु के चार मास—आषाढ सुदी द्वादशी से कार्तिक द्वादशी तक—है। यह चातुर्मास्य बौद्ध भिक्षुओं के लिए एकांतवास का समय है। इस काल में उन्हें यात्रा करने का निषेध है। उनके लिए मठ से बाहर किसी दूसरी जगह रहने की आज्ञा है।

2 दस लाभ वस्त्रों का अधिकार, प्रवास की स्वतन्त्रता, इत्यादि हैं। पाच सत्त्व महानवग्न और विनय-संग्रह में दिए हैं।

उसके सिर पर टोपी न हो। यदि बड़े की आज्ञा लेकर वह (खड़ाऊ के साथ) दूसरे स्थानों में घूमे तो कोई दोष नहीं। शीत-प्रदेश में, भिक्षु को छोटी-छोटी खड़ाऊ अथवा उस देश के अनुरूप किसी प्रकार का जूता पहनने की आज्ञा है।

यह बात युक्तिपूर्वक स्वीकार करनी पड़ेगी कि शरीर की रक्षा के लिए हमें कड़ी सरदी के महीनों में अस्थायी रूप से अधिक कपड़े पहनने चाहिए परंतु वसंत और ग्रीष्म में मनुष्य को विनय के नियमों का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। खड़ाऊ पहनकर मनुष्य पवित्र स्तूप की प्रदक्षिणा न करे, इस बात की स्पष्ट शिक्षा आरम्भ से ही दी गई थी।

इस बात की घोषणा चिरकाल से की जा चुकी है कि भिक्षु गधकुटी के पास पादुका² पहनकर न जाय किंतु कई लोग ऐसे हैं जो सदा ही इन नियमों को भंग करते हैं; और वास्तव में हमारे बुद्ध के नियमों का यह भारी अपमान है।

3

भोजन के समय एक छोटी कुर्सी पर बैठना

भारत में भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पांव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियों पर अलग-अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इंच ऊंची और एक वर्गफुट चौड़ी होती है। उसका आसन वेत का बना होता है। परंतु सघ के छोटे भिक्षुओं के लिए लकड़ी की पटरिया काम में लाई जा सकती है। वे अपने पाव पृथ्वी पर रखते हैं, और थालिया उनके सामने रखी जाती हैं। गाय के गोबर से भूमि लिपी होती है और उस पर हरे पत्ते बिखरे हुए होते हैं। ये कुर्सिया (चौकियां) एक-एक हाथ के अंतर पर रखी जाती हैं, जिससे उन पर बैठनेवाले मनुष्यों का एक-दूसरे से स्पर्श न हो।

पालथी मारकर साथ-साथ बैठना, और घुटनों को बाहर की ओर फैलाकर भोजन करना, उचित रीति नहीं—कृपया इस पर ध्यान दीजिए। मैंने सुना है कि चीन में बुद्ध-धर्म के प्रचार के पश्चात् भिक्षुओं को भोजन के लिए चौकियों पर (पालथी मारकर नहीं) बैठने का अभ्यास कराया गया था। त्सीन-वंश (265 से 419 ई तक) के शासन-काल में इस भूल का प्रचार हुआ और वे भोजन के समय पालथी मारकर बैठने लगे। कोई 700 वर्ष (8 ई. पूर्व; 700—692 = 8) हुए जब भगवान् बुद्ध का पवित्र धर्म पूर्व (चीन) में पहुंचा, दस वशों की अवधि गुजर चुकी है। प्रत्येक वंश का एक-एक योग्य प्रतिनिधि था। भारतीय भिक्षु एक-दूसरे के पश्चात्

1 बुद्ध की बताई हुई नीति को 'विनय' कहते हैं। सारी नीतियों के संग्रह का नाम 'विनय-पिटकम्' है।

2 पाठ में 'पुर' लिखा है, जो कि काश्यप के मतानुसार, संस्कृत में एक प्रकार का जूता है। मान्य नहीं शुद्ध संस्कृत शब्द क्या है।

चीन में आए, और तत्कालीन चीनी भिक्षुओं ने, उनके सामने दल के दल इकट्ठे होकर, उनसे उपदेश ग्रहण किया। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने स्वयं भारत में जाकर यथार्थ अनुष्ठान को देखा। स्वदेश लौटने पर उन्होंने रीतियों में अशुद्धियाँ दिखाई, किंतु उनके निराकरण का उद्योग किसने किया ?

बचे हुए जूठे भोजन को गूँध छोड़ना, जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमों के विलकुल विरुद्ध है। जूठे भोजन को इकट्ठा करने से धालिया भ्रष्ट हो जाती है, और जो लोग परोसते हैं वे सुच (शुद्ध) बर्तनों को छूते हैं। इस प्रकार पवित्रता की रक्षा व्यर्थ हो जाने से, अभी तक कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। कृपया इन बातों पर सावधानी से ध्यान दीजिए और प्रत्येक रीति के सापेक्ष गुण को देखिए।

4

पवित्र और अपवित्र भोजन की पहचान

भारत के भिक्षुओं और भक्तजनों में यह रीति है कि यदि केवल एक भी ग्रास भोजन का ग्रहण कर लिया जाय तो वह अपवित्र (भूलार्थतः 'छुआ हुआ') हो जाता है, और जिन बर्तनों में भोजन रखा गया था उनका फिर उपयोग नहीं किया जाता। भोजन के समाप्त होते ही, जिन बर्तनों में भोजन परोसा गया था, उन्हें उठाकर एक कोने में ढेर लगा दिया जाता है।

यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों में पाई जाती है। यह केवल हमी में नहीं, प्रयुक्त ब्राह्मणों (देवों) में भी प्रचलित है। कई शास्त्रों में कहा गया है.—‘शोच होने के बाद दातुन न करना तथा हाथ न धोना, पवित्र तथा अपवित्र भोजन में भेद न करना नीचता समझी जाती है। जो लोग ‘विनय’ के नियमों पर चलते हैं, उन्हें इस भेद का कुछ ज्ञान हो सकता है, परंतु जो लोग आलसी और प्रमादी हैं, वे अनुचित मार्ग का अनुसरण करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। स्वागत अथवा किसी साधारण भोजन के अवसर पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करना चाहिए अथवा शुद्ध जल से कुल्ला किए बिना नए भोजन का मुँह न लगाना चाहिए। प्रत्येक परोसन के पश्चात्, जिसका एक ग्रास मनुष्य को अपवित्र कर देता है, उसे दुबारा कुल्ला करना चाहिए। यदि कुल्ला किए बिना ही वह दूसरे को छू देता है तो वह छुआ हुआ मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसे अवश्य कुल्ला करना चाहिए। कुत्ते का स्पर्श हो जाने पर उसे अपनी शुद्धि करनी होती है। जो लोग भोजन कर चुके हैं उन्हें कमरे के एक पार्श्व में इकट्ठा रहना चाहिए, उन्हें हाथ धोना और कुल्ला करना चाहिए, और भोजन के समय काम में लार्ड हुई वस्तुओं और मैले बर्तनों को भी धो डालना चाहिए।

यदि वे इन बातों की उपेक्षा करेंगे तो उनकी की हुई प्रार्थना और मन्त्र-यन्त्र सब निष्फल होंगे, और उनके चढ़ाए हुए नैवेद्य को देवता स्वीकार नहीं करेंगे। इसीलिए मैं कहता हूँ कि यदि आप 'तीन रत्नों' को अथवा देवताओं को चढ़ाने के लिए, अथवा स्वयं अपने साधारण आहार के लिए कोई भोज्य या पेय पदार्थ तैयार करें, तो प्रत्येक वस्तु शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। भोजन करने अथवा शोच होने के बाद जब तक मनुष्य शुद्ध न हो ले, दुबारा चौंके में बैठने के अयोग्य होता है। भिक्षुओं के साधारण खाने अथवा स्वागत के लिए भोजन तैयार करते समय एक मनुष्य कार्याध्यक्ष होना चाहिए। यदि किसी उत्सव के अवसर पर भोजन की तैयारी में विलम्ब हो, या अतिथियों को भय हो कि वे प्रतीक्षा में निर्दिष्ट भोजन-काल से पीछे रह जाएंगे, तो निमंत्रित मनुष्य—चाहे वह भिक्षु हो और चाहे कोई साधारण भक्तजन—उस भोजन में से, जो तैयार किया गया है पर अभी तक परोसा नहीं गया, अलग लेकर खा सकता है। इसकी बुद्ध ने आज्ञा दी है, और इसमें दोष नहीं है।

मैंने सुना है कि अभी भोजनों को प्रायः तीसरे पहर तक अटकाया जाता है (निर्दिष्ट भोजन-काल दोपहर है) और उसकी तैयारी की देख-भाल भिक्षु अथवा भिक्षुणियाँ करती हैं। यह उचित नहीं, क्योंकि मनुष्य भलाई करने में एक अपराध कर देता है। अब पाँच प्रदेशों के भारत में और दूसरी जातियों में पहला और मुख्य भेद शुद्धता और अशुद्धता का असाधारण भेद है।

एक बार उत्तर के मंगोलों ने भारत में दूत भेजे। ये लोग पाखाना जाने के बाद हाथ नहीं धोते थे और अपने भोजन को थाल में रख छोड़ते थे। इसलिए इनसे वहाँ घृणा की गई और इनकी हसी उड़ाई गई। इतना ही नहीं, इनका वहाँ तिरस्कार और निंदा भी हुई, क्योंकि वे (फ़र्श पर) टांगे सीधी पसार कर, एक-दूसरे को छूते हुए इकट्ठे बैठ जाते थे, वे सूअरों और कुत्तों के पड़ोस से दूर नहीं रहते थे, और दातुन नहीं करते थे। इसलिए जो लोग बुद्ध-धर्म का अनुष्ठान कर रहे हैं उन्हें इन बातों का बहुत ध्यान रखना चाहिए। परन्तु चीन में प्राचीन काल से पवित्र और अपवित्र भोजन में कभी भेद नहीं किया गया।

5

भोजन कर चुकने के पश्चात् सफ़ाई

जब भोजन कर चुको तब हाथों को अवश्य साफ़ करो। जीभ और दातों को ध्यानपूर्वक साफ़ और शुद्ध करो। होठों को या तो मटर के आटे से या मिट्टी और पानी को मिलाकर कीच से साफ़ किया जाय, यहां तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय।

तत्पश्चात् (कुल्ला करने के लिए) किसी साफ़ वर्तन में से जल एक शख के प्याले में डालना चाहिए। यह प्याला या तो ताजा पत्तों पर रखा हो या हाथों में पकड़ा हुआ हो। यदि प्याला हाथ से छू जाय तो इसे साफ़ करने की तीन सामग्रियों, अर्थात् मटर के आटे, सूखी मिट्टी और गाय के गोबर से मलना, और धब्बे को दूर करने के लिए पानी से धो डालना चाहिए। एकांत स्थान में साफ वर्तन से पानी सीधा मुंह में डाला जा सकता है, परंतु सार्वजनिक स्थान में ऐसा करने का निषेध है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुंह प्रायः साफ हो जाता है। ऐसा किए बिना मुंह का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नहीं। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया हो, मुंह से थूक को बाहर फेंकते रहना चाहिए। निस्संदेह, साफ वासन में जल तैयार किए बिना अथवा दातुन किए बिना, न तो भोजन के बाद हसी और बकवाद में समय नष्ट करना उचित है, और न दिन-रात अपवित्र और दोषी बने रहना ही ठीक है। यदि कोई अपने जीवन-काल में ऐसा आलस्य करता है तो उसके दुःखों का कोई अंत नहीं रहता।

6

जल रखने के लिए दो लोटे

पवित्र जल धोने के जल (मूलार्थतः, 'छुए हुए' जल) से अलग रखा जाता है, और प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (अर्थात् कुंडी और कलश) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के वर्तन का उपयोग किया जाता है और धोने के जल (मूलार्थतः 'छुए हुए' जल) के लिए तांबे अथवा लोहे का वर्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ मल-मूत्र त्यागने के पश्चात् शुद्धि के लिए हर वक्त तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ में पकड़ना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए, और 'छुए हुए' जल को 'छुए हुए' (अथवा 'अपवित्र') हाथ में पकड़ना और अपवित्र (अथवा 'छुए हुए') स्थान पर रखना चाहिए।

लोटे को सीधा सामने रखकर जल पीने में कोई दोष नहीं; परंतु तीसरे पहर जल पीने की आज्ञा नहीं। लोटा मनुष्य के मुख के योग्य बनाना चाहिए; ढकने की चोटी दो अंगुल¹ ऊंची चाहिए; इसमें (चीनियों की) रोटी खाने की तांबे की लकड़ी के समान एक छोटा-सा छिद्र किया जाता है।

पीने का ताजा जल ऐसी ही ठिलिया में रखना चाहिए। ठिलिया के पार्श्व में, पीने की टोंटी से दो अंगुल ऊपर, एक छोटी मुद्रा के समान गोल एक ओर

1 इसका तात्पर्य दो अंगुल-विस्तार है न कि दो अंगुल-सन्धि, काश्यप कहता है कि 'यह कोई एक चीनी इंच के बराबर होगा।'

छिद्र होता है। इस छिद्र के द्वारा जल डाला जाता है; इसमें दो-तीन गेलन आ सकती हैं। छोटी ठिलिया का उपयोग कभी नहीं किया जाता।

यदि धूल अथवा कीड़ों के अन्दर चले जाने का भय हो तो टोटी और छिद्र दोनों को बास, लकड़ी, टाट अथवा पत्तों से ढक दिया जाता है। पानी लेने के लिए, पहल ठिलिया को भीतर से धो लेना चाहिए जिससे मैल अथवा धूल सब धुल जाय तब ताजा जल भरना चाहिए।

ठिलिया रखने का थैला कोई दो फीट लंबे और एक फुट चौड़े सूती कपड़े का बनाया जाता है। इस कपड़े के दोनों सिरो को इकट्ठा करके दोहरा कर लिया जाता है, और फिर मिलनेवाले किनारों को सीकर जोड़ दिया जाता है। इसके दोनों कोनों को कोई साढ़े सात इंच¹ लम्बी दो रस्सिया लगाई जाती हैं। यात्रा में ठिलिया को थैले में रखकर कंधे से लटका लिया जाता है। जिस थैली में भिक्षा मांगने का कटोरा रखा जाता है उसकी आकृति भी उपर्युक्त थैली के सदृश होती है। इसके भीतर कटोरे का मुह ऐसी अच्छी तरह से ढप जाता है कि उसमें धूल नहीं पड़ सकती। इसकी पेटी नोकदार होती है जिससे कटोरा इधर-उधर नहीं घूमता। परन्तु कटोरे की थैली ठिलिया के थैले से भिन्न होती है।

यात्रा करते समय भिक्षु अपनी ठिलिया, भिक्षा-पात्र, आवश्यक वस्त्र कंचुक के ऊपर कंधों से लटका लेता है और छतरी हाथ में ले लेता है। बौद्ध भिक्षु के यात्रा करने की यही रीति है।

गजगृह के चैत्यों, बोधिवृक्ष, गृध्रकूट, मृगदाव, उस पवित्र स्थान जहां शालवृक्ष सारस के पंखों के समान श्वेत² हो गए थे (कुशीनगर में), और उस निर्जन कुंज, जो कि गिलहरी³ को समर्पित किया गया है, की यात्रा के काल में—यात्रा करनेवाले

1 पाठ में 'वितस्ति' है, अर्थात् अंगूठे और मध्यमा उगली को तानने पर उनके बीच की लंबाई। काश्यप के अनुसार यह बारह अंगुल या साढ़े सात इंच लंबी होती है।

2 इसका सकेत उस कथा की ओर है कि बुद्ध के निर्वाण के समय, ऋतु न होने पर भी, वृक्षां में फूल आ गए (महापरिनिब्बान मुत्त)।

3 'गिलहरी का कुंज' कलतक-निवाप है जिसमें वेणु-वन भी कहते हैं। कलतक या कलटक एक पक्षी होता है। परन्तु यह भूल मालूम होती है।

समभेदकवस्तु इस कुंज का वर्णन इस प्रकार करता है—

बासो का यह कुंज एक समय एक धनवान् व्यक्ति का था। बिम्बिसार अपने युवराज-काल में इस आराम में आनंद लिया करता था और चाहता था कि उसका स्वामी वह उसको दे दे। परन्तु उसने देने से इनकार कर दिया। जब युवराज गद्दी पर बैठा तब उसने बलात् उस आराम को अपने अधिकार में कर लिया। आराम के मालिक को इससे बहुत दुःख हुआ और वह हत्तीडा से मर गया। मृत्यु के बाद वह राजा से बदला लेने के लिए साप बन गया। वसंतकाल में सुंदर पुष्प खिल रहे थे, राजा अनेक शसियों-सहित बाग में गया। वाटिका में घूमने के पश्चात् उसे निद्रा ने घेर लिया। पुष्पों से मोहित

→

भिक्षु उपर्युक्त स्थाना में से प्रत्येक में प्रतिदिन प्रदश से सहस्रा की संख्या में इकट्ठे होते हैं, और सभी इसी रीति से यात्रा करते हैं। नालद मठ के पूजनीय और विद्वान् भिक्षु पालकियों में सवार होते हैं परंतु घोड़े पर कभी नहीं चढ़ते, और महाराज मठ के भिक्षु भी ऐसा ही करते हैं। इस अवस्था में आवश्यक सामग्री या तो दूसरे व्यक्ति उठाते हैं या लडके;—पश्चिम (भारत) के भिक्षुओं में ऐसी ही रीतियां हैं।

7

कीड़ों के सम्बन्ध में जल की प्रातःकालीन परीक्षा

प्रतिदिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोट कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पड़ोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीड़ोवाला जल बाहर फेंक दो, और ताज़ा छाना हुआ जल उसमें भर लो। यदि कुआं हो तो इसके जल को सामान्य रीति के अनुसार छानकर काम में लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते हैं; और चीन में बारीक रेशमी कपड़े से, हल्की-सी माड़ देने के बाद, यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के जाल-छिद्रों में से छोटे-छोटे कीड़े सुगमता से चले जाते हैं। हूचिह (एक सामान्य माप का नाम) के कोई चार फुट-भर कोमल टसर का टुकड़ा लो और किनारों से पकड़कर इसे लम्बाई में रखो। तब दोनों सिरो को लेकर इसे दोहरा कर दो और उन्हें सीकर एक जाल-सा बना दो। फिर इसके दोनों कानों के साथ रस्सिया और दोनों पार्श्वों के साथ तुकमें लगाओ। तब इसे चौड़ तानने के लिए इसके आर-पार एक डेढ़ फुट लंबी लकड़ी रखो। अब इसके दोनों सिरो को बल्लियों से बांधकर इसके नीचे एक बासन रख दो। जब आप बटलोही में से इसमें पानी डालें, तब इसकी पेंदी चालनी के अंदर होनी चाहिए, जिससे जल-बिंदुओं के साथ कोई कीड़ा न गिर पड़े, और भूमि पर अथवा बासन में गिरकर नष्ट न हो जाय। ज्यों ही चालनी में से पानी निकल आए, इसको उलचो ओर इसकी परीक्षा करो। यदि इसमें कीड़े हों तो इसे वापस कर दो, और यदि यह यथेष्ट स्वच्छ हो तो इसका उपयोग करो। जब पर्याप्त पानी प्राप्त हो जाय तब

होकर सब दासिया राजा को छोड़कर चली गईं, केवल एक ही दासी खड्ग लिये राजा की रक्षा कर रही थी। उस समय एक बिपघर साप प्रकट हुआ। वह सोए हुए राजा पर आक्रमण करना ही चाहता था कि इतने में कलदक जोर से चिल्लाने लगा। पहरे पर खड़ी दासी ने साप को देखकर काट डाला। राजा की इस सेवा के बदले में, महाराज ने इस आराम को पक्षियों के नाम पर समर्पण करके इसका नाम 'कलदक-वेणुवन' रखा।

कलदक के लिए देखिए 'महावग्ग'।

चालनी को उलट दो। इसे दो मनुष्य दोनों सिरो स पकड़ते हैं। इसे 'जीव-रक्षक-पात्र' में रखो, इसे तीन बार पानी से खधाल डालो, और इसके बाहर की ओर से इस पर फिर पानी डालो। इसमें एक बार फिर पानी डालो, ताकि चालने से मालूम हो जाय कि कहीं अब इसमें कोई कीड़ा तो नहीं। इस प्रकार छान लेने पर भी, रात-भर के रखे हुए पानी को, दुबारा जाचने की आवश्यकता होती है; क्योंकि जो मनुष्य रात-भर के पड़े हुए जल की जांच नहीं करता, विनय में, उसे दोषी कहा गया है।

नदी या जलाशय की अवस्था में पानी को एक दोहरी ठिलिया-द्वारा, जो कि जल में सुरक्षित रूप से रखे हुए बेत के बासन के भीतर होती है, छाना जा सकता है। छोटे अथवा सातवे, मास में कीड़े इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, और दूसरी ऋतुओं से वे इतने भिन्न होते हैं कि वे कच्चे रेशम की दस तहों में से भी निकल जाते हैं।

कीड़ों को स्वतंत्र करने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किंतु रेशम की चालनी भी बड़ी उपयोगी है। भारत में, बुद्ध के बताए हुए नियमों के अनुसार थाल प्रायः ताबे के बनते हैं। जीव-रक्षक वासन एक छोटा-सा जल-पात्र होता है जिसका मुह स्वयं पात्र जितना ही चौड़ा होता है। इसकी पेदी के पार्श्वों पर दो लट्ठू होते हैं, जिनके साथ रस्सियां बांधी जाती हैं। जब इसे पानी में उतारा जाता है तब उलट दिया जाता है, और दो-तीन बार पानी में डुबाने के पश्चात्, इसे ऊपर खींच लिया जाता है।

उच्च भिक्षुओं को चाहिए कि वे न तो मंदिर की चालनियों को और न छानने के लिए कोठरी में रखे हुए जल को ही स्पर्श करें। छोटे भिक्षु, जिन्हें अभी पूरी दीक्षा नहीं मिली, कोई भी जल लेकर पी सकते हैं; किंतु यदि वे किसी अनुचित समय पर पीने लगें तो उन्हें एक साफ चालनी, स्वच्छ ठिलिया और पवित्र बर्तनो का, जो कि काम देने योग्य हों, अवश्य उपयोग करना चाहिए। जीवों की हिसा पाप है, और बुद्ध ने इसका निषेध किया है।

यह निषेध सबसे अधिक महत्त्व रखता है, और हिसा को सब पापों में सबसे मुख्य ठहराया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित है कि वह जल की परीक्षा के लिए एक बर्तन रखे, और प्रत्येक स्थान में एक जीव-रक्षक पात्र होना चाहिए।

दातुन का उपयोग

प्रतिदिन सयेंरे मनुष्य को दातुन से दांतों को साफ़ करना चाहिए, और जीभ का मेल उतार डालना चाहिए। हाथों को धोने और मुह को साफ करने के बाद ही मनुष्य प्रणाम करने के योग्य होता है; अन्यथा प्रणाम करनेवाला और जिसको वह प्रणाम करता है, दोनों दोषी ठहरते हैं। दातुन कोई बारह अगुल लंबी बनाई जाती है, और छोटी-से-छोटी भी आठ अगुल में कम नहीं होती। इसका आकार कनीनिका के जैसा होता है। यदि दातुन करते-करते किसी को लाचार आश्रम-गुरु के पास आना पड़े, तो उसे वारें हाथ से मुह को ढाप लेना चाहिए।

दातुन के अतिरिक्त तोहे अथवा ताबे की बनी हुई दंत-खोदनी (खड़का) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाम या लकड़ी की छोटी-सी छड़ी, जो कनीनिका के उपरिभाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, दांतों और जीभ को साफ करने के उपयोग में लाई जा सकती है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुह में कोई घाव न लग जाय। सेवन कर चुकने के बाद उसको धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को मुह से बाहर फेंकने के पहले कठ में तीन बार उगलियां फेर लेनी अथवा दो से अधिक बार खांस लेना चाहिए।

छोटे भिक्षु जैसे भी चाहें दातुन को चबा सकते हैं, परंतु बड़े भिक्षुओं को चाहिए कि उसे कूटकर कोमल कर लें। सबसे अच्छी दातुन वह है जो स्वाद में कटु, सकोचक अथवा तीक्ष्ण हो, अथवा जो चबाने से रूई की तरह हो जाए। दांतों को पूरी तरह से चबाने, दांतों को साफ करके चमकाने और मुख से निकलनेवाले सारे पानी को बाहर थूकने का खूब ध्यान रखो; और फिर बहुत-से जल के साथ कुल्ले कर डालो। रीति यह है। एक बार नाक से पानी अन्दर ले जाओ। यह बोधिसत्त्व नागार्जुन का ग्रहण किया हुआ दीर्घायु-प्राप्ति का साधन है। यदि यह क्रिया बहुत कठिन हो तो जल पीना भी अच्छा है। जब मनुष्य को इन क्रियाओं का अभ्यास हो जाता है तब उस पर रोग का आक्रमण कम होता है। दांतों की जड़ों पर काल के प्रभाव से जमे हुए मैल को पूरी तरह से साफ़ कर देना चाहिए। गरम पानी से धोने से दात आयु-भर के लिए मैल से मुक्त हो जाते हैं। दातुन करने के कारण भारत में दन्तशूल बहुत कम होता है।

चीन में कुछ लोग बेत की छोटी-छोटी लकड़ियों का व्यवहार करते हैं। इन्हें वे सारी-की-सारी चबा डालते हैं, पर उन्हें कुल्ला करने और रस को फेंकने की रीति का कुछ भी ज्ञान नहीं। कभी-कभी यह समझा जाता है कि दातुन के रस

को पीने से राग की शांति हो सकती है। परंतु इसे पीने से मनुष्य, अपनी शुद्धि की अभिलाषा के विपरीत, अपवित्र हो जाता है। यद्यपि उसकी इच्छा रोग से छुटकारा पाने की होती है, परंतु वह उससे भी बड़े रोग में फंस जाता है। भारत के पाच खंडों के लोगों में दातुन का करना बिल्कुल सामान्य बात है। यहां तक कि तीन वरस के बालकों को भी दातुन करना सिखाया जाता है।

9

उपवसथ¹-दिवस पर भोज के नियम

मैं भारत तथा दक्षिणी सागर के द्वीपों में, भिक्षुओं को भोजन के लिए निमंत्रित करने की प्रक्रिया का संक्षेप में वर्णन करूंगा। भारत में अतिथि-संवक पहले भिक्षुओं के पास आता है, और प्रणाम करके उन्हें पर्व पर निमंत्रण देता है। उपवसथ के दिन वह उन्हें 'यह ठीक समय है' कहकर सूचना देता है।

भिक्षुओं के लिए ताबे के बर्तनों का ही उपयोग किया जाता है। ये वारीक राख से रगड़कर साफ़ कर दिए जाते हैं। मिट्टी के कोरे बर्तनों का एक बार उपयोग करना अनुचित नहीं। उनका उपयोग हो चुकने पर उन्हें एक खाई में फेंक देना चाहिए, क्योंकि उपयोग में आए हुए (मूलार्थतः 'छुए हुए') बर्तनों को बिल्कुल नहीं सुरक्षित रखना चाहिए। फलतः भारत में, जहां-जहां सड़क के किनारे सदाब्रत हैं, वहां, फेंके हुए बर्तनों के ढेर लगे रहते हैं, और इनका दुबारा उपयोग नहीं किया जाता।

दानपति के घर में भोजन करने की कोठरी की भूमि गाय के गोबर से लीप दी जाती है और नियमित अंतरों पर छोटी-छोटी कुर्सियां बिछाई जाती हैं; और एक साफ ठिलिया में बहुत-सा जल तैयार किया जाता है। भिक्षुगण आकर पहले अपने कचुकों के बोताम खोलते हैं। सबके सामने साफ लोटे रखे होते हैं। वे जल की परीक्षा करते हैं। यदि उसमें कोई कीड़ा न हो तो वे उससे पांच थोकर उन छोटी कुर्सियों पर बैठ जाते हैं। वे कुछ समय तक विश्राम करते हैं। तब दानपति, समय देखकर और यह मालूम करके कि सूर्य अब प्रायः खमध्य पर पहुंच गया है, यह घोषणा करता है—'यह ठीक समय है।' तब प्रत्येक भिक्षु अपने कचुक को दोनों कानों से लपेटकर और अपने अचल के दाये कोने को लेकर, कमर के साथ बायीं ओर पकड़ लेता है। भिक्षुगण मटर के चूर्ण अथवा बारीक मिट्टी से रगड़कर हाथ साफ करते हैं। तब वे अपने स्थानों पर वापस आ जाते हैं। तत्पश्चात् अतिथियों को भोजन के बर्तन बांटे जाते हैं। भोजन के पहले ईश-प्रार्थना करने

1 अर्थात् उपवास का दिन। यह भिक्षुओं और उनके भक्तजन के लिए धर्मानुष्ठान और कीर्तन का दिन है और यह एक त्योहार है।

की रीति नहीं दानपति इस समय तक) हाथ पाव धोकर आसनो की पक्ति के ऊपरी सिरे पर महात्माओ (अहत्तों की प्रतिमाओं) को चढ़ावा चढ़ाता है। तत्पश्चात् वह भिक्षुओं को भोज बांटता है। पक्ति के सबसे निचले सिरे पर माता, हारिती को भोजन चढ़ाया जाता है।

हारिती चार दिव्य राजाओं की प्रजाओं में से एक है। उसमें धन प्रदान करने की शक्ति है। जो लोग अपनी शारीरिक निर्वलता के कारण सतानहीन है, वे यदि भोजन का चढ़ावा चढ़ाकर, सतान के लिए उससे प्रार्थना करें, तो उनकी मन-कामना सदा पूर्ण हो जाती है। इसका पूरा वृत्तांत विनय में दिया गया है।

अपरच भारत के बड़े-बड़े विहारों में, पाकशाला में स्तम्भ के पार्श्व पर, अथवा उसके सम्मुख, लकड़ी में खुदी हुई एक देवता की दो-तीन फुट ऊँची मूर्ति होती है। इसके हाथ में सोने की एक थैली होती है। इसका मुखमंडल काला हो जाता है, और यह देवता महाकाल कहलाता है। प्राचीन ऐतिहासिक कहता है कि यह (स्वर्ग में) महेश्वर के प्राणियों में से था। वह स्वभावतः 'तीन रत्नों' से प्रेम और विपत्ति से पाँच परिपदों की रक्षा करता है। उसके उपासकों की सभी कामनाएँ पूर्ण हो जाती हैं। भोजन के समय पाकशाला में काम करनेवाले धूप और दीप चढ़ाते हैं, और सब प्रकार के तैयार किए हुए भोजन देवता के सामने सजाने हैं। मैं एक बार पदन^१ विहार (बधन) देखने गया था। वहाँ सामान्यतः एक सौ से अधिक भिक्षु भोजन किया करते हैं। एक बार, कोई दोपहर के समय, वहाँ सहस्र पाँच भिक्षु आ पहुँचे। उनके लिए दोपहर से ठीक पहले भोजन तैयार करने के लिए समय न था। विहार के एक नौकर की माता ने तत्काल बहुत-सी धूप जलाई और काले देवता के सामने भोजन चढ़ाकर उससे प्रार्थना की—'यद्यपि महामुनि निर्वाण को प्राप्त हो चुका है, परन्तु तेरे जैसे प्राणी अभी तक मौजूद हैं। अब इस पवित्र स्थान की पूजा के लिए यहाँ प्रत्येक स्थान से भिक्षुगण पधारे हैं। हमारा भोजन उनके लिए कम न निकले; क्योंकि यह तेरी शक्ति में है। कृपा करके इस समय को मनाइए।' तब सब भिक्षुओं को बिठला दिया गया। भोजन उस भारी भिक्षु-समूह के लिए पर्याप्त निकला, और सामान्य रूप से जितना पहले बचा करता था उतना बच भी रहा। मैं स्वयं उस स्थान की पूजा के लिए वहाँ गया, इसलिए मैंने उस काले देवता की प्रतिमा देखी जिसके सामने भोजन की प्रचुर भेंट चढ़ाई गई थी। (गया के समीप) महाबोधि विहार के नाग महामुचिलिंद^४ में ऐसी ही अलौकिक शक्ति है।

१ चतुर्महाराजदेवा (चतुर्म्महाराजिका देवा), महावग्ग।

२ पाँच परिपद ये हैं—(i) भिक्षु, (ii) भिक्षुणी, (iii) शिक्षमाणा, (iv) श्रमणे, (v) श्रमणेरी।

३ कुशीनगरगंतगत मुकुट-बधन का एक विहार।

४ महावग्ग में लिखा है कि मुचिलिंद बुद्ध की रक्षा करने तथा उनका उपदेश सुनने आता था।

भोजन परोसने की विधि आगे दी जाती है। पहले कोई अंगूठे के परिमाण के अदृक् के एक-एक या दो-दो टुकड़े (प्रत्येक अतिथि को) परोसे जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर डेढ़-डेढ़ चमचे भर नमक दे दिया जाता है। जो मनुष्य नमक परोसता है, वह हाथ जोड़े हुए प्रधान भिक्षु के सम्मुख घुटनों के बल झुककर, धीरे से कहता है, 'सप्रागतम्'। इसका अनुवाद है 'शुभागमन'। अब प्रधान भिक्षु कहता है—'समान रूप से भोजन परोसो।'

भोजन परोसनेवाला अतिथियों के सामने खड़ा होकर, जिनके पैर एक पवित्र में होते हैं, सत्कारपूर्वक प्रणाम करता है, और हाथों में भोजन-पात्र, मीठी रोटियाँ और फल लेकर भिक्षु के हाथों से कोई एक वितस्ति (ऊपर) से उन्हें परोसता है। प्रत्येक दूसरा बर्तन अथवा भोजन अतिथि के हाथों से एक या दो डंच ऊपर से देना चाहिए। यदि कोई वस्तु अन्यथा परोसी जाय तो अतिथियों को चाहिए कि उसे स्वीकार न करे। भोजन के परोसे जाते ही अतिथि खाना आरम्भ कर देते हैं, उन्हें इस बात का कष्ट नहीं उठाना चाहिए कि जब तक सबको समान रूप से भोजन न परोसा जाय तब तक प्रतीक्षा करते रहें।

फिर सुखाए हुए चावल और लोबिए के झोर की बनी हुई कुछ लपसी छाछ की गरम चटनी के साथ स्वाद के लिए परोसी जाती है। इसे दूसरे भोजन के साथ उगलियों से मिलाया जाता है। वे (अतिथि) दायें हाथ से खाते हैं। इसे वे पेट के मध्य भाग से ऊँचा नहीं उठाते। अब रोटियाँ, फल, घी और कुछ खाड़ परोसी जाती हैं। यदि किसी अतिथि को प्यास लगे तो वह, गरमी हो या सरदी, ठंडा जल पीता है। दैनिक जीवन तथा विशेष सत्कार के अवसर पर भिक्षुओं के खाने का यह संक्षिप्त वर्णन है।

उपवसथ-दिवस ऐसे समारोह से मनाया जाता है कि सब थालियाँ और रकाबियाँ रोटियों से भर दी जाती हैं और चावल अलग बच रहते हैं, घी और मलाई जितनी चाहो खा सकते हो।

बुद्ध के समय में राजा प्रसेनजित् ने सघ को भोजन के लिए निमंत्रण दिया था। उस समय पेय, आहार घी, मलाई इत्यादि इतने ज्यादा परोसे गए थे कि वे बहुतायत से भूमि पर वह रहे थे।

जो मनुष्य निर्धन होता है वह, भोजन के अनंतर, अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी-छोटी चीजों का दान करता है। भोजन कर चुकने के पश्चात् थोड़े-से पानी से कुल्ला किया जाता है, जिसे पी लेना चाहिए। दायें हाथ को तनिक धोने के लिए बासन में कुछ जल अवश्य डाल रखना चाहिए। हाथ धो चुकने के पश्चात् मनुष्य भोजन करने के स्थान से जा सकता है। वहाँ से बाहर निकलते समय, दूसरों को देने के लिए, उसे दायें हाथ में मुट्ठी भर भोजन लाना चाहिए। बुद्ध

न इसकी आज्ञा दी है चाहे यह भोजन वृद्ध का हो चाहे सघ का परन्तु खान से पूर्व भोजन के देने का विधान विनय में नहीं। इसके अतिरिक्त भोजन का एक थाल मृतको और अन्य आत्माओं को, जो भेंट दिए जाने के योग्य हों, चढ़ाया जाता है। इस रीति का मूल गृध्रकूट बताया जाता है जैसा कि सूत्रों में पूर्ण रूप से वर्णित है।

उस मुट्ठी-भर भोजन को स्थविर के सामने लाकर उसे प्रणाम करना चाहिए। वह स्थविर जल की कुछ बूंदें छिड़ककर निम्नलिखित प्रार्थना करे—

‘जो धर्म-कार्य हम करनेवाले हैं उनके वन से हम प्रेतलोक को उदारतापूर्वक लाभ पहुँचावे, और वे प्रेत, इस भोजन को ग्रहण करके, मृत्यु के अनंतर सुखद अवस्था में पुनः जन्म लें।’

तत्पश्चात्, भोजन का वाहर लाकर, मृतको को देने के लिए, किसी गुप्त स्थान, वन, कुंज, नदी अथवा सरोवर में डाल देना चाहिए।

इस प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर दानपति अतिथियों को दातुनं और शुद्ध जल देता है।

यदि दानपति पसंद करे तो संगीत—ढोल और सारंगी के साथ गीत गाना—भी होता है। तब जैसे-जैसे प्रत्येक को भोजन परोसा जाता है वह खाना आरंभ करता जाता है, और जब वह समाप्त हो जाता है तब प्रत्येक अतिथि के सामने एक बासन में लोटे से जल डाला जाता है। अब स्थविर दानपति के लिए एक छोटी-सी दान-गाथा सुनाता है। यह शेषोक्त बात भारत में (उपवास के दिन) भोजन का चढ़ावा लेने की वैकल्पिक रीति है।

अब मैं विनय के नियमों के अनुसार भोजन करने की सामान्य विधि से स्थूल वर्णन करना चाहता हूँ।

पचभोजनीयम् और पंचखादनीयम् का विनय में बहुत बार उल्लेख है। भोजनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे निगलना और खाना पड़ता है (अर्थात् गीला और कोमल भोजन), और खादनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे चबाना या पीसना पड़ता है (अर्थात् कड़ा और ठोस भोजन)। पचभोजनीयम् ये हैं—1. चावल; 2. जो और मटर की उवली हुई खिचड़ी; 3. भुना हुआ मक्की का आटा, 4. मास, 5. मीठी रोटियाँ। पंचखादनीयम्—1. मूल; 2. डठल, 3. पत्ते, 4. फूल, 5. फल। यदि पाच का पहला समूह (अर्थात् पचभोजनीयम्) ग्रहण कर लिया जाय तो फिर उन लोगों को जिनके पास और अधिक भोजन करने के लिए कोई कारण नहीं, किसी प्रकार भी पाचों का दूसरा समूह न खाना चाहिए, परन्तु यदि पिछले पांच पहले खा लिये हों तो अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य पहले पाच भी खा सकता है।

हम दूध, मलाई इत्यादि को उपर्युक्त पाच के दो समूहों के अतिरिक्त गिन सकते हैं; क्योंकि विनय में इनके लिए कोई विशेष नाम नहीं, और यह स्पष्ट है

कि ये विशेष भोजन के अन्तर्गन नहीं।

आटे की वनी हुई जो भी चीज़ (जैसा कि गुलगुले अथवा लपसी) यदि इतनी कड़ी हो कि उसमें डाला हुआ चमचा बिना किसी और झुके सीधा खड़ा रहे तो उसे रोटियो और भात के अंतर्गत रखना चाहिए। पानी के साथ मिलाए हुए, भुने हुए, आटे पर यदि उंगली का चिह्न बन सकता है तो उसका भी पाच में से एक में समावेश है।

अब भारत के पाच देशों को लीजिए। उनकी सीमाएँ लंबी-चौड़ी और दूर हैं। स्थूल रूप से कहे तो मध्य भारत से प्रत्येक दिशा में सीमा तक की दूरी (मूलार्थतः, पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर) कोई 400 योजन है। इस माप में दूरस्थ सीमाप्रांत नहीं गिना गया। यद्यपि मैंने स्वयं भारत के ये सब भाग नहीं देखे, फिर भी मैं सावधानतापूर्वक अन्वेषण करने से प्रत्येक बात जाच सकता था।

सारा भोजन, ग्रहण करने के लिए और क्या-क्या चबाने के लिए, बड़ी उत्तमता से नाना विधियों से तैयार किया जाता है। उत्तर में गेहूँ का आटा बहुत होता है, पश्चिमी प्रदेश में सबसे अधिक सेंका हुआ आटा (चावल या जौ का सत्तू) बर्ता जाता है। मगध में गेहूँ का आटा बहुत कम परंतु चावल बहुतायत में होता है। दक्षिणी सीमांत प्रदेश और पूर्वी उपान्त्य-भूमि की उपज वही है जो कि मगध की।

घी, तेल, दूध और मलाई सब कहीं मिलती हैं। मीठी रोटियो और फलों जैसी वस्तुओं की इतनी प्रचुरता है कि उनका यहां गिनना कठिन है। यहां मीठा खुरबूजा और तरबूज होता है; गन्नों और आलू-कचालू आदि भूमि के भीतर लगनेवाले खाद्य पदार्थों की बहुतायत है।

भारत के पांचों भागों में कोई भी लोग किसी प्रकार का प्याज, अथवा कच्ची तरकारियां नहीं खाते, इसलिए वे अजीर्ण से बचे रहते हैं; उनका आमाशय और अंतर्द्वियां नीरोग रहती हैं और उनके कड़ी हो जाने या दुखने का कोई कष्ट नहीं होता है।

दक्षिणी सागर के दस द्वीपों में उपवास के दिन एक बड़े परिमाण में आतिथ्य किया जाता है। पहले दिन दानपति पिन-लंग सुपारी, फ्रू ट्रू (मुस्तक) से बनाया हुआ सुगंधित तेल, और एक थाली में पत्ते पर पिसे हुए थोड़े-से चावल तैयार करता है। इन तीनों चीजों को एक बड़ी पटरी पर चुनकर एक सफ़ेद वस्त्र से ढक दिया जाता है। एक सुनहरे लोटे में जल डालकर रख लिया जाता है, और इस पटरी के सामने की भूमि पर जल छिड़क दिया जाता है। ये सब बातें हो जाने पर भिक्षुओं को भोजन के लिए बुलाया जाता है। अंतिम दिन दोपहर के पहले भिक्षुओं को शरीर पर तेल मलने और धोने तथा स्नान करने के लिए कहा जाता है। दूसरे दिन के अश्व-समय (मध्याह्न) के पश्चात् (विहार से) गाड़ी अथवा पालकी पर एक

पवित्र प्रतिमा ले जाई जाती है। इसके साथ भिक्षुआ आर सामान्य लोगों का एक बड़ा समूह ढोल और बाजे बजाता, धूप और पुण्य चढ़ाता और धूप में चमकते हुए झड़े हाथों में लिये चलता है। इस प्रकार इसे घर के आगन में पहुँचाया जाता है। एक बड़े विस्तीर्ण छत्र के नीचे, चमकीली और सुचारु रूप से अलंकृत सोने अथवा कासे की प्रतिमा पर कोई सुगंधित लेई (उबटन) मली जाती है। फिर इसे एक साफ वासन में रख दिया जाता है। जितने लोग वहाँ उपस्थित होते हैं वे सब इसे सुगंधित जल (गंधोदक) से स्नान कराते हैं। सुगंधित वस्त्र से पोंछने के पश्चात् इसे घर के मुख्य दालान में पहुँचाया जाता है। वहाँ इसे प्रचुर धूप और दीप चढ़ाया जाता है और स्तुति के भजन गाए जाते हैं। तब भविष्य जीवन के संबंध में धार्मिक भोज के पुण्य को प्रकट करने के लिए स्थविर दानपति के लिए दान-गाथा सुनाता है। फिर भिक्षुओं को हाथ धोने तथा कुल्ला करने के लिए घर से बाहर ले जाया जाता है, और, इसके अनंतर, उन्हें शरबत (पान) और पिन-लंग फल (अर्थात् सुपारी) यथेष्ट परिमाण में दिए जाते हैं; तब वे उस घर से वापस चले आते हैं। तीसरे दिन के पूर्वाह्न में, दानपति, विहार को जाते हुए, भिक्षुओं से कहता है—‘यह ठीक समय है।’ वे, स्नान करने के बाद, भोजवाले घर में आते हैं। इस समय भी मूर्ति स्थापित की जाती है और इसको स्नान कराने की प्रक्रिया अधिक संक्षेप से पूरी की जाती है। परंतु धूप तथा पुष्पों का चढ़ावा और सगीत पहले दिन से दुगुना होता है। प्रतिमा के सामने नाना प्रकार के चढ़ावे यथाक्रम सजाए जाते हैं, और उसके दोनों ओर पांच या दस कन्याएं पंक्ति में खड़ी होती हैं। सुभीते के अनुसार कुछ लड़के भी खड़े किए जाते हैं। इनमें से प्रत्येक के पास या तो धूप जलाने का पात्र होता है, या सुनहरा जल-पात्र, या दीपक अथवा कुछ सुंदर पुष्प, सफेद चवर होता है। लोग सब प्रकार की शृंगार की वस्तुएं लाकर बुद्ध की मूर्ति के सामने चढ़ाते हैं। एक बार मैंने उनसे पूछा—‘आप यह किस प्रयोजन से कर रहे हैं?’ उन्होंने उत्तर दिया—‘यह क्षेत्र है, और हम अपने पुण्य का बीज बो रहे हैं। यदि हम अब चढ़ावा नहीं चढ़ाएंगे, तो भविष्य में पुण्य का फल कैसे प्राप्त कर सकेंगे?’ यह युक्तिपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसा काम भी पुण्य-कर्म ही है। फिर अनुरोध करने पर, एक भिक्षु मूर्ति के सामने घुटनों के बल बैठकर बुद्ध-गुण-गान करता है। इसके बाद, अनुरोध करने पर, दो और भिक्षु, मूर्ति के निकट बैठकर एक पृष्ठ अथवा पत्ते पर से एक छोटा-सा सूत्र पढ़ते हैं। ऐसे अवसरों पर, वे कभी-कभी मूर्तियों की प्रतिष्ठा करते, और उनकी आंखों की पुतलियों का चिह्न लगाते हैं, ताकि इसके फल से उन्हें आनंद की प्राप्ति हो। अब भिक्षुगण स्वेच्छा से कमरे के एक पार्श्व में चले जाते हैं। वहाँ अपने काषायों को लपेटकर उनके दोनों कोनों को छाती पर बांध लेते हैं। फिर वे हाथ धोकर खाने के लिए बैठ जाते हैं।

व बहुधा पत्ता का इकट्ठा साकर उनसे थाली का काम लेत है। ये पत्तल आधी चटाई (जिस पर वे बैठते हैं) जितनी चौड़ी होती हैं। वे ऐसी ही पत्तलें बनाकर भिक्षुओं के सामने चढ़ाते हैं। तब उन्हें बीस या तीस प्रकार के भोजन परोसे जाने हैं। परन्तु यह अपेक्षाकृत निर्धन लोगों के लिए हुए भोज की बात है। यदि भोज देनेवाले राजा अथवा धनाढ्य मनुष्य हो तो कासे की थालिया, कासे के कटोरे और चटाई जितनी बड़ी पत्तलें बाँटी जाती हैं, और नाना प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओं की संख्या सौ तक पहुँच जाती है। ऐसे अवसर पर राजा लोग अपने उच्च पद की कुछ परवाह नहीं करते, और अपने आपको सेवक कहते हैं और सब तरह के सम्मान प्रदर्शित करते हुए भिक्षुओं को भोजन कराने हैं। भोजन जितना दिया जाय उतना भिक्षुओं को स्वीकार करना पड़ता है। वह कितना ही अधिक क्यों न हो, वे उसे रोक नहीं सकते। यदि वे केवल उतना ही भोजन लेगे जितना कि उनकी क्षुधानिवृत्ति-मात्र के लिए पर्याप्त हो, तो दानपति प्रसन्न न होगा; क्योंकि उसे सतोष तभी होता है जब वह आवश्यक से बहुत बढ़कर भोजन परोसा हुआ देखता है।

भिक्षुओं के ग्रहण कर चुकने और हाथ-मुँह धो चुकने के अनन्तर उच्छिष्ट भोजन वहाँ से उठा दिया जाता है और भूमि को साफ करके उस पर फूल बिखेर दिए जाते हैं। बाद को दीपोत्सव किया जाता है और वायु को सुगन्धित करने के उद्देश्य से धूप जलाया जाता है, साथ ही भिक्षुओं को जो कुछ देना हो वह उनके सामने सजाकर रख दिया जाता है। अब, वू-वृक्ष (द्रयद्र वीज) के फल के परिमाण के लगभग, सुगन्ध की लेई प्रत्येक को दी जाती है। वे उसे हाथों में मल लेते हैं जिससे वे स्वच्छ और सुवासित हो जाय। फिर कुछ पिन-लंग फल (सुपारी) और जायफल, लौंगों और कपूर के साथ मिलाकर, बाँटे जाते हैं। इनको खाने से उनका मुख सुगन्धित हो जाता है, भोजन पच जाता है, और कफ दूर हो जाता है। ये आरोग्यजनक वस्तुएँ और अन्य पदार्थ, शुद्ध जल में धोकर और पत्तों में लपेटकर, भिक्षुओं को दिए जाते हैं।

अब दानपति स्थविर के पास आकर, अथवा (सूत्र) पढ़नेवाले के सम्मुख खड़ा होकर, कुडी के चोचदार मुख से एक बासन में जल डालता है, जिससे ताबे की एक पतली छड़ी के सदृश जल लगातार निकलता है। भिक्षु दान-गाथाएँ मुँह में पढ़ता है। उसके हाथ में पुष्प होते हैं और उन पर जल गिरता है। पहले, बुद्ध के शब्दों के श्लोक पढ़े जाते हैं, तत्पश्चात् दूसरे लोगों के बनाए हुए। श्लोकों की संख्या, पढ़नेवाले की इच्छा अथवा अवस्थाओं के अनुसार, थोड़ी अथवा अधिक हो सकती है। तब पुरोहित, दानपति का नाम लेकर, उसके सुख के लिए प्रार्थना करता है, और उस समय किए हुए शुभ कर्मों का पुण्य-फल मृतकों, राजाओं, नागों तथा प्रेतों को देने की कामना करता है, और प्रार्थना करता है कि 'देश में उत्तम

फसलें हो, मनुष्य और अन्य प्राणी सुखी हो, शाक्य की श्रेष्ठ शिक्षा चिरस्थायी हो।' ये स्वयं जगत्-पूज्य (बुद्ध) के दिए हुए आशीर्वाद हैं। पुण्यात्मा (बुद्ध) ने हमें आज्ञा दी है कि दानपति के आतिथ्य का पुरस्कार देने के लिए भोजन के अनंतर हम एक-दो दान-गाथाएँ पढ़नी चाहिए। यदि हम इसकी उपेक्षा करते हैं तो पवित्र नियमों के विरुद्ध चलते हैं, और दिए हुए भोजन को ग्रहण करने के अधिकारी नहीं।

एक और रीति है, जिसका प्रचार मध्यम स्थिति की जनता में है। पहले दिन, भिक्षुओं को निमंत्रित करके उन्हें सुपारी दी जाती है; दूसरे दिन, तीसरे पहर बुद्ध की मूर्ति को स्नान कराया जाता है, दोपहर के समय भोजन किया जाता है, और सायंकाल सूत्र पढ़े जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी रीति है, जिसका प्रचार दरिद्र लोगों में है। पहले दिन, दानपति भिक्षुओं का दातुने भेट करता और उन्हें भोजन के लिए निमंत्रण देता है; दूसरे दिन, वह केवल भोजन तैयार करता है या कभी-कभी दानपति जाकर भिक्षुओं को प्रणाम करता और उन्हें दान दिए बिना ही भोजन के लिए बुलाने की इच्छा प्रकट करता है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों में उपवसथ-दिवस की प्रक्रियाएँ साधारण परिपाटी और भोजन में इतनी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी सघ की व्यवस्था, पवित्रता की रक्षा, उंगलियों से भोजन करने की रीति, और अन्य सारे नियम बहुत कुछ वही हैं। सघ के कुछ भिक्षु कई एक धूतांगों (अर्थात्, भिक्षुओं के लिए दैनिक जीवन के विशेष नियमों) का अभ्यास करते हैं, जैसा कि भिक्षा पर निर्वाह करना और केवल तीन कपड़े धारण करना (अर्थात् पैंडपातिकांग और त्रैचीविरकांग)। ऐसा भिक्षु कोई निमंत्रण स्वीकार नहीं करता, और स्वर्ण जैसे बहुमूल्य पदार्थों के दान को धूक के समान समझकर उसकी कुछ परवाह नहीं करता, तथा किसी एकाकी वन में छिपकर रहता है।

ये नियम गुरुदेव के आदेश हैं, और मनुष्य को हर तरह से उनका पालन तथा अनुष्ठान करना चाहिए। परंतु इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो असावधानी से अपने आपको निष्पाप समझते हैं, और जो यह नहीं जानते कि खाने से अशौच पैदा हो जाता है।

कुछ लोग व्यभिचारीसंबंधी एक-आध आज्ञा का पालन करने से ही कहते हैं कि हम पाप से मुक्त हैं। परंतु उन्हें यह विदित नहीं कि प्रत्येक आहार, अधर्म होने पर, नरक में पसीना बहाने का कष्ट देता है, उन्हें यह मालूम नहीं है कि भूल से उठाए हुए प्रत्येक पग के परिणाम से मनुष्य को विद्रोही के रूप में जीने का क्लेश सहना पड़ता है।

बोधिसत्व का मूल-संकल्प वायु के थैले को (जो कि भवसागर में पड़े हुए सभी प्राणियों को दिया गया है) कसकर रखना है, जिससे वह टपकने न पावे।

अपने छोटे-से-छोटे अपराध पर भी यदि हम आख खोले रहे ता इस घोषणा को कि यह जन्म अंतिम है, पूर्ण कर सकते हैं। छोटे-छोटे अपराधों को गेककर ओर शून्यवाद का चिंतन करके, हम दयालु पूज्यदेव की शिक्षा के अनुसार महायान और हीनयान दोनों संप्रदायों का अनुष्ठान युक्तिसंगत रीति से कर सकते हैं।

बुद्ध की शिक्षा का प्रचार ससार में दिन पर दिन कम हो रहा है। मैंने अपने बाल्य-काल में जो कुछ देखा था उसकी तुलना जब मैं उसके साथ करता हूँ जो कुछ कि मैं आज अपनी वृद्धावस्था में देख रहा हूँ तब अवस्था बिल्कुल भिन्न मालूम होती है, और हम इसकी साक्षी दे रहे हैं। आशा है कि भविष्य में हम अधिक सावधान रहेगे।

खाने और पीने की आवश्यकता चिरस्थायी है, परंतु जो लोग बुद्ध का पूजन ओर सेवन करते हैं उन्हें उसकी श्रेष्ठ शिक्षा की किसी भी बात की कभी उपेक्षा न करनी चाहिए।

मैं फिर कहता हूँ—बुद्ध के अस्सी सहस्र वादों में से केवल दो-एक ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, मनुष्य को सांसारिक मांग के अनुकूल होना, परंतु भीतर से सच्ची प्रज्ञा प्राप्त करने का यत्न करते रहना चाहिए। अच्छा, अब वह सांसारिक मार्ग क्या है ? यह है निषेधात्मक नियम का पालन करना और प्रत्येक प्रकार के पाप से बचना। सच्ची प्रज्ञा क्या है ? यह है विषयी और विषय के बीच के भेद-भाव को मिटा देना, उत्कृष्ट सत्य पर चलना और अपने आपको सांसारिक आसक्ति से मुक्त करना; कारणत्व की लड़ी की वर्तमान बेडियों को फेंक देना; बहुत-से शुभ कर्मों का संग्रह करके धार्मिक पुण्य-लाभ करना और अन्ततः पूर्ण तत्त्व के उत्कृष्ट अर्थ का अनुभव कर लेना। मनुष्य को न तो किसी त्रिपिटक से अनजान होना चाहिए, और न इसमें वर्णित सिद्धांतों और शिक्षा से घबराहट में ही पड़ना चाहिए।

जो मनुष्य नित्यता की सच्चाई का अनुभव करना चाहता है उसे पवित्रता से नैतिक आदेशों का पालन करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि छोटे-से दोष से भी बचता रहे क्योंकि, तैरने की मशक से थोड़ी-सी हवा निकल जाने के सदृश, इससे प्राण-हानि की सम्भावना है; मनुष्य को बड़े अपराध को रोकना चाहिए, क्योंकि वह मनुष्य के जीवन को निष्फल बना देता है। सारे बड़े-बड़े अपराधों में से मुख्य और प्रधान वे हैं जिनका संबंध भोजन और वस्त्र से है। बुद्ध की शिक्षा पर चलनेवाले के लिए मोक्ष बहुत दूर नहीं, परंतु जो उन पवित्र वचनों की उपेक्षा करता है, उसके लिए पुनर्जन्म सदा बना रहता है।

आवश्यक भोजन और वस्त्र

पार्थिव शरीर केवल भोजन और वस्त्र द्वारा ही रखा जाता है, और आध्यात्मिक ज्ञान शून्यता के सिद्धान्त के द्वारा ही बढ़ाया जा सकता है। यदि भोजन और आच्छादन का व्यवहार उचित नियमों के विरुद्ध हो तो पग-पग पर कोई-न-कोई अपराध होता रहेगा। इसलिए जो लोग मोक्ष की तलाश में हैं, उन्हें बुद्ध के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार भोजन और आच्छादन का व्यवहार करना चाहिए।

इहलोक के जीवन की रक्षा करो, जाँ कि भूले-भटके लोगों के लिए कारागार-मात्र है, परंतु निर्वाण-रूपी तट की ओर उत्सुकता से देखो, जो कि बोधि और विश्राम का मुक्त-द्वार है। धर्म-रूपी जहाज दुःख-रूपी समुद्र के लिए तैयार रखना चाहिए, और प्रज्ञा के दीपक का अधिकार के दीर्घकाल में ऊपर उठा रखना चाहिए।

प्रब्रज्या के जीवन के लिए आच्छादन के नियम सबसे अधिक महत्त्व रखने हैं, इसलिए मैं यहाँ परिच्छेद के ढग का संविस्तार उल्लेख करता हूँ, क्योंकि इनकी उपेक्षा अथवा संक्षेप नहीं किया जा सकता। तीन परिच्छेदों (चीवर) को लीजिए, तो भारत के पाँचों खंडों में धेगलियाँ सटी-सटी सी दी जाती हैं, परंतु एक चीन में वे खुली रहती हैं और सी नहीं जातीं। मैंने स्वयं अन्वेषण किया है कि उत्तरीय देशों में (भारत से परे) कैसी रीति प्रचलित है। मुझे पता लगा है कि जहाँ-जहाँ चतुर्निकाय के विनय पर आचरण होता है, वहाँ सभी स्थानों में धेगलियाँ सटी-सटी सी दी जाती हैं।

मान लीजिए कि पश्चिम (अर्थात्, भारत) के किसी भिक्षु को चीन का चीवर मिलता है; वह सम्भवतः धेगलियों को सीकर फिर से धारण करेगा।

सभी निकायों की विनय-पुस्तकों में धेगलियों को सीने तथा बांधने की आज्ञा है।

विनय में छः आवश्यक द्रव्यों (परिष्कारों) और तेरह अपरिहार्य वस्तुओं के सबंध में कड़े नियमों की पूरी-पूरी व्याख्या है। भिक्षु के छः परिष्कार आगे दिए जाते हैं—

1. सघाटी, जिसका अनुवाद 'दोहरा कचुक' किया जाता है।
2. उत्तरासग जिसका अनुवाद 'ऊपर का परिच्छेद' किया जाता है।
3. अंतर्वास, जिसका अनुवाद 'भीतर का परिच्छेद' किया जाता है।

ऊपर कहे गए तीनों चीवर कहलाते हैं। उत्तर के देशों में भिक्षुओं के ये कचुक अपने गेरुवे रंग के कारण प्रायः काषाय कहलाते हैं। परंतु इस पारिभाषिक शब्द का विनय में व्यवहार नहीं हुआ।

4. पात्र ।

5. निपीदन, अर्थात् बैठने अथवा लेटने के लिए कोई चीज ।

6. परिस्त्रावण, अर्थात् पानी की चालनी ।

दीक्षार्थी के पास ये छ. परिष्कार होने चाहिए ।

तेरह अपरिहार्य वस्तुएं निम्नलिखित हैं—

1. संघाटी, एक दोहरा कचुक ।

2. उत्तरासग, ऊपर का परिच्छेद ।

3. अतर्वास, भीतर का परिच्छेद ।

4. निर्षादन, बैठने अथवा लेटने की चटाई ।

5. (निवासन), एक अतरीय वसन ।

6. प्रतिनिवासन (एक दूसरा निवासन) ।

7. संगक्षिका, बगल को ढंकनेवाला कपडा ।

8. प्रति-संगक्षिका (एक दूसरी संगक्षिका) ।

9. (काय-प्रोखन), शरीर पोछने का तौलिया ।

10. (मुख-प्रोखन), मुह पोछने का तौलिया ।

11. (केश-प्रतिग्रह), मूड़ते समय बाल गिराने का कपडा ।

12. (कडुप्रतिक्खदन), खुजली को ढांपने का कपडा ।

13. (भेषजपरिष्कारचीवर), अर्थात् (आवश्यकता के समय) औषधियों देने के लिए रखा हुआ कपडा ।

यह एक गाथा-द्वारा इस प्रकार बताया गया है—

तीन चीवर, बैठने की चटाई (1, 2, 3, 4) ।

निवासनों और संगक्षिकाओं का एक जोडा (5, 6, 7, 8) ।

शरीर और मुख के लिए तौलिए, क्षौर के लिए कपडा (9, 10,

खुजली के लिए कपडा और औषध के लिए वास (12, 13) ।

प्रत्येक भिक्षु को ये तेरह अपरिहार्य वस्तुएं रखने का अधिकार है ।—

प्रतिष्ठित नियम है, और बुद्ध की शिक्षा के अनुसार इनको उपयोग में लाना इसलिए इन तेरह को विलासिता की दूसरी सामग्री में नहीं रख देना चाहिए । वस्तुओं की नामावली अलग बननी चाहिए । इन पर चिह्न लगाना चाहिए । स्वच्छ और सुरक्षित रखना चाहिए ।

इन तेरह में से जो-जो मिलें उन्हें रखो, परंतु उन सबको लेने का करो । शेष सब विलासिता के कपडे—जिनका उल्लेख ऊपर नहीं—इन वस्तुओं से भिन्न रखने चाहिए, परंतु ऐसी चीजे, जैसा कि ऊनी सामग्री अथवा लिये जा सकते और दानियों की इच्छा को स्वीकार करते हुए उपयोग में

औषधियाँ का मूल्य चुकाने के लिए बुद्ध ने भिक्षु को जो कपड़ा रखने का आज्ञा दी है वह कोई 20 फीट लम्बा अथवा रेशम का एक पूरा धान होना चाहिए सम्भव है, मनुष्य पर अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाय, और औषधि की प्राप्ति का उपाय शीघ्र ही ढूँढने पर मिलना कठिन हो। इस कारण एक फालतू कपड़ा पहले से ही तैयार रखने का विधान था, और चूंकि बीमारी के समय इसकी आवश्यकता होती है, इसलिए और प्रकार से इसे प्रयोग में न लाना चाहिए।

बारीक और मोटे रेशम की आज्ञा बुद्ध ने दी है। यदि जान-बूझकर जीव-हत्या की जाय तो उस कर्म के फल की आशा रखी जाएगी; परंतु यदि जान-बूझकर न हो तो, बुद्ध के वचनानुसार, कोई पाप न लगेगा। तीन प्रकार के शुद्ध मास ऐसे मास ठहराए गए हैं, जिनके खाने में कोई पाप नहीं। यदि इस नियम के भाव की अवहेलना की जाएगी तो कुछ-न-कुछ अपराध, वह थोड़ा भले ही हो, अवश्य लगेगा।

(तीन प्रकार का मास खाने में), हमारा हत्या का कोई सकल्प नहीं होता, इसलिए हमारे पास एक ऐसा कारण अथवा हेतु है जो हमारे मास-भक्षण को निषेध बना देता है।

ऐसे काम, जैसा कि रेशम के कीड़ों की कुसियारियाँ स्वयं जाकर मांगना, अथवा कीड़ों की हत्या होते देखना, उन लोगों का तो कहना ही क्या जो अंतिम मोक्ष की आशा रखते हैं, सामान्य लोगों के लिए भी उचित नहीं है। ये कर्म, इस दृष्टि से देखने पर, सर्वथा अनुचित सिद्ध होते हैं। परंतु मान लीजिए कि कोई दानपति (कोई ऐसी वस्तु जैसे रेशमी कपड़ा) लाकर भेंट करता है और भिक्षु 'अनुमत' कहकर उस दान को स्वीकार कर लेता है ताकि तपस्या में उसका शरीर बना रहे; तो कर्म से उसे कोई पाप नहीं लगता। भारत में भिक्षुओं के वस्त्र यों ही बे ठौर-ठिकाने टाँके और सिये जाते हैं, कपड़े के ताने-बाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। उनके निर्माण में तीन या पाँच दिन से अधिक नहीं लगते।

रेशम के कीड़ों का नाम कौशेय है, और जो रेशम उनसे बनवाया जाता है वह भी कौशेय ही कहलाता है; वह बड़ी मूल्यवान् चीज है, और (गदेले के लिए) इसका उपयोग निषिद्ध है। गदेला बनाने की दो विधियाँ हैं; एक विधि यह है कि कपड़े की थैली सीकर उसमें ऊँच भर दिया जाता है, और दूसरी यह कि (सूत के) धागे (गदेले में) बुन दिए जाते हैं। गदेले का परिमाण दो हाथ चौड़ा और चार हाथ लंबा होता है; यह ऋतु के अनुसार मोटा और पतला होता है। गदेले के लिए मागने का निषेध है, पर यदि कोई दूसरा दे तो (उसके लेने में) कोई पाप नहीं, किंतु इसके (वास्तविक) उपयोग के लिए (बुद्ध की) आज्ञा नहीं थी, और कड़े नियम

सविस्तार बनाए गए थे। ये सब वस्तुएँ लेटने के लिए हैं, और वही चीज़ नहीं जो कि तीन कपड़े (अर्थात् त्रिचीवर) है।

फिर 'विनय' में वर्णित 'शुद्ध-वृत्ति' का अर्थ, सबसे बढ़कर, मनुष्य का खाना (मूलार्थतः, मुख और आमाशय) है। भूमि को जोतने का कार्य इसके योग्य रीति के अनुसार करना चाहिए (अर्थात्, अपने लिए भूमि-कर्षण की आज्ञा नहीं, परंतु बौद्ध-संघ के निमित्त ऐसा करने की अनुमति है), परंतु बोना और रोपना शिक्षा (मूलार्थतः, शिक्षा के जाल) के विरुद्ध नहीं। धर्मानुसार भोजन करने में कोई पाप नहीं, क्योंकि आरम्भ में कहा गया है कि 'चरित्रगठन से सुख बढ़ता है।'

विनय की शिक्षा के अनुसार, जब संघ अनाज का खेत जोते तब उपज का एक भाग विहार के नौकरों अथवा किसी दूसरे परिवारों को, जिन्होंने वास्तव में जोतने का काम किया है, दिया जाना चाहिए। प्रत्येक उपज को छः भागों में बाटना चाहिए, और छठा भाग संघ बटोर ले, सघ को बैल और खेती के लिए भूमि देनी होती है, फिर सघ और किसी वस्तु के लिए उत्तरदाता नहीं। कभी-कभी उपज की बाट में ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिए।

पश्चिम के बहुत-से विहारों में उपर्युक्त रीति प्रचलित है, परंतु कुछ लोग बड़े लालची हैं और उपज को नहीं बांटते, किंतु भिक्षुगण स्वयं ही, क्या पुरुष और क्या स्त्री, सब नौकरों का काम बांट देते हैं, और देखते रहते हैं कि खेती का कार्य यथोचित रूप से हो रहा है।

जो लोग धार्मिक उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं वे ऐसे लोगों का दिया हुआ भोजन नहीं खाते, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे भिक्षु काम की कल्पना आप तैयार करते हैं, और 'अशुद्ध वृत्ति' से अपना पोषण करते हैं, क्योंकि किराए के नौकरों को बलपूर्वक दबाने से मनुष्य के क्रोध में आ जाने की सम्भावना है, भूमि को जोतते समय बीजों के टूटने और बहुत-से जीवों की हिंसा का डर है। मनुष्य का दैनिक भोजन एक शग से अधिक नहीं, फिर उसकी प्राप्ति के यत्न में कौन सैकड़ों पापों को सह सकता है ?

विनय के अनुसार, भिक्षु को सघ के लिए अर्थ-प्राप्ति की चेष्टा करने की आज्ञा है, परंतु बुद्ध की शिक्षा में भूमिकर्षण और जीवहिंसा की आज्ञा नहीं, क्योंकि कृमियों की हिंसा और उचित चेष्टा में रुकावट जितनी कृषि में होती है, उससे अधिक और किसी में नहीं।

जब मैं पहले-पहल ताम्रलिप्ति में गया तब मैंने विहार के बाहर एक चौक में इसके कुछ इजारेदार देखे, जिन्होंने वहां प्रवेश करके, कुछ तरकारियां तीन भागों में बांटी थीं, और जो उन तीन भागों में से एक भाग भिक्षुओं की भेंट करके, शेष भाग लेकर वहां से वापस आ गए थे। मैं नहीं समझ सका कि वे क्या करते थे।

मैने पूज्यवाढ तशग तअग (महायानप्रदीप से अभिप्राय पूछा) उन्होने उत्तर दिया इस विहार के भिक्षु प्रायः व्यवस्थाओं पर चलनेवाले हैं। क्योंकि महामुनि ने भिक्षुओं के लिए स्वयं खेती करने का निषेध किया है, इसलिए उनकी जिन ज़मीनों पर कर लगता है, उनमें वे खुले तौर से दूसरों से खेती कराते हैं, और उपज का केवल एक भाग ही आप लेते हैं। इस प्रकार वे सासारिक बातों से बचने हुए और खेतों में हल चलाने तथा जल-सिंचन-द्वारा होनेवाली जीव-हत्या के दोषों से मुक्त रहकर, शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं।

मैंने यह भी देखा कि उस विहार का प्रबंध करनेवाला भिक्षु कुए के घाट पर जल की परीक्षा करता है। यदि उस जल में कोई जीव नहीं होता तो उसका उपयोग किया जाता है, और यदि उसमें कोई जीव होता है तो उसे छान लिया जाता है, जब दूसरे लोग (भिक्षुओं को) कोई वस्तु, यहाँ तक कि तरकारी का एक डठल भी देते हैं, तब वे संघ की अनुमति से उसका उपयोग करते हैं, उस विहार में कोई प्रधान पद निर्दिष्ट नहीं किया जाता है, जब कोई काम पड़ता है तब संघ-द्वारा इसका निर्णय किया जाता है, और यदि कोई भिक्षु किसी बात का निश्चय अपने आप कर देता है, अथवा संघ की इच्छा की परवाह न करके स्वेच्छानुसार भिक्षुओं के साथ प्रिय अथवा अप्रिय व्यवहार करता है, तो उसे कुलपति (अर्थात्, उसने गृहस्थों जैसा व्यवहार किया) कहकर (विहार से) निकाल दिया जाता है।

निम्नलिखित बातों पर भी मेरी दृष्टि पड़ी है। जब भिक्षुणियाँ विहार में भिक्षुओं के पास जाती थीं तब वे पहले (संघ को अपना प्रयोजन) सुनाकर उधर जाती थीं। भिक्षुओं को जब भिक्षुणियों की कोठरियों में जाना होता था तब वे पूछ-ताछ करने के बाद उधर जाते थे। वे (भिक्षुणियाँ) विहार से दूर होने पर दो-दो मिलकर चलती थीं, परंतु जब उन्हें किसी आवश्यक काम के लिए किसी सामान्य मनुष्य के यहाँ जाना होता था तब वे उधर चार मिलकर जाती थीं। मैंने देखा कि प्रत्येक मास के चार उपवसथ-दिनों में भिक्षुओं का एक बहुत बड़ा समूह एकत्र होता था। वे सब अनेक विहारों से तीसरे पहर देर से वहाँ इकट्ठे होकर विहार-विषयक विधियों का पाठ ध्यान-पूर्वक सुनते और बढ़ते हुए सम्मान के साथ उनको मानते और करते थे।

स्त्रियाँ जब कभी मठ में प्रवेश करती थीं, कभी (भिक्षुओं की) कोठरियों में नहीं जाती थीं, वरन् उनके साथ थोड़ी देर तक बराडे में बातचीत करके वापस चली जाती थीं। उस समय उस विहार में अ-र-हु ('शि' नहीं) ल-मि-त्त-र (राहुलमित्र) नाम का एक भिक्षु था। वह उस समय कोई तीस वर्ष का था; उसका आचरण बहुत ही उत्कृष्ट और उसकी कीर्ति अत्यन्त महान् थी। वह न केवल त्रिपिटक का ही पारदर्शी पंडित था वरन् चार विद्याओं के लौकिक साहित्य में भी पूरा-पूरा

निपुण था। भारत के पूर्वी प्रांतों में उसकी पूजा भिक्षु-शिरोमणि के रूप में होती थी। जब से उसने दीक्षा ली थी तब से अपनी माता और बहन के सिवा, किसी स्त्री के साथ आमने-सामने होकर कभी बात नहीं की थी। वे भी जब उसके पास आती थी, तब वह (अपने कमरे से) बाहर आकर उनसे मिलता था। एक बार मैंने उससे उसके ऐसे आचरण का कारण पूछा, क्योंकि यह धार्मिक नियम नहीं है। उसने उत्तर दिया—‘मैं स्वभावतः सांसारिक अनुराग से भरा हुआ हूँ, और ऐसा किए बिना मैं इसके स्रोत को बंद नहीं कर सकता।’ यद्यपि पुण्यात्मा ने हमारे लिए (स्त्रियों से बातचीत करने का) निषेध नहीं किया, तो भी, यदि खोटी वासनाओं को रोकने का प्रयोजन हो तो यही उचित है (कि उन्हें दूर रखा जाय)।

नालंद विहार के रहनेवालों की संख्या बड़ी और 3,000 से अधिक है। इसके अधिकार में जो भूमि है, उसमें 200 से अधिक गाव हैं। ये भूमियां अनेक पीढ़ियों के राजाओं ने (विहार को) दान में दी हैं। इस प्रकार धर्म का अभ्युदय सदा बना रहता है, जिसका कारण सिवा (इस बात के कि) विनय के (अनुसार ठीक-ठाक आचरण किया जाता है) और कुछ नहीं।

अच्छा, अब हम घर क्यों छोड़ते हैं ? इसका कारण यह है कि हम पांच शंकाओं के भयानक मार्ग का परित्याग करने के लिए सांसारिक दुःखों से अलग रहना, और उससे श्रेष्ठ आठ पर्वतवाले (मार्ग) के प्रशांत चबूतरे पर पहुँचना चाहते हैं। तब क्या यह ठीक है कि हम दुःखों में फँस जाएँ, और एक बार फिर (पाप के) जाल में पकड़े जाएँ ?

यदि हमारा आचरण ऐसा है तो निर्वाण-प्राप्ति की हमारी इच्छा कभी पूर्ण न होगी। बल्कि, कहा जा सकता है कि हम मोक्ष के सर्वथा विरुद्ध कर्म कर रहे हैं, और निर्वाण-पथ के अनुगामी नहीं। केवल यही बात युक्तिसंगत है कि हम, अपनी अवस्थाओं के अनुसार, बारह धूतागों का अनुष्ठान करते हुए, और केवल तरह अपरिहार्य वस्तुएं रखते हुए, अपने जीवन का पोषण करें। कर्म के प्रभाव को नष्ट करना है; अपने गुरु, अपने संग और अपने माता-पिता के किए हुए उपकारों का बदला चुकाना है, और देवों, नागों अथवा राजाओं ने जो प्रगाढ़ करुणा दिखाई थी उससे उद्धार होना है। ऐसा आचरण करना वास्तव में मानवी घोड़े को सधानेवाले (अर्थात्, बुद्ध) के उदाहरण का अनुकरण करना और विनय-मार्ग का यथार्थ रीति से अनुसरण करना है। इस प्रकार मैंने भिक्षु के जीवन की रीति का विचार किया है, और (चीन तथा भारत के) वर्तमान अनुष्ठानों का वर्णन कर दिया है।

1 पांच शंकाएँ ये हैं—(i) जीविका की न्यूनता, (ii) अपयश, (iii) मृत्यु, (iv) पशु आदि नीच योनि में जन्म, (v) और सांसारिक प्रभाव।

परमात्मा करे कि सभी धर्मशील लोगो को मेरा यह विमर्ष बहुत सुदीर्घ न जान पड़े मैं चाहता हूँ कि बुद्धिमान् लोग गम्भीर ध्यान दे और परिधान के विशेष नियमो को देखे। फिर भारत के सामान्य मनुष्यो, अधिकारियो और उच्च श्रेणी के लोगो का परिधान श्वेत कोमल कपड़े का एक जोड़ा होता है, परन्तु निर्धन और छोटी श्रेणी के लोगो के पास सन के कपड़े का केवल एक टुकड़ा ही होता है। प्रव्रजित के पास ही तीन चीवर और छ. परिष्कार होते हैं, और जो भिक्षु अधिक की कामना करता है (मूलार्थत, जो विलासिता से प्रेम करता है) वह तेरह अपरिहार्य वस्तुओ का उपयोग कर सकता है।

अब मैं जम्बूद्वीप और समस्त दूर-दूर के टापुओ के लोगो तथा उनके वेशो का स्थूल रूप से वर्णन करूँगा। महाबोधि से पूर्व की ओर लिन-इ (अर्थात् चम्पा) तक (अन्ना मे) क्वन-चोउ की दक्षिणी सीमाओ तक फैले हुए बीस देश हैं। यदि हम दक्षिण-पश्चिम की ओर चले तो हम समुद्र पर पहुँच जाते हैं; और उत्तर में इसकी सीमा कश्मीर है। दक्षिणी सागर में, सिंहल द्वीप को मिलाकर, दस से अधिक देश (द्वीप) हैं। इन सब देशो में लोग दो कपड़े (संस्कृत, कंबल) पहनते हैं। ये सन के चौड़े कपड़े के होते हैं जो कि आठ फीट लम्बे होते हैं। इसमें कोई कटिबंध नहीं होता, और न यह काटा या सिया ही जाता है, वरन् निचले भाग को ढापने के लिए कमर के गिर्द केवल लपेट लिया जाता है।

भारत के अतिरिक्त, पारसों (फारसियों) और तजकों (जो प्रायः अरब समझे जाते हैं) के देश भी हैं जो क्रमीज़ और पायजामा पहनते हैं। नंगे लोगों के देश (निकोबार द्वीप) में लोगों के शरीर पर कपड़ा बिलकुल नहीं होता, पुरुष और स्त्रिया सभी समान रूप से दिगंबरी वेश में रहते हैं। कश्मीर से लेकर सूलि, तिब्बत और तुर्क जातियो के देश—जैसे मंगोल देशों—तक रीतियाँ एक-दूसरे से एक बड़ी सीमा तक मिलती हैं; इन देशों के लोग ढापने का कपड़ा (संस्कृत, कंबल) नहीं पहनते, परन्तु सामर्थ्यानुसार बहुत-सा ऊन या चमड़े का उपयोग करते हैं, और वहाँ कर्पास (अर्थात् कपास) जो हम कभी-कभी पहनी हुई देखते हैं, बहुत कम होती है। ये देश ठंडे हैं, इस कारण यहाँ के लोग सदैव क्रमीज़ और पायजामा रखते हैं। इन देशो में पारसों, नंगे लोगो, तिब्बतियों और तुर्क जातियो में बुद्ध-धर्म नहीं है, परन्तु अन्य देश बुद्ध-धर्म के अनुयायी थे और हैं; और जिन देशों में क्रमीज़ और पायजामा पहना जाता है वहाँ के लोग शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते। इसलिए भारत के पाँचों खंडों के लोग अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं। परन्तु उच्च संस्कृति, साहित्यिक लालित्य, औचित्य, मिताचार, स्वागत और विदाई के शिष्टाचार, भोजन की स्वादुप्रवृत्ति, उदारता और पुण्यशीलता की प्रचुरता केवल चीन में ही पाई जाती है; कोई दूसरा देश (इन बातों में) उससे बढ़ नहीं सकता। पश्चिम से भिन्नता

की बातें ये हैं—(1) भोजन की शुद्धता की रक्षा न करना, (2) मूत्रत्याग करने के पश्चात् जल का न लेना, (3) दातुन न करना। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विधिविरुद्ध वस्त्र धारण करने को अनुचित नहीं समझते, वे सक्षिप्त विनय के वचन का प्रमाण देते हैं। वह वचन इस प्रकार है—‘एक देश में जो बात अपवित्र समझी जाती है, वही यदि दूसरे देश में पवित्र समझी जाती हो, तो वहां इस पर अनुष्ठान करने में कोई पाप नहीं।’ परंतु इस वचन को कुछ अनुवादकों ने ठीक तौर पर नहीं समझा, इसका वास्तविक अर्थ वह नहीं जो ऊपर दिया गया है।

बुद्ध और अन्य पूज्य मुनियों की मूर्तियों के सामने सामान्य रूप से मनुष्य कधा नंगा रखता है और इसको ढकने से अपराध लगता है। प्रव्रजित हो जाने का अर्थ दुःखों से मुक्त हो जाना है।

जब शीत-काल में मनुष्य घर से बाहर नहीं जाता, तब वह भली-भांति कोयलो की आग का उपयोग कर सकता है, और उसे अनेक वस्त्र पहनने का कष्ट उठाने की आवश्यकता नहीं। यदि रोग के कारण मनुष्य को मोटे परिधान का प्रयोजन हो तो वह अस्थायी रूप से जो चाहे कर सकता है, परंतु शर्त यह है कि वह नियमों को न तोड़े। चीन में शीत-काल बड़ा दुःसह होता है, प्रायः हमारे शरीरों को चीरता जाता है, और गरम कपड़ों के बिना हमारा जीवन जोखिम में रहता। धर्म में यह बड़ी कठिनाई है, परंतु मोक्ष को ऐसे प्रदेशों के लोगों का समावेश अवश्य करना चाहिए।

महानदी (चीन में ह्वांगहो) अपनी पवित्र धारा को (बुद्ध गया में) मुचिलिद सरोवर में मिला देती है। ‘पतला बेत’ (हसी-लीऊ) अपनी शोभा में उस बौधिवृक्ष के साथ मिल जाता है जो अपनी उज्ज्वल कीर्ति के साथ हरा-भरा है और शहतूत के पेड़ों के खेत के (समुद्र में) परिवर्तित हो जाने, अथवा कल्प पत्थर के बिलकुल घिस जाने के बाद तक सदा फूला-फला रहेगा। तब (बुद्ध) धन्य है ! आओ हम (उसके सिद्धांत पर चलने के लिए) एक बार प्रयत्न करें। सूर्य-सदृश बुद्ध छिप गया है, और आनेवाले समयों के लिए अपनी शिक्षा पीछे छोड़ गया है। यदि हम उसकी शिक्षा पर आचरण करते हैं तो मानो हम अपने गुरुदेव की विद्यमानता में ही रहते हैं, और यदि हम उसकी शिक्षा के प्रतिकूल चलते हैं तो उसमें अनेक दोष प्रकट हो जाएंगे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—‘मेरे उपदेशों पर ठीक-ठीक चलो, तब मैं (गुरुदेव) उसी प्रकार इस संसार में मौजूद हूँ।’

मनुष्य के जीवन में, सबसे आगे और सबसे पहले, भोजन और आच्छादन है।

1. संभवतः यहां महापरिनिर्वाण-सूत्र से अभिप्राय है। ‘मेरी मृत्यु के पश्चात् धर्म और सभ्य के नियम, जिनकी मैंने शिक्षा दी है, तुम्हारे गुरु हैं।’

मनुष्य के लिए ये दो बेडिया और हथकड़िया हैं
 जो उसको पुनर्जन्म के क्षेत्र के साथ बाधती हैं।
 आर्य-वचन पर चलो,
 विश्राम और मुक्ति उसकी होगी।
 यदि स्वार्थपरता उसकी पथप्रदर्शिका होगी।
 तो पाप और कष्ट उसे घसीटेंगे।
 हे बुद्धिमान् मनुष्य ! सावधान। प्रतिफल प्रत्यक्ष है।
 जब आठ¹ वायु तुम्हारे शरीर से चले गए।
 तब फिर पांच शकाएँ² तुम्हें नहीं धमकाएंगी।
 सदा मणि के सदृश पवित्र रहो जो कि कीचड़ में भी पवित्र है,
 ऐसे उजले जैसे कमल की पत्तियों पर ओस।
 यदि तुम्हारा शरीर ढंपा हुआ है, तो परिच्छेद पर्याप्त है।
 यदि तुम भूख से नहीं मरते तो भोजन यथेष्ट है।
 केवल मोक्ष की तलाश करो, मनुष्य या देव की नहीं।
 धूतांगों का अनुष्ठान करते हुए जीवन व्यतीत करो।
 जीवों की रक्षा करते हुए अपने वर्ष समाप्त करो।

11

परिच्छेद धारण करने की रीति

परिच्छेद का दाया कोना लेकर उसे बाये कंधे पर रखो और उसे पीठ पर लटकने दो। यह बांह पर न अटके। उसके खूंट को फिर कंधे पर और स्वयं परिच्छेद को गले के गिर्द आने दो। (परिच्छेद गले के गिर्द इस प्रकार रखा जाता है कि) दोनों हाथ इसके नीचे आ जाते हैं; परिच्छेद का दूसरा खूंट लटकता है। राजा अशोक की मूर्ति का परिच्छेद इसी प्रकार का है।

छाता बांस की छड़ियों से बुनना और बांस की पिटारी के समान पतला बनाना चाहिए, परंतु वह दोहरा ढका हुआ न हो। इसका परिमाण, मनुष्य की अपनी इच्छा के अनुसार, (व्यास में) दो या तीन फीट हो सकता है। मध्य भाग दोहरा बनाना चाहिए, ताकि उसमें मूठ लगाई जाय। मूठ की लम्बाई छाते की चौड़ाई के अनुरूप होनी चाहिए। बांस की छड़ियों के छाते पर लाख का वार्निश किया जा सकता है।

1 वेदात सार में पांच प्राण और कपिल के अनुयायियों के मतानुसार दस वायु।

2 (i) जीविका की न्यूनता, (ii) अपयश, (iii) मृत्यु, (iv) पशु आदि नीच योनि में जन्म और (v) सांसारिक प्रभाव।

बास की जगह यह नरकट का बुना जा सकता है यह बेत की बुनी हुई टापी के सदृश होता है। हम चीन में ऐसे छाते का उपयोग नहीं करते; फिर भी इसका उपयोग करना आवश्यक है। इसके द्वारा वर्षा के समय हमारे कपड़े भीगने से बच सकते हैं, और ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप में हम अपने आपको ठंडा रख सकते हैं। छतरी का व्यवहार विनय के नियमों के अनुरूप और हमारे शरीरों के लिए लाभदायक है, और इसके व्यवहार में कुछ भी हानि नहीं।

पानी का बर्तन, भिक्षा का कटोरा और तुम्हारी सारी चीजें तुम्हारे कंधों पर लटकाई जानी चाहिए। उन्हें इस प्रकार लटकाना चाहिए कि वे ठीक तुम्हारे शरीर के पार्श्वों तक पहुँचे, सामनेवाला पिछली ओर वाले को पार न करे। वस्तुओं को लटकाने के लिए जिस रस्से का उपयोग किया जाता है, वह लंबा नहीं होता, किंतु केवल कंधे पर रखने के लिए ही ठीक पर्याप्त होता है। जब चीजें छाती के साथ लटकती हो तब सांस लेना सुगम नहीं होता और ठीक नियमों के अनुसार ऐसा नहीं होना चाहिए।

जब तुम किसी मंदिर में अथवा किसी सामान्य उपासक के घर जाओ, तब तुम्हें दालान में जाकर अपना छाता रखना और फिर लटकानेवाली वस्तुओं को खोलना होगा। दालान की दीवार पर हाथी-दांत की अनेक खूटियाँ लगानी होती हैं, ताकि आगंतुक को एक ऐसा स्थान मिल जाय, जहाँ वह अपनी वस्तुएँ लटका सके।

पतले रेशम का बना हुआ कापाय बहुत सूक्ष्म होता है और कंधे पर नहीं ठहरता; जब पूजा में आप झुकते हैं तब प्रायः फिसलकर भूमि पर आ जाता है। यदि तुम इसे किसी ऐसे द्रव्य का बनाना चाहते हो, जो इस प्रकार सुगमता से नीचे न फिसल पड़े, तो सबसे उत्तम खुरखुरा रेशम अथवा सन का नर्म सफ़ेद कपड़ा है।

अपने घर में सामान्यतः संकक्षिका और साया ही पहने जाते हैं। जब मनुष्य बाहर जाय और प्रतिमा का पूजन करे तब उसे और कपड़े मिला लेने चाहिए। अब मैं संक्षेप में साया पहनने की रीति का वर्णन करूँगा। मूलसर्वास्तिवादनिकाय के ग्रहण किए हुए साया के नियमों के अनुसार, साया पाँच हाथ लंबा और दो हाथ चौड़ा कपड़े का एक टुकड़ा होता है। माल, जैसा मनुष्य को मिल सके, उसके अनुसार, रेशम या सन का कपड़ा हो सकता है।

भारतीय लोग इसे इकहरा, परंतु चीनी लोग दोहरा बनाते हैं; लंबाई और चौड़ाई निश्चित नहीं। शरीर के (निचले भाग के) गिर्द रखकर इसे इतना ऊपर को खींचो कि तुम्हारी नाभि ढँक जाय। अब तुम्हें अपने साए के ऊपर के खूट को अपने दाएँ हाथ के साथ बायें हाथ की ओर धामना, और (अपने बायें हाथ के साथ) अपने साये के दूसरे सिरे—जो कि भीतर की ओर तुम्हारे दाहिने हाथ के पार्श्व के इर्द-गिर्द

है बाहर खींचना है अपना वाया पार्श्व अपने उत्तराय चीवर की बायी झूल से (और दायां पार्श्व दायाँ झूल से) ढंक दो।

अपने 'निवास' (साये) के दोनों सिरों को दोनो हाथों के साथ बिलकुल सामने ले आओ, मध्य में उन्हें मिला दो और उन्हें तीन ऐंठे दो। तब उन तीन ऐंठों को अपनी पीठ के गिर्द लाओ; उनको तीन उगली भर ऊंचा उठाओ, और तब भीतर की ओर कोई तीन अंगुल नीचे दबा दो। इस प्रकार डोरियां न होने पर भी साया फिसलता नहीं। अब कोई पांच हाथ लंबी कमर की पेटी लो, इसके अकड़ (हुक) वाले भाग को अपनी नाभि के ठीक नीचे लाओ, और अपने साये के ऊपरी किनारे के गिर्द बांध दो।

कमर की पेटी के दोनो सिरें तुम्हारी पीठ पर आएँ और एक-दूसरे को लाधे, उन्हें फिर अपने बायें और दाहिने पार्श्वों की ओर पीछे खींचना होता है, जहाँ तुम्हें उनको अपनी बांहों के साथ दृढ़तापूर्वक दबाना पड़ता है, जबकि तुम दोनो सिरों को (सामने) तीन बार मिलाते और बांधते हो। यदि कमर की पेटी बहुत लंबी हो तो तुम्हें उसको काटना पड़ता है; यदि बहुत छोटी हो तो उसमें कुछ और जोड़ना होता है। कटिबंध के दोनों सिरों को सी देना या सजाना नहीं चाहिए।

साया पहनने की ऊपर कही रीति सर्वास्तिवादनिकाय को दूसरे निकायो से अलग करती है। यह परिमंडल निवास (—यति) कहलाती है, जिसका चीनी में अर्थ है—'साया पहनने की गोल-शुद्ध रीति।' (कटि) बंध की चौड़ाई एक उंगली के सदृश होती है। जूते का तसमा, मोजे का बंधन इत्यादि गोल हो चाहे वर्ग; दोनों की आज्ञा है। विनय-पुस्तको में कप्तान के रस्से जैसी वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं।

जब तुम छोटी कुर्सी अथवा लकड़ी के कुदे पर बैठते हो, तब तुम्हें अपने 'निवास' के ऊपरी भाग को अपने उत्तरीय की झूल के नीचे रखना, और साया को शीघ्रता से ऊपर खींचना होता है, जिससे यह (आसन पर) तुम्हारी जाघों के नीचे आ जाय। तुम्हारे दोनो घुटने ढके होने चाहिए, परंतु तुम्हारी नरहड़ के नगा रहने में कोई दोष नहीं।

सारा 'निवास' मनुष्य की नाभि से लेकर उसके टखनों की हड्डियों से चार उगली ऊपर तक ढापे रहे, यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन उस समय किया जाता है जबकि भिक्षु किसी सामान्य मनुष्य के घर में होता है। परंतु जब हम विहार में हों, तब नरहड़ के निचले अर्धभाग को खुला रखने की आज्ञा है। यह नियम स्वयं बुद्ध ने बनाया था, और इसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन नहीं करना चाहिए। शिक्षा के विरुद्ध कार्य करना और अपनी स्वार्थ पर इच्छा पर चलना उचित नहीं। जो निवास तुम पहने हुए हो, यह यदि लंबा है और भूमि से छूता है, तो तुम एक ओर तो किसी श्रद्धालु भक्त के दिए हुए शुद्ध दान को खराब

कर रहे हो, और दूसरी ओर गुरुदेव के आदेशों का उल्लंघन कर रहे हो

तुममें से कौन है जो मेरे सदय प्रतिवाद पर चलेगा ? परमात्मा करे कि दस सहस्र भिक्षुओं में एक भी व्यक्ति ऐसा हो, जो मेरे शब्दों पर ध्यान दे ।

जो निवास (साया) भारत में पहना जाता है, वह शरीर के निचले भाग के गिर्द आड़े रूप से पहना जाना है। भारत का श्वेत कोमल कपड़ा, जिसका निवास के रूप में उपयोग होता है, दो हाथ चौड़ा होता है, अथवा कभी-कभी इसकी चौड़ाई आधी (एक हाथ) होती है।

निर्धन लोग यह कपड़ा (जितना एक नियमित निवास के लिए आवश्यक होता है उतना) प्राप्त नहीं कर सकते। (व्यय को बचाने के लिए) मनुष्य कपड़े के दोनों किनारों को मिलाकर टाक सकता, और खोलकर उसमें टाके डाल सकता है। इससे मतलब पूरा हो जायेगा।

फिर परिव्राजक के सारे वस्त्र 'कड' (पीले) रंग में रंगने चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रंग बहुत गहरा या बहुत हल्का न हो।

(लागत बचाने के लिए) मनुष्य केवल खजूरों, लाल मिट्टी, पिसे हुए लाल पत्थर, जगली नासपाती, या त'उ-त्तजू (मटियाला बैंगनी) का उपयोग कर सकता है।

शहतूत की छाल से तैयार किया हुआ रंग, और नीले तथा हरे रंगों का निषेध है। असली बैंगनी और गहरा भूरा पश्चिम में ग्रहण नहीं किया जाता।

जूतों और खड़ाऊ के विषय में बुद्ध के बनाए हुए कुछ नियम हैं। लंबे जूते अथवा अस्तरवाले खड़ाऊ नियमों के विरुद्ध हैं। बुद्ध किसी भी बेल-बूटेदार अथवा सजाई हुई वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं देता था।

12

भिक्षुणी के वेश और अंत्येष्टि-कर्म के नियम

विनय के अनुसार भिक्षुणी के लिए पांच वस्त्र हैं—

(1) संघाटी, (2) उत्तरासग, (3) अंतर्वास, (4) संकक्षिका तथा (5) साया।

पहले चार वस्त्रों के ढग और नियम वही हैं जो सघ के बड़े (पुरुष) सदस्यों के हैं, परंतु लहंगे का एक अंश भिन्न है। संस्कृत में भिक्षुणी के साया को 'कुसूलक' कहते हैं, जिसका अनुवाद 'खत्ता-जैसा वस्त्र' किया जाता है, क्योंकि इसकी आकृति, दोनों सिरे इकट्ठे सिले हुए होने से, एक छोटे खत्ते (कुसूल) की-सी होती है; इसकी लंबाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती है। यह ऊपर की ओर नाभि तक ढकता

1 कड या गड कोई संस्कृत शब्द जान पड़ता है।

है और नीचे की ओर गुल्फो से चार अंगुल ऊपर तक आता है।

भिक्षुणी जब घर से बाहर अथवा भिक्षु के सामने हो, या किसी भक्तजन ने उसे अपने घर पर भोज के लिए निमन्त्रित किया हो, तब उसका काषाय सदा उसके कंठ के गिर्द होना और उसका शरीर उससे ढका रहना चाहिए; काषाय का कंधे का फीता खोलना नहीं चाहिए। परंतु अपने हाथों को (काषाय के) नीचे से बाहर निकालना चाहिए। सकक्षिका पहनने, एक कंधा खुला रखने, या कमीज अथवा पायजामा पहनने का निषेध स्वयं महामुनि ने किया है। भिक्षुणियों को ये चीजे नहीं रखनी चाहिए।

जब भिक्षुणी विहार में या अपने कमरों में हो, तब एक कुसूलक और एक सकक्षिका पर्याप्त होगी। परंतु सब कहीं लज्जा को पर्याप्त रूप से ढकना चाहिए, यहां तक कि मूत्रत्याग करने के स्थान में भी कंधे नंगे न होने चाहिए।

गरम कपड़े यदि कोई चाहे तो शरत्काल और हेमंत में धारण किए जा सकते हैं। कटोरे में भिक्षा मांगकर शरीर का पर्याप्त रूप से पोषण हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का मन, चाहे वह स्त्री ही हो, बलवान् हो तो उसे न धड़की और खड्डी में लगने का और न साधारण (घरेलू) काम करने का ही प्रयोजन है, फिर अनेक कपड़े—कभी पांच, कभी दस—पहनने की आवश्यकता उसे और भी कम है।

कुछ (भिक्षुणियां) ऐसी हैं, जिनको ध्यान अथवा पठन का कभी विचार नहीं आता, जो पार्थिव कामनाओं-द्वारा हाकी जाकर आगे की ओर दौड़ रही हैं। दूसरी ऐसी हैं जो शील (उपदेशों) की कुछ भी परवाह न करके गहने और कपड़े से बहुत प्यार करती हैं। ये सब व्यक्ति इस योग्य हैं कि सामान्य अनुयायी इनकी परीक्षा करें। भारत की भिक्षुणियां चीन की भिक्षुणियों से बहुत भिन्न हैं। वे भिक्षा मांगकर निर्वाह करतीं और दरिद्र तथा सरल जीवन बिताती हैं।

मनुष्य का मूल संकल्प मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर-बार छोड़ने का था। तीन (विषैले) वृक्षों की हानिकारक जड़ों को काट डालने के लिए, और चार बहती हुई धाराओं^१ के विपुल विस्तार को रोकने के लिए, मनुष्य को 'त' के अनुष्ठान पूरे करने चाहिए और सुख-दुःख के भयानक पथ से बचना चाहिए; मन को स्वच्छ करके और अपनी कामनाओं को दबाकर मनुष्य को मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलना चाहिए। दिन-रात शील पर ध्यान देने से धर्म बढ़ता और फैलता है। यदि मनुष्य सदा अपने शरीर को चैन में रखने का ही विचार करता रहता है, तो वह भूल करता

१ लोभ, घृणा और मूर्खता, इनका दूसरा नाम 'तीन विष' है।

२ पार्थिव कामना, भाव की अवस्था, भ्रात बुद्धि और अविद्या, इनका दूसरा नाम 'चार जूए' है।

हे जब मनुष्य विनय की शिक्षा के अनुसार अनुष्ठान में पक्का और आचरण में सच्चा होता है, तब नाग, प्रेत, देव और मानव उसके अनुयायी और पुजारी बन जाते हैं। तब मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए क्यों इतना चिंतातुर होना और (सासारिक मार्ग का) व्यर्थ परिश्रम करना चाहिए ?

पाच कपड़े, एक ठिलिया और एक भिक्षापात्र भिक्षुणियों के निर्वाह के लिए पर्याप्त हैं, और उनके जीवन को बचाने के लिए एक छोटी-सी कोठरी यथेष्ट है। निज के भोज घटाए जा सकते हैं और इस प्रकार सामान्य भक्तजनों के कष्टों से बचा जा सकता है, भिक्षुणिया कीचड़ में पड़े हुए रत्न अथवा जल में कमल के समान शुद्ध हो सकती हैं, और इस प्रकार उनका जीवन, चाहे नीच कहलाए, पर वास्तव में प्रज्ञा का जीवन है जो कि एक उच्च व्यक्ति के जीवन के समान है।

भिक्षु और भिक्षुणिया अपने माता-पिता की मृत्यु के समय अत्येष्टि-क्रिया में सदा से यथेष्ट चिंता से काम नहीं लेतीं अथवा सामान्य लोगों के सदृश ही शोक नहीं करती, और फिर भी अपने आपको पितृ-भक्त सतान समझती हैं।

कुछ लोग अपने कमरों में मृतको के मंदिर बनाते हैं, और चढ़ावा चढ़ाते और यह दिखलाने के लिए हम शोक में हैं, एक रंगीन कपड़ा बिछा देते हैं। कई लोग, साधारण रीति के विपरीत, अपने बाल मुंडाते नहीं हैं, या एक शोक-छड़ी रखते अथवा पुआल की चटाई पर सोते हैं। ये सब रीतिया बुद्ध की शिक्षा के अनुसार नहीं हैं, और मनुष्य इन्हे बिना दोषी हुए भली-भाँति छोड़ सकता है। मनुष्य के लिए जो कुछ करना आवश्यक है, वह यह है—पहले मृतक के लिए एक कमरा शुद्ध और सुशोभित करो अथवा कभी-कभी कुछ (छोटे) शामियाने या परदे अस्थायी रूप से लगा दो, और सूत्र पढ़ते और बुद्ध का ध्यान करते हुए धूप और पुष्प चढ़ाओ। यह कामना करनी चाहिए कि प्रेतात्मा किसी अच्छे स्थान में जन्म ले। इस रीति से मनुष्य पितृ-भक्त बालक बनता और मृतक के जीवन-काल में किए हुए उपकारों का प्रतिफल देता है।

तीन वर्ष का शोक अथवा सात दिन का उपवास ही केवल ऐसी रीतिया नहीं जिनसे मृत्यु के पश्चात् हितैषी मृतक का पूजन होता है। (क्योंकि ये अनुष्ठान¹ कुछ लाभ नहीं देते), मृतक पार्थिव कष्टों के साथ पुनः बांधा जा सकता है (अर्थात् उसका पुनर्जन्म हो सकता है) और (पाप की) हथकड़ी और बेड़ी का दुःख भोग सकता है। इस प्रकार मृतक, कारणत्व की जंजीर के तीन विभागों (बारह निदानों) से सदा अनभिज्ञ रहकर अंधेरे से निकलकर फिर अंधेरे में, और पूर्णत्व की दस अवस्थाओं² को कभी न देखकर, मृत्यु से मृत्यु में जा सकता है।

1 अर्थात् तीन वर्ष का शोक और सात दिन का उपवास।

2 वे दस अवस्थाएँ जिनमें बोधिसत्व गुजरता है।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब भिक्षु मर जाता है, और मनुष्य पहचान लेता है कि वह ठीक मर गया है, तब उसी दिन उसका शव अर्धोपर रखकर श्मशान-भूमि में भेज दिया जाता और वहां जला दिया जाता है। जब शव जल रहा होता है तब उसके मित्र इकट्ठे होकर एक ओर बैठ जाते हैं। वे या तो बाधी हुई घास पर, या मिट्टी के चबूतरे पर, या ईंटों अथवा पत्थरों पर बैठते हैं। एक विज्ञ मनुष्य अनित्यसूत्र पढ़ता है। यह एक पृष्ठ अथवा पन्ने जितना छोटा होता है जिससे कि धकानेवाला न बन जाय।

तब वे (सब अवस्थाओं की) अनित्यता पर ध्यान करते हैं। अपने निवास-स्थान पर लौटकर वे, अपने वस्त्रो-सहित, विहार के बाहर तालाब में, इकट्ठे स्नान करते हैं। यदि कोई तालाब न हो तो वे कुएँ पर जाकर नहाते हैं। वे पुराने वस्त्र पहनते हैं, ताकि नवीनो की हानि न हो। तब वे सूखे हुए कपड़े धारण कर लेते हैं। अपनी कोठरियों में वापस आकर वे गाय के गोबर से फर्श को साफ करते हैं। शेष सब वस्तुएं वैसी ही रहती हैं। शोक के वस्त्र पहनने की कोई रीति नहीं। वे कभी-कभी मृतक के लिए, उसका शरीर रखने के लिए, एक स्तूप की जैसी चीज़ बनाते हैं। यह 'कुल' कहलाता है। यह एक छोटे स्तूप के जैसा होता है, परंतु इस पर गुम्फ्ट नहीं होता।

किंतु एक साधारण मनुष्य और एक उच्च व्यक्ति के स्तूपों में कुछ भेद होता है, जैसा कि विनय-पुस्तको¹ में अति सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

13

प्रतिष्ठित भूमियां

पाच प्रकार की प्रतिष्ठित भूमिया है—

1. विहार बनाने के लिए किसी व्यक्ति के द्वारा दान की गई भूमि।

2. विहार बनाने के लिए दो से अधिक भिक्षुओं की घोषणा-द्वारा अलग की हुई भूमि।

3. वह भूमि जहां लेटी हुई गाय की आकृति का भवन खड़ा हो।

4. मंदिर या किसी दूसरे पवित्र भवन के खंडहर।

5. भिक्षुओं-द्वारा पवित्र कर्म के साथ चुनी हुई और भेट की हुई भूमि।

(1) जब विहार बननेवाला हो और आधारशिला रखी जा चुकी हो, तब कार्य की देखभाल करनेवाले एक भिक्षु को अपना संकल्प निम्नलिखित रीति से प्रकट

¹ सम्युक्तवस्तु, अध्याय 18।

करना चाहिए—‘विहार अथवा घर के इस स्थान पर आओ हम सघ के लिए एक पवित्र पाकशाला बनाए।’

(2) आधार-शिला स्थापित हो चुकने के अनंतर यदि तीन भिक्षु रखवाली कर रहे हों, तो एक दूसरे से कहे—‘पूज्य महाशयो, ध्यान दीजिए, हमने इस स्थान पर चिह्न लगा दिया और इसे चुन लिया है, और विहार अथवा गृह के ठीक इसी स्थान पर हम सघ के लिए एक पाकशाला बनाएंगे।’ दूसरे और तीसरे भिक्षु को भी यही उच्चारण करना चाहिए।

(3) ऐसे विहार है जिनके मकान लेटी हुई गाय के सदृश है और कोठरियों के द्वार इधर-उधर बिखरे हुए हैं। ऐसा भवन, यद्यपि कर्म-द्वारा कभी प्रतिष्ठित नहीं हुआ तो भी, पवित्र समझा जाता है।

(4) वह स्थान है जिसे सघ ने चिरकाल से छोड़ दिया हो। यदि सघ वहां फिर आए तो वही स्थान, जिसका पुरातन काल में उपयोग हो चुका था, पवित्र हो जाता है। परंतु उन्हें अनुष्ठान (कर्म) किए बिना वहां रात न बितानी चाहिए।

(5) कर्म और घोषणा दोनों द्वारा प्रतिष्ठित भूमि है। इसका वर्णन मूलसर्वास्तिवाद-निकायैकशतकर्मन् में है।

जब इन पांच पवित्र नियमों में से एक पूरा हो जाय, तब बुद्ध कहता है कि सब भिक्षु इसमें दुहरा आनंद ले सकते हैं—(1) भीतर खाना पकाना और बाहर बटोरना; (2) भीतर बटोरना और बाहर पकाना, दोनों दोषरहित हैं।

यदि भूमि की अभी प्रतिष्ठा न हुई हो तो उस स्थान पर खाने, पीने या रहने से पाप होता है।

विहार (संघ के लिए) निवास-स्थान का एक प्रचलित नाम है। इसकी प्रत्येक कोठरी में कच्चा और पका हुआ भोजन रखा जा सकता है। यदि विहार में सोने की आज्ञा न हो तो उस समय वहां रहनेवाले सब भिक्षुओं को बाहर जाकर किसी दूसरी जगह निवास करना चाहिए। भारत की परम्परागत रीति सारे विहार को ‘पाकशाला’ के रूप में प्रतिष्ठित करने की है, परंतु इसके एक भाग को लेकर उससे पाकशाला का काम लेने की भी आज्ञा बुद्ध ने दी है।

यदि कोई व्यक्ति अपने कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए स्थान की प्रतिष्ठा किए बिना विहार से बाहर सो जाता है तो वह निंदनीय है। कपड़ों की पवित्रता की रक्षा के लिए धर्मसंगत स्थानों में वृक्षों के नीचे की जगहों (या गाव में) इत्यादि के बीच भेद हैं।

स्थान की रक्षा केवल स्त्रियों से रखवाली के विचार से ही नहीं; क्योंकि (स्त्री) सेविका कभी-कभी पाकशाला के भीतर आ जाती है, और फिर भी (प्रतिष्ठित) पाकशाला ग्राम नहीं समझा जाता, (इसी प्रकार स्त्रियों को छोड़कर प्रतिष्ठित होने पर भी स्थान

पवित्र होता है।) जब मनुष्य गाव में जाता है तब उसके पास तीन चीवरों के होने का तात्पर्य स्त्रियों से अपनी रक्षा करना नहीं होता। तब कर्मदान (विहार के छोटे अधिष्ठाना) का तीन चीवरों के साथ विहार के कार्यों की देखभाल करना, विशेषतः जब कोई स्त्री भीतर आवे, एक बहुत कड़ी रीति है।

14

पांच परिषदों का ग्रीष्म-एकांत (वर्ष)

पहला ग्रीष्म-एकांत पाचवे चंद्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन होता है, और दूसरा ग्रीष्म-एकांत छठवे चंद्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन, केवल इन्हीं दो दिनों में ग्रीष्म-एकांत आरम्भ करना चाहिए। इन दो के बीच ग्रीष्म-एकांत को किसी और दिन आरम्भ करने की पुस्तक में आज्ञा नहीं। पहला ग्रीष्म-एकांत आठवे चंद्रमा के मध्य में समाप्त होता है, और दूसरा नौवे चंद्रमा के मध्य में समाप्त होता है। जिस दिन ग्रीष्म-एकांत बढ़ होता है, भिक्षुगण और सामान्य भक्तजन पूजा की महाप्रक्रिया करते हैं। उस समय एक सभा होती है।

विनय (विनय-संग्रह, अध्याय-7) में कहा है—‘यदि (बाहर जाने के लिए) उचित अवसर हो, तो मनुष्य को एक दिन की अनुपस्थिति के लिए आज्ञा लेनी चाहिए।’ इस वचन का अर्थ यह है कि क्योंकि मनुष्य को बहुत-से अवसर (अर्थात् भोजन के लिए निमंत्रण, या कोई दूसरे काम) मिलते हैं इसलिए उसे उतने दिनों की अनुपस्थिति की आज्ञा लेनी चाहिए, अर्थात् एक रात में करनेवाले काम के लिए मनुष्य को एक दिन की आज्ञा लेनी चाहिए, और इसी प्रकार सात दिन तक (आज्ञा ली जा सकती है), परंतु मनुष्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास ही जा सकता है। यदि (उसी मनुष्य को मिलने का) दूसरी बार प्रयोजन हो तो विनय कहती है कि मनुष्य को दूसरी बार आज्ञा लेकर बाहर जाना चाहिए। परंतु आधा ग्रीष्म-एकांत बाहर रहने की आज्ञा नहीं; इसलिए अधिक-से-अधिक केवल चालीस रातों की आज्ञा दी जाती है। यदि किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा करनी हो या कोई कठिन कार्य आ पड़े तो मनुष्य को चला जाना चाहिए; ऐसी दशा में, चाहे अनुपस्थिति की छुट्टी न भी ली हो, ग्रीष्म-एकांत नहीं टूटता।

वर्ष (वर्षाऋतु) के पहले प्रत्येक सदस्य को कमरे दे दिए जाते हैं; स्थविरों को सबसे अच्छे कमरे दिए जाते हैं और फिर क्रमशः सबसे छोटे को।

प्रवारण-दिवस के संबंध में

वह दिन, जब ग्रीष्म-एकात समाप्त होता और ऋतु (शब्दार्थ, वर्ष) बद होती है 'मनुष्य की अपनी इच्छा (आसक्ति) के अनुसार' प्रवारण होना चाहिए, अर्थात् तीन बातों—जो कुछ मनुष्य ने देखा है, और जो कुछ सुना है, जिसका उसे सदेह हुआ है—के अनुसार, स्वेच्छापूर्वक दूसरों के दोष दिखाना चाहिए। इससे अनंतर दोषों का स्वीकार और प्रायश्चित्त होता है।

चौदहवें दिन की रात को (पंद्रहवां दिन एकात का अंतिम दिन होता है) सघ एक कथक को बुलाकर एक उच्च आसन पर बैठाता और उससे बुद्ध-सूत्र कहलाता है। इस समय सामान्य भक्तजन और भिक्षुगण मेघों अथवा कुहरों के सदृश इकट्ठे हो जाते हैं। वे लगातार दीपक और धूप तथा पुष्प चढ़ाते हैं। अगले दिन सबेरे वे सब ग्रामों और नगरों के गिर्द जाते हैं और सच्चे हृदय से सारे चैत्यों का पूजन करते हैं।

वे छत्तादार गाड़िया, पालकियों में प्रतिमाएँ, ढोल और आकाश में गूजते बाजे, नियमित क्रम में (मूलार्थतः बटे हुए और सजे हुए) ऊँचे चढ़ाए हुए, सूर्य को ढकते और लल्लोपत्तो करते हुए झंडे और छत्र लाते हैं, यह 'सा-मा-किन-ली' (सामग्री) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'मेल' या भी 'भीड़ लगाना' है। सभी बड़े उपवसथ-दिन इस दिन के सदृश होते हैं। पहले पहर के आरंभ में (प्रातः 9 बजे से 11 बजे तक) वे विहार में वापस आ जाते हैं। दोपहर को वे महोपवसथ-प्रक्रिया करते हैं, और तीसरे पहर हाथों में ताजा नागरमोथा का गुच्छा लिये इकट्ठे हो जाते हैं। इसको हाथों में पकड़कर या पैरों के नीचे रौंदकर जो उनकी इच्छा होती है, करते हैं, पहले भिक्षु, फिर भिक्षुणियाँ; इनके अनंतर सदस्यों की तीन निम्न श्रेणियाँ। यदि आशंका हो कि सख्या के बड़ी होने के कारण समय बहुत लग जायेगा तो संघ अनेक सदस्यों को इकट्ठे जाकर प्रवारण-प्रक्रिया कराने की आज्ञा दे देता है।

इस समय, या तो सामान्य भक्तजन दान देते हैं, या स्वयं सघ उपहार बाँटता है, और सब प्रकार के दान सभा के सामने लाए जाते हैं। तब पांच पूज्य व्यक्ति (पाचों परिषदां में से एक-एक (?) सभा के मुखियों—स्थविरों) से पूछते हैं—'ये वस्तुएँ सघ के सदस्यों को दी और उनका अपना भोग बनाई जा सकती हैं या नहीं ?'

1 देखिए महावग्ग 4, 1, 14, बड़े भिक्षु कहें—“मैं संघ से निवेदन करता हूँ कि जिस अपराध का वे मुझ दोषी समझते हों, जो अपराध उन्होंने देखा हो या सुना हो, या जिसका उन्हें संदेह हो वह मुझे चिता दें, महाराज, आप मुझ पर दया करके मुझे बता दीजिए, यदि मैं (अपराध) देखूँगा तो उसके लिए प्रायश्चित्त करूँगा।”

स्थविर उत्तर देते हैं—‘हां बनाई जा सकती हैं।’ तब सब कपड़े, चाकू, सुइया, सुतरिया इत्यादि लेकर समान रूप से बाट दी जाती है। (बुद्ध की) शिक्षा ऐसी ही है। इस दिन चाकू और सुतरियां भेंट करने का कारण यह है कि वे चाहते हैं कि उनको ग्रहण करनेवालों को (तीक्ष्ण) बुद्धि और प्रज्ञा मिले। जब इस प्रकार प्रवारण समाप्त हो जाता है, तब सब अपना-अपना मार्ग लेते हैं (मूलार्थतः, पूर्व या पश्चिम को जाते हैं)। यदि ग्रीष्म में वे पूर्ण रूप से वहां अपना निवास रख चुके हैं तो वहां रात बिताने का प्रयोजन नहीं। इसका पूर्णरूप से वर्णन अन्यत्र किया गया है, और मैं इसे यहां विस्तारपूर्वक नहीं कहूंगा। ‘पापो के स्वीकार’ करने का भाव यह है कि अपने अपराध की घोषणा करके और अपने पिछले दोषों की बात कहकर, मनुष्य अपने पिछले आचरण को बदलने (अर्थात् उसका प्रायश्चित्त करने) और भविष्य को सुधारने और सच्चे हृदय से सावधानता-पूर्वक अपने आपको दोषी ठहराने की कामना करेगा। प्रत्येक अर्धमास मनुष्य को पोषध (पाप-प्रकाशन) करना, और प्रतिदिन प्रातः और सायं अपने दुरिनों पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार अपने दोषों को स्वीकार करते और शुद्ध होन की कामना करते हुए, मनुष्य आशा करता है कि एक-एक करके स्वीकार करने से पापों का प्रायश्चित्त हो गया है। सब पापों को एकबारगी स्वीकार करने की आज्ञा विनय में नहीं है।

अनुताप का सहिष्णुता से कुछ भी संबन्ध नहीं। हमें, अपराध का प्रायश्चित्त करते समय, कहना चाहिए—‘मैं सच्चे हृदय से अपने अपराध को स्वीकार करता हूँ।’

भूल हो जाने अथवा किसी दूसरे के शरीर का अचानक स्पर्श कर बैठने पर पश्चिम के लोग, जिसका उन्होंने अपराध किया है कभी तो उसके शरीर पर हाथ फेरकर, अथवा कभी उसके कंधे को छूकर, ‘क्षमा’ कहते हैं; इसमें वे अपनी स्थिति पर कुछ ध्यान नहीं देते; यदि दोनों स्थविर हो तो वे हाथ नीचे की ओर लटकाए हुए एक-दूसरे की ओर देखते हैं, अथवा यदि एक व्यक्ति दूसरे से छोटा हो, तो छोटा हाथ जोड़कर दूसरे का उचित सम्मान करता है। क्षमा का भाव है ‘मैं आपसे माफी मागता हूँ’, ‘कृपया क्रुद्ध न होइए।’ विनय में क्षमा शब्द का व्यवहार उस समय है जब हम दूसरे से माफी मांगते हैं, परंतु देशन (प्रतिदेशन) का उपयोग अपने पापों को स्वीकार करते समय हुआ है।

संस्कृत शब्द प्रवारण का अनुवाद ‘स्वेच्छानुसार (करना)’ किया गया है; इसका अर्थ ‘परितृप्त करना’ भी है, फिर इसका आशय ‘दूसरे को उसकी इच्छा के अनुसार उसका अपराध दिखाना’ भी है।

प्रणाम के लिए उचित अवसर

बुद्ध का कथन है—‘दो प्रकार की अशुचिता ऐसी है, जिसमें मनुष्य न तो किसी का प्रणाम स्वीकार करे और न दूसरे को प्रणाम करे।’

वह दो प्रकार का अशौच क्या है ?

कोई वस्तु खाने, यहां तक कि ओषधि का एक परिमाण निगलने से भी मनुष्य, जब तक कुल्ला न कर ले और हाथ न धो ले, प्रणाम करने के अयोग्य रहता है। यहां तक कि शरबत, पानी, चाय या मधु-जल पीने, अथवा घी या गीली शक्कर खाने से भी मनुष्य—जब तक वह उचित रूप से अपनी शुद्धि न कर ले—समान रूप से अयोग्य होता है।

दूसरे, टट्टी जाने से उत्पन्न हुआ अशौच। पाखाना (टट्टी) जाकर मनुष्य अशुद्ध हो जाता है, और उसके शरीर, हाथों और मुह की शुद्धि आवश्यक होती है।

इसी प्रकार जब मनुष्य का शरीर अथवा कपड़े अपवित्र हो जाएं, उन पर धूक, श्लेष्मा-जैसी किसी चीज का धब्बा लग जाय।

सवरे दातुन न करने का अशौच भी इसी के अंतर्गत है।

भिक्षुओं की सभा में या उपवास के दिन अपवित्र अवस्था में केवल हाथ जोड़ने चाहिए। हाथों का जोड़ना सम्मान करना है, इसलिए पूरा प्रणाम करने का प्रयोजन नहीं। यदि कोई प्रणाम करता है तो यह विनय के विरुद्ध चलता है। जिस स्थान पर लोग काम में लीन हो वहां, अशुद्ध जगह में या मार्ग में, प्रणाम नहीं करना चाहिए। इन बातों का विनय-ग्रंथों में वर्णन है। चाहे मनुष्य ठीक-ठीक रीति से (विनय की) शिक्षा पर चलना चाहता हो, परंतु अशुद्ध परंपरागत रीति अथवा भिन्न जलवायु के कारण अनेक अनुष्ठानों में बाधा पड़ जाती है।

टट्टी जाने के विषय में

अब मैं टट्टी जाने के विषय में नियमों का संक्षेप में वर्णन करूंगा। मनुष्य को शरीर के अधोभाग पर स्नान करने का साया, और उत्तर भाग पर संकक्षिका¹ परिधान पहन लेना चाहिए। फिर सफ़ाई के लिए एक लोटा (मूलार्थतः, ‘छुआ हुआ लोटा’) जल से भरना, उस लोटे को लेकर टट्टी जाना, और अपने आपको छिपाने के लिए

1 संकक्षिका एक बगल को ढकनेवाला बाग़ा या कपड़ा होता है जो शेष सब कपड़ों के नीचे पहना जाता है। इस शब्द के लिए देखिए महाव्युत्पत्ति

द्वार को बंद कर देना चाहिए। मिट्टी के चौदह गोल टट्टी (वर्चस्-कुटी) के बाहर ईट की थाली में और कभी-कभी एक छोटी-सी पटरी पर रख दिए जाते हैं। ईट या पटरी का परिमाण एक हाथ लंबा और आधा हाथ चौड़ा होता है। मिट्टी के गोला को पीसकर चारीक कर लिया जाता है और उनकी दो पाते बना दी जाती हैं। प्रत्येक गोले की पिसी हुई मिट्टी अलग-अलग रखी जाती है। वहां एक फालतू गोला भी रखा जाना चाहिए। मनुष्य को तीन और गोले टट्टी में ले जाकर एक ओर रख देने चाहिए। इन तीनों में से एक तो शरीर को रगड़ने और दूसरा शरीर को धोने के काम में लिया जाता है। शरीर को धोने की रीति इस प्रकार है—शरीर का बाया हाथ से धोना, और फिर जल और मिट्टी से उसकी शुद्धि करनी चाहिए। अभी तक एक गोला शेष रहता है। इसके साथ बाया हाथ को एक बार स्थूल रूप से धो डालना चाहिए। शुद्धि कर चुकने के अनंतर कपड़ों को छोड़ देना (अर्थात् सुधारना), पानी के लोटे को एक ओर रख देना, दाया हाथ से द्वार को खोलना, ओर लोटे को दाया हाथ में पकड़ें हुए बाहर आना चाहिए। फिर लोटे को बायी बाह से आलिंगन करके, परंतु बाया हाथ को बंद किए हुए, दाया हाथ से पीछे द्वार बंद कर देना और वहां से चल देना चाहिए। अब उस स्थान पर आना चाहिए जहां कि मिट्टी के गोले रखे हुए हैं, और एक ओर उकड़ू बैठ जाना चाहिए। पहले मिट्टी के सात गोले, जो शरीर के निकट हों, बाया हाथ को धोने के लिए क्रमशः एक-एक करके बर्तन चाहिए, और फिर शेष सात एक-एक करके दोनों हाथ धोने के लिए।

ईट और काठ (की पटरी) के पृष्ठतल को धोकर साफ़ कर देना चाहिए। अभी तक एक और गोला रहता है जिसके साथ लोटा, बाहें, पेट और पैर (पैरों के तलुए) धोए जाते हैं; जब सब शुद्ध और साफ हो जायें तब मनुष्य, जहां उसकी इच्छा हो, जा सकता है। लोटे का पानी मुंह में डालने अथवा होठों में लगाने के योग्य नहीं। मनुष्य को अपनी कोठरी में वापस आकर एक साफ ठिलिया से जल लेकर मुंह धोना चाहिए। टट्टी हों आने के पश्चात् यदि मनुष्य लोटे को छू दे तो जब तक वह दुबारा हाथों को न धोए और कुल्ला न कर ले, दूसरे बर्तनों को छूने के योग्य नहीं होता। टट्टी जाने के विषय में ऐसे ही नियम हैं।

टट्टी जाने के अनंतर हर सूरत में मनुष्य को एक-दो मिट्टी के गोलों के साथ हाथ धोने चाहिए, क्योंकि पूजा करने का आधार पवित्रता है।

प्रक्षालन के पूर्व सघ की कुर्सी पर बैठना, अथवा त्रिरत्न को प्रणाम करना नहीं चाहिए।

जो धर्म पीछे छोड़ा गया है, उसकी केवल छाया और शब्द ही प्रकट होना आरंभ हुआ है¹। जाओ और अपने आपको उन लोगों को सौंप दो जिन्होंने सांसारिक

जीवन का परित्याग कर दिया है, उठो और उन लोगों के पीछे चलो जिन्होंने चिता छोड़ दी है। तुम्हें अधिकार से लिप्त और नीच जगत् को अवश्य त्याग देना चाहिए, तुम्हें पवित्रता का शात और शुभ्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। बाहर का मैल और भीतर की भूल दोनों पोछ जाये, और ऊपर की गांठ और नीचे का वधन दोनों समान रूप से कट जाये। जब तुम्हारा शरीर शात और मन पवित्र होगा तब तुम्हारे चार कर्मों¹ का कभी कष्ट न होगा, और सम्मान के तीन विषय² सदा मित्र होंगे।

तब तुम जीवित मनुष्यों में उपहास के विषय न होंगे, तुम यम की क्रोध-भरी दृष्टि से कैसे भयभीत होंगे ? प्राणियों के नौ लोकों का कैसे उपकार हो सकता है, और तीन लंबे युगों में (बुद्धत्व के लिए) उत्तम हेतु कैसे पूर्ण हो सकता है, इसका हमें खूब विचार करना चाहिए।

यदि, जैसा कि मैं सच्चाई से आशा करता हूँ, लाख में से एक मनुष्य भी (मेरे शब्दों से) अपना सुधार करेगा, तो अपने आयास के दो दर्जन वर्षों में जो कठिनाई और कठोरता मैंने झेली है, उसके लिए मुझे खेद न होगा।

18

उपसंपदा के नियम

प्रव्रजित बनने (मूलार्थतः घर-बार-रहित होने) के संबन्ध में जो प्रक्रियाएँ पश्चिम में की जाती हैं उनके लिए सूक्ष्म नियम हैं, जो कि मुनि (बुद्ध) ने प्रतिष्ठित किए हैं। परंतु मैं यहाँ उनके विषय में केवल कुछ ही बातें सुनाऊँगा। जिस मनुष्य ने अपने विचारों को (धर्म की ओर) फेर दिया है और प्रव्रजित बनने की इच्छा कर ली है, वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी उपाध्याय के सामने जाकर उससे अपनी अभिलाषा कहता है। वह उपाध्याय, किसी-न-किसी उपाय से, मालूम करता है कि इसके मार्ग में कोई रुकावट तो नहीं है अर्थात् पितृ-हत्या, मातृ-हत्या आदि का पाप तो इसे नहीं लगा है। यदि वह ऐसी कोई कठिनाई नहीं पाता तो वह उसे (भिक्षुपद के लिए) स्वीकार कर लेता है। स्वीकार कर लेने के अनंतर उपाध्याय उसे दस दिन या एक मास तक खुला छोड़ देता है। और फिर उसे पाँच उपदेश³ देता है।

तब उपाध्याय (पदाभिलाषी के लिए) एक पट, एक संकक्षिका, एक निवासन, एक भिक्षा-पात्र, और एक चालनी का प्रबन्ध करके, सघ के सम्मुख होता है और

1 अर्थात् जाना, ठहरना, बैठना और लेटना।

2 अर्थात् तीन स्तं।

3 पाँच बुद्ध के परम प्रसिद्ध मौलिक उपदेश या आज्ञाएँ हैं अर्थात् हत्या चोरी झूठ व्यभिचार और मादक द्रव्यों को छोड़ दो

कहता है कि पदाभिलाषी भिक्षु बनना चाहता है। जब सघ उसे स्वीकार कर लेता है तब उपाध्याय उसकी ओर से उपाचार्यों को संस्कार कराने के लिए कहता है। तब वह मनुष्य किसी एकांत स्थान में अपने केश और दाढ़ी मुडवाता है और स्नान करता है। उपाध्याय किसी-न-किसी प्रकार उसकी परीक्षा करता है कि वह कहीं हिंजडा इत्यादि तो नहीं, तो तब वह उस पर निवासन रख देता है। फिर उसे उत्तरीय कचुक दिया जाता है। अब वह प्रव्रजित कहलाता है। फिर उपाध्याय के सामने आचार्य उसे दस शिक्षापद, सुनाकर या पढ़कर देता है। इन शिक्षापदों को सीख लेने के बाद वह भिक्षु श्रमणेर कहलाता है। श्रमणेर का अर्थ है 'जो विश्राम दूढ़ता है', अर्थात् 'जो निर्वाण-पूर्ण विश्राम-प्राप्त करना चाहता है।'

उपसपदा लेनेवालों के लिए प्रतिपत्ति, प्रक्रियाएँ, उपदेश मागने और अपना सकल्प प्रकट करने का भाव, विधि और अनुष्ठान वही है (जो कि श्रमणेर पद की दीक्षा चाहनेवालों के लिए है)। परंतु श्रमणेर की अवस्था में, विनय-पुस्तकों में दिए हुए बारह विषयों के व्यनिक्रम से अपराध नहीं लगता; किंतु शिक्षमाणा (स्त्री) के लिए इस नियम के कुछ रूपांतर है। अब वे बारह विषय कौन-कौन-से हैं ?

1. (विधिविहित और विधिविरुद्ध) परिधानों में भेद करना चाहिए।
2. कपड़ों के बिना न सोना चाहिए।
3. आग¹ को छूना न चाहिए।
4. बहुत अधिक भोजन न करना चाहिए।
5. किसी प्राणी की हानि न करनी चाहिए।
6. हरी घास पर मैल न फेंकना चाहिए।
7. (प्रयोजन को छोड़कर) कभी प्रमाद से ऊँचे पर न चढ़ना चाहिए।
8. रत्नों को न छूना चाहिए।
9. जूठा भोजन नहीं करना चाहिए।
10. भूमि नहीं खोदनी चाहिए।
11. दिए हुए भोजन को लेने से इनकार न करना चाहिए।
12. उगती हुई कोपलों को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए।

दो निचली श्रेणियों के लोगों (अर्थात् श्रमणेरों और श्रमणेरियों) को इन बारह बातों के अनुसार चलने का प्रयोजन नहीं। परंतु यदि शिक्षमाणा पिछली पाँच बातों (8-12 तक) का पालन न करेंगी तो उन्हें दोष आयेगा। इन तीन निम्न श्रेणियों को वर्ष (ग्रीष्म-एकांत) भी करना पड़ता है।

1 काश्यप से अनुसार यह खुली भूमि में आग जनाना है।

(स्त्रियों के लिए) छ. आवश्यक और छः गौण नियम अन्यत्र दिए गए हैं¹। यदि उन्होंने किसी नियम को भग करने का दोष न किया हो तो वे 'धर्मानुकूल आचरण करनेवाली' समझी जा सकती हैं, उस अवस्था में वे यथोचित रूप से पाच परिषदों में समाविष्ट हो सकती हैं और उनके लाभों की भागी हो सकती हैं।

जब नव शिष्य सभी धर्मानुष्ठानों को जान ले और जब वह आवश्यक आयु² को पहुँच जाये तब, यदि वह उपसंपदा पाने का अभिलाषी हो तो, उपाध्याय अपने शिष्य के उपदेशों पर चलने की इच्छा और दृढमति देखकर, उसके लिए छः परिष्कारों का प्रवध करता और नौ दूसरे लोगों³ को (संस्कार में भाग लेने के लिए) बुलाता है। यह संस्कार एक छोटे चबूतरे पर, या एक बड़े हाते में या एक स्वाभाविक सीमा के भीतर किया जा सकता है। आँगन में सघ की चटाइयों का उपयोग किया जा सकता है, या प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी चटाई का व्यवहार कर सकता है। धूप और पुष्प बहुत व्यय से तैयार किए जाते हैं। तब अर्थी को प्रत्येक उपस्थित भिक्षु को तीन बार प्रणाम करने, अथवा कभी-कभी प्रत्येक भिक्षु के पास जाकर उसके पैर छूने की शिक्षा दी जाती है। बुद्ध की शिक्षा के अनुसार ये दोनों प्रणाम की प्रक्रियाएँ हैं। इस संस्कार के पश्चात् उसे महाशील सीखने की आज्ञा दी जाती है। यह तीन बार कर चुकने पर, उपाध्याय उसे सघ के सामने कपड़े और भिक्षापात्र देता है।

तब अर्थी को भिक्षा-पात्र लेकर चारों ओर घूमना और इसे वहाँ एकत्रित भिक्षुओं

2 विनय-संग्रह अध्याय-12 में स्त्रियों के लिए छ मुख्य और छ गौण नियम दिए हैं—

क छ आवश्यक नियम—

- 1 स्त्री अकेली यात्रा न करे।
- 2 स्त्री अकेली नदी पार न करे।
- 3 स्त्री पुरुष के शरीर का स्पर्श न करे।
- 4 स्त्री पुरुष के साथ एक ही स्थान में न रहे।
- 5 स्त्री लोगों की सगाइया कराने का काम न करे।
- 6 स्त्री किसी भिक्षुणी के किए हुए भारी अपराध को न छिपावे।

ख छ गौण नियम—

- 1 स्त्री वह सोना या चादी न ले, जो उसका अपना न हो।
- 2 स्त्री सिर को छोड़कर और किसी स्थान पर बाल न मूडे।
- 3 स्त्री बिना जोती हुई भूमि को न खोदे।
- 4 स्त्री बढ़ती हुई घास अथवा पेड़ को इच्छापूर्वक न काटे।
- 5 स्त्री उस भोजन को न करे, जो उसे नहीं दिया गया।
- 6 स्त्री उस भोजन को न करे जो एक बार छुआ जा चुका हो।

1 काश्यप के अनुसार बीस वर्ष की आयु। महावग्ग, 1, 49, 5।

2 काश्यप के अनुसार, सब मिलाकर दस उपाध्याय होने चाहिए।

मे से प्रत्येक को क्रमश दिखलाना होता है यदि वह ठीक हो, तो सभी एकत्रित भिक्षु कहते हैं—‘अच्छा भिक्षा-पात्र’, यदि वे ऐसा न कहें तो उन्हें धर्म के अतिक्रमण का दोष लगता है। इसके बाद, अर्थी को व्यवस्था के अनुसार भिक्षा-पात्र ग्रहण करना होता है। तब कर्म करानेवाला आचार्य उसको, पुस्तक पढ़कर जो उसके सामने पकड़कर ऊपर उठा दी होती है, या मुह में बोलकर, महाशील देता है; क्योंकि बुद्ध ने दोनों की आज्ञा दी है। महाशील पानेवाला उपसपत्र (जिसमें उपसंपदा मिल चुकी है) कहलाता है।

ज्यों ही सस्कार समाप्त हो, (उपसपदा की तिथि का निश्चय करने के लिए) चटपट सूर्य की छाया को नापना और ऋतु (पांच होती हैं) का नाम भी लिख लेना चाहिए।

छाया को नापने की रीति यह है। कोई एक हाथ लंबी पतली-सी लकड़ी का टुकड़ा लो; सिरे से चार अंगुल पर इस, बढ़ई के गुनिए के रूप में, झुकाओ। इसका छोटा सिरा ऊपर उठा रहे परंतु साथ ही दूसरा (लंबा) सिरा छड़ी के लंबरूप भाग से अलग न होने पावे। मध्याह्न को, जब छड़ी के लंबे सिरे को भूमि के साथ रखा जाता है, तब इसके लवरूप भाग की छाया छड़ी के दिगंतसम भाग पर पड़ती है। पड़नेवाली छाया को चार अंगुल के साथ मापा जाता है। यदि छाया ठीक चार अंगुल भर लंबी हो तो यह माप एक पुरुष (पौरुष)¹ कहलाती है, और इस प्रकार समय की माप इतने पुरुष या कभी-कभी एक पुरुष और एक अंगुल या आध अंगुल, या केवल एक अंगुल इत्यादि (जब ठीक एक पुरुष के बराबर माप न हो) चलती रहती है। इस रीति में (समय के भेद) अंगुलों को मिलाने और घटाने से नापे और समझे जाते हैं।

(इत्सिंग की टीका)—पुरुष का अर्थ है ‘मनुष्य’; चार अंगुल माप की छाया को ‘एक-पुरुष’ कहने का कारण यह है कि जब लंबरूप छड़ी, जो स्वयं चार अंगुल होती है, की छाया भी दिगंतसम छड़ी की लंबाई में चार अंगुल हो, तब भूमि पर पड़नेवाली मनुष्य की छाया उतनी ही लंबी होती है, जितनी कि उस मनुष्य की वास्तविक ऊंचाई। जब लंबरूप छड़ी की छाया दिगंतसम छड़ी पर लंबाई में आठ अंगुल हो, तब भूमि पर पुरुष की छाया उसके शरीर की ऊंचाई से ठीक दुगुनी होगी। यह बात मध्यम परिमाण के पुरुष की है, सब जनों की आवश्यक रूप से नहीं²। इस रीति से और मापे भी ली जाती है।

1 पुरुष का अर्थ, माप के रूप में, प्राय होता है एक मनुष्य की लंबाई जिसने अपनी बांहें और उगलिया फैलाई हुई हों। परंतु इत्सिंग के अनुसार इसका अर्थ चार अंगुल है।

2 इत्सिंग का यह कथन सत्य नहीं जान पड़ता। सबके साथ इसका एक जैसा होना जरूरी है।

यह बात (कि उपसंपदा-संस्कार हो चुका है) भोजन के पहले या पश्चात् कह देनी चाहिए। जब अभ्र छाया हो, या रात हो, तब समय की माप उचित रीति से करनी चाहिए।

भारत और दक्षिणी सागर के द्वीपों के सभी भिक्षु जब आपस में पहली बार मिलते हैं तब पूछते हैं—‘आर्य, आप कितने वर्ष (ग्रीष्म-एकात) बिता चुके हैं?’ जिसमें प्रश्न किया जाता है वह उत्तर देता है—‘इतने’। यदि उन्होंने एक समान ही ‘वर्ष’ बिताए हो तो एक दूसरे से पूछता है कि किस ऋतु में दीक्षा मिली थी? यदि संयोग से दोनों को एक ही ऋतु में उपसंपदा मिली हो तो संलापक फिर पूछता है कि उस ऋतु में कितने दिन रह गए थे। यदि दिनों की संख्या अब भी उतनी ही हो तो एक-दूसरे से पूछता है कि उस दिन तुम्हें भोजन से पहले उपसंपदा मिली थी या उसके पीछे। यदि दोनों को उसी दिन पूर्वाह्न को मिली हो तो छाया की लंबाई पूछी जाती है; यदि इसमें भेद हो तो दोनों में से एक की ज्येष्ठता का निश्चय हो जाता है। परंतु यदि छाया एक समान हो तो उनमें कोई भेद नहीं होता। इस अवस्था में स्थानों का क्रम पहले आनेवालों के अनुसार निश्चित किया जाता है, या कर्मदान उन्हें अपना निर्णय आप ही कर लेने देता है। जो लोग भारत को जाये उन्हें ये बातें अवश्य पूछनी चाहिए। यह चीन की रीति से कुछ भिन्न है। चीन में भिक्षु लोग केवल उपसंपदा की तिथि ही बताते हैं। परंतु नालंद-विहार में भिक्षुओं को ‘लंबी ऋतु’ के पहले दिन, प्रायः तड़के ही—जब अभी पौ फटने ही लगती है—उपसंपदा दी जाती है। उनका तात्पर्य उन लोगों में ज्येष्ठता का दावा करने से होता है जिनको एक ही ग्रीष्म में उपसंपदा मिली हो। यह चीन के 6ठे चंद्रमा के 17वें दिन का तड़का होता है; (वे इसलिए ऐसा करते हैं क्योंकि फिर) वे दूसरा ‘वर्ष’¹ नहीं प्राप्त कर सकते।

यदि मनुष्य उस समय उपसंपदा लाभ करता है जबकि छठे चंद्रमा के सोलहवें दिन की रात (अर्थात् दूसरे वर्ष का आरंभ होने के एक दिन पहले) समाप्त होने को होती है, तो वह उस ग्रीष्म में दीक्षा पानेवाले लोगों में सबसे छोटा होगा। (जब मनुष्य को 6ठे चंद्रमा के 17वें दिन के उषाकाल में, अर्थात् दूसरे वर्ष के आरंभ में, उपसंपदा मिलती है तो) वह दूसरा वर्ष भी लाभ करता है, और इसलिए उसे उपसंपदा के अनंतर, अपने उपाध्यायों के अतिरिक्त जिन्हें कुछ-न-कुछ—चाहे वह

1 एक साल में दो वर्ष (ग्रीष्म-एकात) होते हैं, पहला 5वें चंद्रमा के कृष्णपक्ष के पहले दिन आरंभ होकर 8वें चंद्रमा के मध्य में समाप्त होता है, और दूसरा 6ठे चंद्रमा के कृष्णपक्ष के पहले दिन आरंभ होकर 9वें चंद्रमा के मध्य में समाप्त होता है। यदि किसी को 6ठे चंद्रमा की 17वीं को, अर्थात् दूसरे ग्रीष्म के आरंभ में उपसंपदा मिले तो वह दूसरे और पहले दोनों वर्षों के निवास का दावा कर सकता है। तड़के का समय चुनने का अर्थ भी जल्दी उपसंपदा लेना है।

तुच्छ हो या बहुत ज्यादा—अवश्य देना चाहिए, दूसरों को कुछ भी भेंट देने का प्रयोजन नहीं। कोई कटिबंध या चालनी-जैसी चीज़ लाकर अमोघ कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन उपाध्यायों की भेंट करनी चाहिए जो उपसंपदा के स्थान पर उपस्थित हो और उसमें भाग लेते हो। तब उपाध्याय प्रातिमोक्ष के विषय को प्रकाशित करके अर्थी को अपराधों का स्वरूप और सूत्रों के बोलने की रीति सिखाता है।

इनको सीख लेने के अनंतर, अर्थी बड़े विनय-पिटक को पढ़ना आरंभ करता है। वह उस प्रतिदिन पढ़ता है, और प्रतिदिन सबेरे उसकी परीक्षा होती है, क्योंकि यदि वह निरंतर इसमें न लगा रहे तो उसकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जायेगी। विनय-पिटक पढ़ चुकने के पश्चात् वह सूत्र और शास्त्र सीखना आरंभ करता है। भारत में उपाध्यायों की अध्यापन-शैली ऐसी ही है। यद्यपि महामुनि को हुए बहुत दीर्घ काल बीत चुका है, तो भी ऐसी रीति अब तक निर्विघ्न जारी है। ये दो उपाध्याय ओर कर्माचार्य, माता-पिता के सदृश हैं। जिस मनुष्य ने उपसंपदा की प्राप्ति के लिए असाधारण परिश्रम किया हो उसके लिए उपसंपदा पाने के अनंतर उपदेशों पर ध्यान न देना क्या उचित हो सकता है ?

निस्संदेह यह खेद का विषय है कि ऐसे आरंभ का कोई सतोषजनक अंत न हो। कुछ लोग ऐसे हैं, जिन्होंने अपने उपाध्यायों को पहली बार मिलने पर, उपसंपदा-प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने के अनंतर, उपसंपदा के पीछे फिर कभी अपना मुह नहीं दिखाया; न वे उपदेशों की पुस्तक पढ़ते हैं, न विनय-ग्रंथों को ही खोलते हैं, ऐसे मनुष्यों को वृथा ही भिक्षु बनाया गया है। वे अपने लिए तथा दूसरों के लिए भी हानिकर हैं। इस प्रकार के लोग धर्म का नाश करते हैं।

भारतीय भिक्षुओं की पदवियां (मूलार्थतः अनुष्ठान के नियम) निम्नलिखित हैं।

उपसंपदा की दीक्षा के अनंतर, भिक्षु च-गा-र (अर्थात् दहर) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'छोटा उपाध्याय' किया जाता है। और उन्होंने दस 'वर्ष' पूर्ण रूप से बिता लिये हों वे 'स्थविर' कहलाते हैं, जिसका अनुवाद 'अचल स्थिति' किया गया है, क्योंकि स्थविर किसी शिक्षक की रक्षा के अधीन रहे बिना अपने आप रह सकता है। वह उपाध्याय भी बन सकता है। जो मनुष्य उपाध्याय बनता है उसके लिए स्थविर होना और पूरे दस वर्ष (ग्रीष्म-एकांत) बिता चुकना आवश्यक है।

वे श्वेतांबर लोग (सामान्य भक्तजन), जो भिक्षु के मकान पर आते और मुख्यतः बौद्ध-धर्म-ग्रंथ इस उद्देश्य से पढ़ते हैं कि वे एक दिन सिरमुड़े और काले कपड़ोंवाले बन जायें, 'बच्चे' (मानव) कहलाते हैं। जो लोग (भिक्षु के पास आकर) केवल सासारिक साहित्य ही पढ़ना चाहते हैं, और उसकी ससार को छोड़ने की कुछ भी इच्छा नहीं होती, वे ब्रह्मचारिन् कहलाते हैं। मनुष्यों के इन समूहों को (विहार में रहते भी)

अपने व्यय का निर्वाह करना होता है ।

(इत्सिंग की टीका)—भारत के विहारों में ऐसे ब्रह्मचारी अनेक हैं जो भिक्षुओं के सुपुर्द हैं और उनसे सासारिक विद्या की शिक्षा पाते हैं । इन ब्रह्मचारियों का सध की स्थायी संपत्ति में भोजन नहीं दिया जाना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की शिक्षा में इसका निषेध है परंतु यदि उनके सध के लिए कोई भारी काम किया हो तो उनकी योग्यता के अनुसार उन्हें विहार से भोजन मिलना चाहिए । परंतु साधारण प्रयोजनों के लिए बनाया हुआ या ब्रह्मचारियों के उपयोग के लिए दानी का दिया हुआ भोजन ब्रह्मचारियों को देने में कोई दोष नहीं ।

बुद्ध की छाया नाग नदी से लोप हो गई है, और उसके तेज की ज्योति गृध्रकूट से अतर्धान हो गई है, हमारे पास कितने अर्हत ऐसे हैं जो पवित्र धर्म का उपदेश दे सकते हैं ?

एक शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है—‘जब महाकंसरी ने अपनी आखें बंद की तब सारे साक्षी भी एक-दूसरे के पश्चात् चले गए । ससार और भी अधिक विकार से मैला हो गया । मनुष्य को (नैतिक विनय का) उल्लंघन किए बिना अपने विषय में चौकस रहना चाहिए ।’

सभी धर्मपरायण लोगों को धर्म की रक्षा में मिल जाना चाहिए । परंतु यदि तुम, आलसी और निरुद्योग होने से, मानवी प्रवृत्ति को कार्य करने दोगे तो तुम मानवों और देवों को क्या करोगे जिनका नेतृत्व तुम्हारे सुपुर्द है ?

वियन में कहा गया है—‘जब तक कर्मचार्य है, मेरे धर्म का नाश न होगा । यदि कर्म (नियमों) को रखने और सभालनेवाला कोई न होगा तो मेरे धर्म का अन्त हो जाएगा ।’ यह भी कहा है—‘जब तक मेरे उपदेश विद्यमान हैं, मैं जीता हूँ ।’ ये खाली बातें नहीं, वरन् इनमें गहरे अर्थ हैं, इसलिए इनका यथायोग्य सम्मान होना चाहिए । फिर मैं इसी को कवित्व भाषा में प्रकट करता हूँ—

गुरुदेव की छाया लोप हो गई है, और धर्म के प्रधान उच्चपदस्थ लोग भी हमारे पास से चले गए हैं । नास्तिक लोग पर्वत के समान ऊँचे खड़े हैं, और उपकारशीलता की छोटी पहाड़ी भी नष्ट हो रही है ।

सूर्य-सदृश बुद्ध की प्रभा की रक्षा करना वास्तव में धर्मात्माओं और बुद्धिमानों का काम है । यदि मनुष्य संकीर्ण मार्ग पर चलता है तो वह बड़े मार्गों की शिक्षा कैसे दे सकता है ? सौभाग्य से (सुधर्मी) चतुर लोगों को दिया गया है, जिन्हें इसको परिश्रम से उन्नत करना है ।

आशा की जाती है कि मनुष्य धर्म को न केवल मलिनता से बचाकर वरन् इसके सौरभ को दूर-दूर के युगों तक फैलनेवाला बनाकर, इसका प्रचार और संचार करेगा । ‘धर्म को और भी अधिक सुवासित बनाने’ का क्या तात्पर्य है ? यह शील-सागर

में तरंग उत्पन्न करना है। इस प्रकार बुद्ध की शिक्षा, यद्यपि यह पहल ही समाप्त के निकट पहुँच चुकी है, समाप्त न हो जाय, और धर्म का अनुष्ठान—यद्यपि इसे भ्रमों से प्रायः हानि पहुँच चुकी है—अनुचित न हो जाय। हमें अपने अनुष्ठान को राजगृह में दी हुई यथार्थ शिक्षा के अनुकूल बनाना, और जेताराम में बनाई हुई पवित्र विनय की बात पर आने के यत्न करना चाहिए।

19

उचित समयों का स्थान

अब मैं स्नान की रीति का वर्णन करूँगा। भारत का स्नान चीन के स्नान से भिन्न है। वहाँ सब ऋतुओं में, दूसरे प्रदेशों से कुछ-कुछ भिन्न, मौसम परिमित रहता है। फूल और फल सदा, यहाँ तक कि वर्ष के प्रत्येक मास में रहते हैं। हिम और बर्फ का नाम तक नहीं रहता। कुहरा पड़ता है, पर बहुत हल्का। यद्यपि (विशेष-ऋतुओं में) गरमी होती है, पर ताप बहुत प्रचंड नहीं होता, और गरम-से-गरम मौसम में भी लोग 'चुभनेवाली गरमी' से कष्ट नहीं पाते। जब बहुत सरदी होती है तब उनके पैर नहीं फटते, क्योंकि वे बार-बार नहाते-धोते रहते हैं, और शरीर की पवित्रता पर बहुत ध्यान देते हैं। अपने दैनिक जीवन में वे स्नान किए बिना भोजन नहीं करते।

तालाबों में सब कहीं जल बहुतायत से है। तालाब बनाना पुण्य समझा जाता है। यदि हम केवल एक ही योजन जाएँ तो हमें बीस-तीस नहाने के घाट दिखाई देंगे। उनके परिमाण भिन्न-भिन्न हैं, कोई एक मोठ (या लगभग 733½ वर्ग गज) है और कोई पाँच मोठ। तालाब के चारों ओर शाल के वृक्ष लगाए जाते हैं, जो कोई चालीस-पचास फीट ऊँचे होते हैं। इन सब तालाबों को वर्षा के जल से भरा जाता है, और ये शुद्ध नदी की तरह निर्मल होते हैं। आठ चैत्यों¹ में से प्रत्येक के निकट एक-एक तालाब है, जहाँ जगद्ध (बुद्ध) स्नान किया करते थे। इन

1 आठ चैत्य ये हैं—

- 1 बुद्ध के जन्म-स्थान में लुबिनी-आराम, कपिलवस्तु, में।
- 2 मगध में निरजना नदी के समीप बोधि-वृक्ष के नीचे, जहाँ बुद्धत्व प्राप्त हुआ था।
- 3 काशियों के देश के अन्तर्गत वाराणसी (बनारस) में, जहाँ बुद्ध ने पहले पहल अपने धर्म का प्रचार किया था।
- 4 जेताराम, श्रावस्ती, में जहाँ बुद्ध ने अपनी बड़ी अलौकिक शक्तियाँ दिखाई दीं।
- 5 कान्यकुब्ज (कन्नौज) में, जहाँ बुद्ध त्रयस्त्रिंशः स्वर्ग से उतरा था।
- 6 राज-गृह में, जहाँ शिष्यों में बाट हो गई थी, और बुद्ध ने उन्हें तदनुसार शिक्षा दी थी।
- 7 वैशाखी में, जहाँ बुद्ध प्रायः आयु भर उपदेश देते हैं।
- 8 कुशिनगर में शाल-वृक्षों की बड़ी पंक्ति में जहाँ बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

तालाबों का जल, दूमरे तालाबों के जल से भिन्न, बहुत ही शुद्ध है।

नालदा विहार के निकट दस से अधिक बड़े-बड़े तालाब हैं, और प्रतिदिन सबेरे भिक्षुओं को स्नान-काल का स्मरण कराने के लिए एक घंटी बजाई जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने साथ स्नान के लिए अंगोछा लाता है। कभी-कभी सौ, कभी-कभी एक सहस्र (भिक्षु) इकट्ठे विहार से निकलते हैं, और इन तालाबों की ओर सब दिशाओं में जाकर सबके-सब स्नान करते हैं।

अगोछे के विषय में नियम इस प्रकार है—पाच फीट लंबा और डेढ़ फीट चौड़ा एक नर्म कपड़े का टुकड़ा लेकर उसे (अंतरीय के ऊपर) शरीर के गिर्द लपेटा। अंतरीय को खोलकर बाहर निकाल लो, और अगोछे के दोनों सिरों को सामने ले आओ। तब बाये सिर के ऊपरी कोने को दाये हाथ से पकड़ो, और उसे कमर की ओर ऊपर खींचकर शरीर से छूने दो; इसे अगोछे के दाये सिर के साथ जोड़ दो; और दोनों को मरोड़कर, उन्हें कपड़े और शरीर के बीच खोस दो। अंगोछा पहनने की यही रीति है। सोते समय अंतरीय पहनने का भी यही नियम है। जब मनुष्य स्नान-घाट से बाहर आने को हो तब उसे अपने शरीर को हिलाना और पानी से बहुत धीरे-धीरे बाहर निकलना चाहिए, ताकि कहीं कपड़े के साथ लगे हुए कुछ कीड़े न बाहर निकल आएँ। (जल से निकलकर) किनारे पर आने की रीति के विषय के नियम विनय-ग्रंथों में दिए गए हैं। तालाब गए बिना, विहार में ही स्नान करने की अवस्था में, अगोछा उसी प्रकार बांधा जाता है, परंतु जल दूसरा मनुष्य डालता है, और स्नान के लिए उस स्थान के गिर्द एक घेरा बनाना पड़ता है।

जगत्-पूज्य ने स्नानागार बनाने, खुले स्थान में ईंटों का तालाब निर्माण करने, और रोग-शांति के लिए औषधीय स्नान तैयार करने की विधि बताई है। कभी वे सारे शरीर पर तेल की मालिश करने, कभी प्रतिदिन रात को पैरों में, या प्रतिदिन सबेरे सिर में तेल मलने की आज्ञा देते थे; क्योंकि यह क्रिया नेत्रों की दृष्टि को साफ और शीत को दूर रखने के लिए बहुत अच्छी है।

इन सब बातों के विषय में हमारे पास धार्मिक प्रमाण हैं। वह इतना बृहदाकार है कि यहाँ वह पूर्ण रूप से बताया नहीं जा सकता। विनय-पुस्तकों में इसका सविस्तार वर्णन है। फिर, स्नान सदा उस समय करना चाहिए जब मनुष्य भूखा हो। स्नान के अनंतर भोजन करने से दो प्रकार के लाभ होते हैं। पहले, सब प्रकार के मूल से मुक्त होने के कारण शरीर शुद्ध और खाली हो जाता है। दूसरे, भोजन भली-भाँति पच जायेगा, क्योंकि स्नान से मनुष्य कफ और भीतरी इद्रियों के रोगों से मुक्त हो जाता है। अच्छे भोजन (मूलार्थतः, बहुत-सा खाने) के पश्चात् नहाना चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार निषिद्ध है। बिना किसी वस्त्र के स्नान करना बुद्ध की शिक्षा के विपरीत है। लोगों को एक ऐसे कपड़े के बने हुए स्नान-परिधान

का उपयोग करना चाहिए जिसकी लंबाई उसकी चौड़ाई से चौगुनी हो, तब वह समुचित रीति से शरीर को ढक सकता है। ऐसी रीति न केवल बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के साथ पूर्ण रूप से एकतान है, वरन् मानवों और देवों के सामने लज्जा भी उत्पन्न नहीं करती। दूसरी बातों के उचित या अनुचित होने के विषय में बुद्धिमानों की सावधानी से अपने आप निर्णय कर लेना चाहिए। रात्रि-स्नान में भी मनुष्य को उचित रीति का परित्याग न करना चाहिए।

20

निद्रा और विश्राम के नियम

भारत में (विहार की) कोठरियां लंबी-चौड़ी नहीं होतीं, और निवास करनेवाले बहुत होते हैं, इसलिए सोनेवालों के उठ जाने पर पलंग उठवा दिए जाते हैं। या तो उन्हें कमरे के एक कोने में अलग रख दिया जाता है या कमरे से बाहर निकाल दिया जाता है। पलंग की चौड़ाई दो हस्त (3 फीट) और उसकी लंबाई चार हस्त (6 फीट) होती है। चटाई इसी परिमाण की बनाई जाती है, और भारी नहीं होती। (कोठरी का) फर्श गाय का सूखा गोबर छितराकर साफ़ किया जाता है। फिर कुरसिया, लकड़ी के फलक, छोटी चटाइया इत्यादि सिलसिले से रखी जाती हैं। तब साधारण रूप से भिक्षुगण अपनी-अपनी पदवी के अनुसार बैठते हैं। आवश्यक बर्तन आलों में रख दिए जाते हैं।

संघ के बिछौने का उपयोग करते समय, शरीर और बिछौने के बीच में कुछ रख लेना चाहिए; और इसी प्रयोजन के लिए चटाई (निषीदन) का उपयोग किया जाता है। यदि मनुष्य इस नियम का पालन न करेगा तो उसे 'काली पीठ-रूपी' प्रतिफल भोगना पड़ेगा। इस विषय में बुद्ध की कड़ी आज्ञाएं हैं, और हमें इस विषय में बहुत सावधान होना चाहिए।

दक्षिण-सागर के दस द्वीपों और भारत (मूलार्थतः पश्चिम) के पांच खंडों में, लोग सिर को ऊंचा करने के लिए काठ के तकिया का उपयोग नहीं करते। यह रीति केवल चीन में ही है।

तकिया का खोल बनाने की रीति प्रायः सारे पश्चिम में एक-सी है। कपड़ा रेशम या पटुए का होता है; रंग अपनी-अपनी पसंद के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसे सीकर एक हस्त लंबा और आधा हस्त चौड़ा एक चौकोर थैला बना लिया जाता है। तकिया में कोई भी योग्य घरेलू उपज भर दी जाती है, जैसा कि ऊन, सन के टुकड़े (या रद्दी पटुआ), दूब, बेत के झोपे, नरकट कोमल पत्तियां, सन या लोबिया; गरम या शरद ऋतु के अनुसार यह ऊंचा या नीचा बनाया जाता है, इसके बनाने का उद्देश्य सुख पाना और अपने शरीर को विश्राम देना है।

वास्तव में, इसके कठोर होन का कोई डर नहीं। परंतु लकड़ी का तकिया कठोर और खडखडा होता है। इससे गर्दन के नीचे से पवन गुजर जाती है, और बहुधा सिर में पीड़ा होने लगती है। परंतु देश के अनुसार रीतियों में भेद है, मैं यहां केवल वही वर्णन कर रहा हूं जो कि मैंने एक पराए देश में सुना है। इसलिए, इसका पालन करना चाहिए या नहीं, इसका निर्णय मनुष्य अपनी प्रवृत्ति से करे। परंतु गरम चीजें सरदी से बचाती हैं और सन या लोबिए, बहुत गुणकारी होने के अतिरिक्त, नेत्र-दृष्टि के लिए अच्छे हैं। इसलिए, ऐसी वस्तुओं का उपयोग करने में कोई भूल नहीं कही जा सकती। ठंडे देश में यदि कोई अपना सिर नंगा रखे तो प्रायः ठंड (या कड़ा ज्वर) लग जाती है। हेमंत के महीनों में सर्दी इसी कारण हाती है। यदि उचित समयों पर मनुष्य सिर को गरम रखे तो कोई कष्ट या रोग न होगा। (चीन की) कहावत, 'सिर ठंडा और पैर गरम', पर सदा भरोसा नहीं किया जा सकता।

जिन कमरों में भिक्षु रहते हैं वहां कभी-कभी, एक खिड़की में या विशेष रूप से बनाए हुए आले में, एक पवित्र प्रतिमा स्थापित की जाती है। भोजन करते समय भिक्षु लोग प्रतिमा को पटुआ के कपड़े के परदे की ओट में छिपा देते हैं। वे उसे प्रतिदिन सवेरे स्नान कराते, और सदा धूप और पुष्प चढ़ाते हैं। प्रतिदिन मध्याह्न को जो भोजन खाने का होता है उसके एक भाग की बलि सच्चे हृदय से देते हैं। जिस संदूक में धर्म-ग्रंथ होते हैं, वह एक ओर रखा जाता है। सोने के समय वे एक-दूसरे कमरे में चले जाते हैं। दक्षिणी सागर के द्वीपों में भी यही रीति है। भिक्षुओं के अपने निजी कमरों में पूजा करने की साधारण रीति नीचे दी जाती है।

प्रत्येक विहार की एक पवित्र प्रतिमा होती है, जो कि एक विशेष मंदिर में स्थापित की जाती है। जब प्रतिमा बन चुके तब उसके बाद भिक्षु को आयु-पर्यंत उसे स्नान कराने में कभी चूकना न चाहिए। और इस बात की आज्ञा नहीं है कि केवल उपवास के दिन ही भोजन की साधारण बलि दी जाय। यदि इन नियमों का पालन किया जाय तो उसी कमरे में प्रतिमा रखना बुरा नहीं। जब बुद्ध जीता था तब उसके शिष्य उन्हीं कमरों में रहा करते थे, और प्रतिमा वास्तविक व्यक्ति की प्रतिनिधि होती है; हम बिना किसी हानि के उन्हीं कमरों में रह सकते हैं। इस परंपरागत रीति पर भारत में चिरकाल से आचरण किया जाता है।

21

स्वास्थ्य के लिए उचित व्यायाम के लाभ पर

भारत के भिक्षुओं और सामान्य भक्तजनो का उचित समय पर टहलने का प्रायः स्वभाव है। वे शोरवाले स्थानों से बचते हैं। एक तो इससे रोग शांत होते हैं और

दूसरे, यह भोजन के पचाने में सहायता देता है। टहलने का समय पूर्वाह्न (ग्यारह बजे से पहले) और अपराह्न है। जो मनुष्य इस व्यायाम की उपेक्षा करता है, वह रुग्ण हो जाता है। प्रायः उसकी टांगें अथवा पेट फूल जाता है, और कोहनी या कंधों में पीड़ा होने लगती है। इसके विपरीत, यदि कोई टहलने का यह स्वभाव बना लेता है तो इससे उसका शरीर अच्छा रहता है, जिसमें उसकी धार्मिक योग्यता बढ़ती है। इसलिए गृध्रकूट पर, बांधिवृक्ष के नीचे, मृगदाव में, राजगृह में और अन्य पवित्र स्थानों में ऐसे चक्रम (विहार) है, जहाँ जगद्ध्वज (बुद्ध) टहला करते थे। वे कोई दो हाथ चौड़े, चौदह-पंद्रह हाथ लंबे, और ईंटों के बने हुए, दो हाथ ऊंचे हैं, प्रत्येक के ऊपरी भाग पर चूने की बनी हुई खिले हुए कमल के फूल की चौदह-पंद्रह आकृतियाँ हैं, जो ऊँचाई में कोई दो हाथ (तीन फीट), व्यास में एक फुट और (प्रत्येक प्रतिमा के तल पर) मुनि की चरण-चिह्न से अंकित हैं। इन विहारों के दोनों सिरो पर, मनुष्य के समान ऊँचा, एक छोटा-सा चैत्य है, जिसमें कभी-कभी पवित्र प्रतिमा—शाक्य मुनि की खड़ी मूर्ति—रखी होती है। जब कोई मनुष्य देवालय या चैत्य के इर्द-गिर्द दायी ओर काँ चलता है, तब वह पुण्य के लिए ऐसा करता है, इसलिए उसे यह परिक्रमा एक विशेष पूजा-भाव के साथ करनी चाहिए। परन्तु जिस व्यायाम का वर्णन मैं अब कर रहा हूँ, वह वायु-सेवन के लिए है, और इसका उद्देश्य अपने आपको नीरोग रखना या रोगों को शांत करना है।

22

वंदना एक-दूसरे के अधीन नहीं

वदना के नियमों पर बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करना चाहिए। जो उपसपदा को प्राप्त हो चुका है, और जिसकी दीक्षा की तिथि पहले है वह अपने से छोटे की वदना का अधिकारी है। बुद्ध ने कहा था कि 'वदना' के योग्य दो प्रकार के मनुष्य हैं, एक तो तथागत, दूसरे बड़े भिक्षु। जब छोटा बड़े को देखे तब चुपचाप सम्मान प्रकट करता हुआ 'वदे' शब्द के साथ उसे प्रणाम करे; और बड़ा उस प्रणाम को स्वीकार करता हुआ, अपने हाथों को ठीक सामने करके, 'आरोग्य' कहे। यह शब्द इस बात का सूचक है कि कहनेवाला संबोधित व्यक्ति के लिए प्रार्थना करता है कि वह आरोग्य रहे। यदि वे ये शब्द न कहें तो दोषी ठहरते हैं। भारत के पाँच

1 वदना के योग्य चार प्रकार के लोग गिनाए हैं—(i) तथागत, जिसका सम्मान सब करे, (ii) प्रव्रजित, जिसका साधारण भक्तजन वदना करे; (iii) जिन भिक्षुओं को पहले उपसपदा मिल चुकी है उनकी वदना पीछे से उपसपदा पानेवाले भिक्षु करें, (iv) जिन लोगों को उपसपदा मिल चुकी है उन्हें वे लोग प्रणाम करे, जिन्हें अभी वह नहीं मिली।

खडों के भिक्षुओं में ऐसा ही नियम है। फिर भी लोग प्रायः कहते हैं—‘यदि वे इसके विपरीत आचरण करते हैं तो नियमों का पालन नहीं करते।’ हाँ वे श्रेष्ठ शिक्षा को बहुत कम समझते और व्यक्तिगत भावों के समाने सिर झुका देते हैं, और प्रणाम करने या वदना करने के नियमों का पालन नहीं करते। वास्तव में मनुष्य को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए।

23

गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव

शिष्यो (सद्धिविहारिक) की शिक्षा (धर्म के) अभ्युदय के लिए एक महत्त्व की बात है। यदि इसकी उपेक्षा की जायेगी तो धर्म का विनाश अवश्यम्भावी है। हमें अपने कर्तव्यों का बड़े उद्योग से पालन करना चाहिए, और जाल के सदृश, जिसमें से पानी बह जाता है, (बहुत ज्यादा निरंकुश) न होना चाहिए।

विनय में कहा है—‘प्रतिदिन तडके शिष्य, दातुन करके, अपने गुरु के पास आए और उसकी सेवा करने के अनंतर पवित्र प्रतिमा की पूजा और मंदिर की परिक्रमा करे। तब अपने गुरु के पास वापस आकर वह, अपने चोले को ऊपर उठाकर, हाथ जोड़कर, (सिर के साथ पृथ्वी को) तीन बार स्पर्श करते हुए, भूमि पर घुटनों के बल बैठे रहकर, दंडवत् करे। फिर सिर को झुकाए और हाथों को जोड़े हुए वह गुरु से इन प्रकार पूछे—‘मेरे उपाध्याय जी ध्यान दें’, या ‘मेरे आचार्य जी ध्यान दे;’ ‘मैं अब पूछता हूँ कि क्या मेरे उपाध्याय जी रात-भर अच्छे रहे हैं ? क्या उनका शरीर, मूलार्थतः, चार महातत्त्व पूर्णरूप से स्वस्थ रहे हैं ? क्या वे सुखपूर्वक और चुस्त हैं ? उन्हें भोजन भली-भाति पच जाता है न ? वे सवेरे के भोजन के लिए तैयार हैं न ?’ ये प्रश्न अवस्थाओं के अनुसार छोटे या पूरे हो सकते हैं। तब गुरु अपने स्वास्थ्य के संबंध के इन प्रश्नों का उत्तर देता है। फिर शिष्य पड़ोस की कोठरियों में अपने से बड़ों को प्रणाम करने जाता है। तत्पश्चात् धर्म-ग्रंथ का कुछ भाग पढ़ता है और जो कुछ उसने सीखा है उस पर विचार करता है। वह दिन पर दिन नया ज्ञान प्राप्त करता है और एक मिनट भी नष्ट किए बिना, मास पर मास, प्राचीन विषयों की खोज करता है।

साधारणतर अर्थात् प्रातःकाल के भोजन के समय तक प्रतीक्षा करके शिष्य को, अपनी भूख के अनुसार, भोजन करने की आज्ञा मागनी चाहिए। उषाकाल से

1 बुद्ध की शिक्षा के उल्लेखन की चार बातें ये हैं—

(i) सूर्यादय से पहले खाना, (ii) उपाध्याय को न बताना कि मैं भोजन करने लगा हूँ, (iii) दातुन न करना, और (iv) कीड़ों के विषय में जल की परीक्षा न करना (काश्यप)।

पहले ही उतावली से चावलों का पानी पीने से क्या लाभ है ? जो इस प्रकार की उतावली करता है वह अपने गुरु को भी नहीं बताता, न दातुन करता है, और न कीड़ों के विषय में पानी की परीक्षा करने के लिए उसके पास समय होता है। यहाँ तक कि वह स्नान और शारीरिक स्वच्छता भी नहीं कर सकता है। क्या ऐसे मनुष्य को यह ज्ञात नहीं कि वह बुद्ध की शिक्षा की चार बातों का उल्लंघन करता है ? सब भूलें इन्हीं से उत्पन्न होती है। मैं प्रार्थना करता हूँ कि जिन लोगों पर धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व है, वे इन बातों की उचित रूप से व्यवस्था करें।

सिर मुड़ा लेने, पट (सादा कपड़ा) धारण कर लेने और प्रव्रजित होने के अनंतर उपसपदा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को पाँच बातें—जैसा कि विनय में विधान है—अपने शिक्षकों को बताने की आवश्यकता नहीं, परंतु प्रकटनीय पाँच बातें बता देनी चाहिए, अन्यथा वह दोषी ठहरेगा। प्रकट करनेवाली पाँच बातें ये हैं—(1) दातुन करना, (2) जल पीना; (3) पाखाने जाना; (4) भूतना; (5) चैत्य-वंदन, अर्थात् पवित्र सीमा में उनचास व्यामो के अंदर-अंदर चैत्य की पूजा करना। उदाहरणार्थ, जब नव छात्र भोजन करने लगे तब वह अपने उपाध्याय के पास जाकर नियमानुसार प्रणाम करे और इस प्रकार कहे—‘मेरे उपाध्याय ध्यान दे, मैं अब आपको सूचना देता हूँ कि मैं हाथ और बर्तन धोता हूँ और भोजन करना चाहता हूँ।’ उपाध्याय कहे, ‘सावधान हो।’ शेष सब घोषणाएँ इस उदाहरण के अनुसार करनी चाहिए। उपाध्याय तब शिष्य को बताता है कि घोषणा के विषय और समय के विषय में क्या करना चाहिए। जब घोषणा के लिए अनेक बातें हों तब शिष्य सबकी घोषणा एकबारगी कर सकता है। विनय पर अधिकार हो जाने के बाद, 5 ग्रीष्म बीत जाने पर, शिष्य को अपने उपाध्याय से अलग रहने की आज्ञा मिल जाती है। तब वह लोगों में घूम सकता है और किसी दूसरे लक्ष्य के पीछे जा सकता है। फिर भी जहाँ कहीं वह जाये, उसे किसी उपाध्याय की रक्षा में ही रहना चाहिए। यह बात 10 ग्रीष्मों के बीतने पर, अर्थात् उसके विनय को समझने में समर्थ हो जाने के बाद, बंद हो जायेगी। महामुनि का सद्यः प्रयोजन मनुष्य को इस अवस्था पर लाना है। यदि भिक्षु विनय को नहीं समझता तो उसे आजन्म दूसरे की रक्षा में रहना होगा। यदि कोई बड़ा उपाध्याय न हो तो उसे किसी छोटे उपाध्याय की देख-भाल में रहना चाहिए। इस अवस्था में शिष्य वदना के सिवा और सबकुछ करे, क्योंकि वह सवेरे अपने उपाध्याय को प्रणाम नहीं कर सकता, और न उसके स्वास्थ्य का समाचार पूछ सकता है, क्योंकि उसे सदा विनय के अनुसार आचरण करना चाहिए, परंतु विनय का उसे ज्ञान नहीं; और यदि किसी विषय की घोषणा करनी आवश्यक भी हो तो वह कैसे कर सकता है, जबकि वह स्वयं रीति को नहीं समझता। कभी-कभी छोटा उपाध्याय सवेरे और साझ को उसे शिक्षा देता है। यद्यपि छोटा उपाध्याय ऐसे शिष्य को उपदेश

करता भी है तो भी हो सकता है कि विनय पुस्तक के अर्थ यथोचित रूप से उसकी समझ में न आवें। क्योंकि यदि प्रकट करनेवाला (अर्थात् शिष्य) अपनी बात को ठीक तौर पर नहीं बता सकता तो उत्तर देनेवाला (अर्थात् उपाध्याय) कैसे उचित आज्ञा दे सकता है। इसलिए पूरा-पूरा अंगीकार नहीं किया जाता। परन्तु असावधानी चिरकाल से स्वभाव बन गया है, सुगम मार्ग पर चलते हुए लोग धर्मानुकूल होने का कष्ट नहीं करते।

यदि हम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करें तो धर्म-परंपरा कभी न रुकेगी। यदि उसके नियमों को तुच्छ समझा जायेगा तो फिर कौन-सी दूसरी बात भारी हो सकती है ? इसलिए, विनय-ग्रंथ में कहा है—जो भिक्षु दूसरों को उपसपदा देकर बिना पढाए छोड़ देता है उसकी अपेक्षा तो बूचड़ होना अच्छा है।

भारत में शिष्य-द्वारा गुरु की सेवा की जाने की एक दूसरी रीति आगे दी जाती है। वह अपने उपाध्याय के पास रात को पहले प्रहर में और अंतिम प्रहर में जाता है। पहले उपाध्याय उसे आराम से बैठ जाने को कहता है। त्रिपिटकों में से (कुछ वचन चुनकर) वह अवस्थाओं के योग्य रीति से उसे पाठ पढाता है, और किसी भी बात या सिद्धांत को बिना व्याख्या किए नहीं जाने देता। वह अपने शिष्य के नैतिक आचरण की देख-भाल करता, और उसके दोषों और अतिक्रमों की चेतावनी उसे देता रहता है। जब कभी वह अपने शिष्य को अपराधी देखता है, उसे उसके उपाय ढूँढ़ने और पश्चात्ताप करने पर विवश करता है। शिष्य उपाध्याय के शरीर को मलता, उसके वस्त्रों की तह करता है और कभी-कभी कोठरी और आगन में झाड़ू देता है। तब जल की परीक्षा करके कि उसमें कहीं कीड़े तो नहीं हैं, वह उपाध्याय को देता है। इस प्रकार, यदि कोई काम करने को हो तो वह अपने उपाध्याय के लिए सब करता है। अपने से बड़े की पूजा की ऐसी ही विधि है। इसके विपरीत, शिष्य के रुग्ण होने की अवस्था में उपाध्याय स्वयं उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, सभी आवश्यकीय औषधियां लाकर उसे देता है और उसका ध्यान रखता है, मानो वह उसका अपना बच्चा है।

बुद्ध के धर्म के सारभूत सिद्धांतों में, शिक्षा और उपदेश सबसे आगे और पहले समझे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने सबसे बड़े पुत्र का रक्षण और शिक्षण बड़ी सावधानी से करता है, उसी सावधानी से शिष्य को धर्म की शिक्षा दी जाती है। विनय में बुद्ध की स्पष्ट आज्ञा है; क्या हमें इस बात को तुच्छ समझना चाहिए ?

अब रही उपर्युक्त चैत्यवंदन की बात। जब गुरुदेव, जगत्पूज्य, निर्वाण को प्राप्त हुए, और मनुष्य और देवता उनके शव को अग्नि में भस्म करने के लिए एकत्र हुए, तब लोग वहां सब प्रकार की सुगंधियां लाए—यहां तक कि उन्होंने

वहा एक बड़ा ढेर लगा दिया, जो कि चित्ति, अर्थात् ढर कहलाता था। पीछे से इसी से निकला हुआ चैत्य का नाम है। परन्तु इस शब्द के और भी समाधान हैं—एक तो यह कि जगत्पूज्य के सभी सद्गुण यहा इकट्ठे रखे हुए (सचित या चित्) समझे जाते हैं; दूसरे, यह भिट्टी या ईंटों का ढेर लगाने से बनता है। इस प्रकार इस शब्द के अर्थ स्पष्ट चले आ रहे हैं। इसका दूसरा नाम स्तूप है, जिसके अर्थ वही हैं जो कि चैत्य के।

ऐसे नाम जैसा कि शजू (अर्थात् महायान में 'भली-भाति प्रविष्ट') आरम्भ में अर्थ रखते थे, और सात्त्विक कर्म के कारण दिए जाते थे। जब हम चैत्यवन्दन के लिए बाहर जाने को होते हैं; और लोग हमसे पूछते हैं कि कहा जा रहे हो, तब हम उत्तर देते हैं—'हम अमुक-अमुक स्थान को चैत्य-वन्दन के लिए जा रहे हैं।' प्रणाम या वन्दन का अर्थ अपने ज्येष्ठों का सम्मान करना और नम्र रहना है। जब भिक्षु वन्दन अथवा किसी बात की घोषणा करने लगे, तब पहले उसे अपने चोंचले को ठीक कर लेना और इसे (दायें हाथ से) बायें पार्श्व की ओर दबाकर, बायें कंधे पर इकट्ठा कर लेना चाहिए, जिससे यह शरीर के साथ खूब कसकर लगा रहे। अब बायां हाथ नीचे की ओर फैलाकर भिक्षु अंतरीय के बायें भाग को पकड़ ले, और उसका दायां हाथ सायें के पकड़े हुए भाग के पीछे जाये और सायें के नीचतम भाग के साथ चीवर को इस प्रकार तह (या दुहरा) करे कि इससे घुटने भली-भाति ढंक जायें; इस क्रिया में भिक्षु अपने शरीर का कोई भी भाग दिखने न दे। सायें का पिछला भाग चटपट शरीर से लग जाये। उत्तरीय और अंतरीय को इस प्रकार ऊपर को उठाए कि वे भूमि से स्पर्श न करे। दोनों एडियां इकट्ठी रखी जायें, ग्रीवा और पीठ एकसम हों, भूमि पर दसों उंगलियों को एकसम रखकर अब उसे सिर नवाना चाहिए। घुटनों के नीचे ढाकने के लिए कोई भी वस्तु न होनी चाहिए। तब भिक्षु को अपने जोड़े हुए हाथ आगे बढ़ाने चाहिए और पृथ्वी पर फिर सिर टेकना चाहिए। इस प्रकार वह सावधानी से तीन बार प्रणाम करे। परन्तु साधारण वन्दन में एक ही बार पर्याप्त होगा। मध्य में खड़े हो जाने की कोई रीति नहीं है। भारतीय लोग जब किसी को खड़े होकर तीन बार वन्दन करते देखते हैं तब वे इसे बड़ा विचित्र समझते हैं। यदि किसी को डर हो कि (वन्दन के पश्चात्) माथे पर धूल लगी होगी तो वह पहले इसे मले और फिर पोछ डाले। फिर पिंडली की हड्डी पर से धूल पोछनी चाहिए; और कपड़ों को ठीक करके भिक्षु कमरे के एक कोने में बैठ जाये, या थोड़ी देर खड़ा रहे। शेषोक्त अवस्था में पूज्यदेव उसे आसन देगा। जिस समय मनुष्य को किसी अपराध के लिए झिड़का जा रहा हो, वह सारा समय बराबर खड़ा रहे। जब हमारा बुद्ध भूलोक में था उस समय से ऐसी परंपरागत रीति गुरु से शिष्य को, बिना रोक-टोक के, मिलती चली आ रही

है। यह सूत्रों और विनय में भी मिलती है; यह प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य बुद्ध के पास जाकर उसके दोनों पावों को छूता है, और कमरे के एक कोने में बैठ जाता है। परंतु हमने बैठने की चटाई का व्यवहार कभी नहीं सुना। तीन बार दंडवत् करने के बाद, मनुष्य एक कोने में खड़ा हो जाता है—बुद्ध की शिक्षा ऐसी ही है। पूज्य स्थविरो की कोठरियों में अनेक आसन होते हैं, और जो लोग भीतर आए उन्हें उचित रीति के अनुसार बैठ जाना चाहिए। बैठ जाने पर मनुष्य के पैर भूमि से छूते हैं; परंतु सुखपूर्वक बैठने की कोई रीति नहीं। विनय में यह बार-बार कहा गया है कि मनुष्य को पहले 'उकड़ू बैठना' अर्थात् दोनों पैरों को भूमि पर और दोनों घुटनों को सीधा रखना चाहिए और कपड़ों को शरीर के गिर्द कस रखना चाहिए, जिससे वे पृथ्वी से न लगे। पवित्र विषयो (धार्मिक) के संबंध में वर्णन करते हुए, कपड़ों की रक्षा के लिए यह एक साधारण नियम है। इसी नियम का पालन वह मनुष्य करता है जो किसी व्यक्ति के सामने अपने पापों का अंगीकार करता है, या जो एक बड़ी सभा का पादवन्दन करता है, या जो दोषी ठहराये जाने पर क्षमा के लिए प्रार्थना करता है, या उपसपदा के अनंतर सब को प्रणाम करता है।

मंदिर (गंधकुटी) की ओर देखते और स्तुति करते समय एक दूसरा आसान ग्रहण किया जाता है, वह है भूमि पर दोनों घुटने टेककर, हाथ जोड़े हुए प्रणाम और पूजन करना। परंतु खाट पर बैठे-बैठे वंदन या पूजन करने की रीति (चीन के सिवा) और किसी देश में नहीं। हम (वंदन के समय) ऊनी चटाई के प्रयोग की रीति भी नहीं देखते हैं। क्या दूसरों को प्रणाम करते समय उपर्युक्त प्रकार की गर्वित अवस्था धारण करना युक्ति-संगत है? यहां तक कि एक साधारण सामाजिक सभा में भी मनुष्य पलंग अथवा चटाई पर बैठकर उचित सम्मान नहीं किया करता। फिर पूज्य उपाध्याय, अथवा महामुनि की वंदना के समय यह रूप और भी कितना कम उचित है! भारतीय व्याख्यान-भवनों और भोजनशालाओं में कभी बड़े-बड़े पलंग नहीं रहते, किंतु केवल लकड़ी की पटरियां और छोटी कुरसियां होती हैं, जिन पर व्याख्यान सुनते अथवा भोजन करते समय लोग बैठते हैं। यही उचित रीति है।

24

अपरिचितों अथवा मित्रों के प्रति व्यवहार

जिन दिनों गुरुदेव (बुद्ध) जीते थे, धर्म के अधिपति होते हुए वे स्वयं किसी अपरिचित भिक्षु के आगमन पर उससे 'स्वागत' कहा करते थे। यद्यपि भारतीय भिक्षुओं ने

1 इसका अर्थ यह भी हो सकता है; "तब ज्यों ही स्वागत बोला जाता है, अतिथि (उत्तर में) 'सुस्वागत' कहता है।"

(अपने मित्रों के स्वागत के लिए) अनक विधियाँ बना रखी हैं, पर व्यापक नियम यह है कि जब कोई किसी को (विहार की ओर) आते देखता है,—चाहे वह अपरिचित हो, मित्र हो, चेला हो, शिष्य हो या परिचित—तब उससे 'स्वागत', जिसका अनुवाद 'स्वतिष्ठ' किया गया है, कहने के लिए आगे जाता है। परंतु यदि वह आगतुक को अपरिचित पाता है तो 'सुस्वागत', जिसका अनुवाद 'बहुत बहुत स्वस्ति हे, कहता है। यदि मनुष्य यह नहीं कहता तो एक ओर तो वह विहार की रीति को छोड़ता है, और दूसरी ओर विनय के अनुसार दोषी होता है। नवागत (आश्रमपति से) बड़ा या छोटा, इस बात की पूछ-ताछ किए बिना सदा ऐसा ही किया जाता है और सदा यही अवस्था होती है कि जब कोई मनुष्य आता है, आश्रमपति आगतुक से उसकी पानी की ठिलिया और भिक्षापात्र लेकर दीवार पर कील से लटका देता है, और नवागत को, यदि वह नवशिष्य हो तो एक एकांत स्थान में, और यदि वह पूजनीय अतिथि हो तो सामने की कोठरी में, सुख-पूर्वक बैठाकर विश्राम करने को कहता है। यदि आश्रमपति अभ्यागत से छोटा हो, तो वह अपने बड़े के सम्मान में, अभ्यागत की पिंडलियों को पकड़ लेता और उसके शरीर के सारे अंगों को सहराता है, और यदि आश्रमपति बड़ा हो, तो वह उसे ठंडा करने के लिए, उसकी पीठ को सहराता है, परंतु इतना नीचे तक नहीं कि उसकी कमर और उसके पैरों तक पहुंच जाये। और यदि दोनों आयु में समान हों तो कोई भेद नहीं रखा जाता।

जब (नवागत की) थकावट उतर जाती है तब वह हाथ-पैर धोकर उस स्थान पर जाता है जहां कि उसका ज्येष्ठ होता है, और भूमिगत होकर एक बार उसे दंडवत् करता; और घुटनों के बल बैठे हुए, वह अपने से श्रेष्ठ के पैरों को पकड़ता है। वह श्रेष्ठ, अपने दायें हाथ को बढ़ाकर अपने से छोटे भिक्षु के कंधे और पीठ को सहराता है—परंतु यदि उन्हें बिछुड़े बहुत देर नहीं हुई तो उसे अपने हाथ से नहीं सहराता। जब उपाध्याय उसका कुशल-समाचार पूछता है, और शिष्य बताता है कि मैं कैसा हूं। तब शिष्य एक ओर हट जाता, और उचित सम्मान के साथ बैठ जाता है। भारत में साधारण नियम लकड़ी के एक छोटे से पट्टे पर बैठने का है, और सब लोग पैर नंगे रखते हैं।

सूत्रों में बार-बार कहा गया है कि मनुष्य और देवता बुद्ध के पास आते थे, अपने सिर झुकाकर उसके दोनों पैरों पर रख देते थे, तब हटकर एक ओर बैठ जाते थे। यह ऐसी रीति है जैसी कि मैं अब वर्णन कर रहा हूं। तब आश्रमपति, वर्ष की ऋतु का विचार करके, गरम पानी अथवा कोई दूसरा पेय आगे रखे।

घृत, मधु, चीनी अथवा कोई और खाद्य और पेय पदार्थ, मनुष्य की इच्छानुसार दिए जा सकते हैं। जिन आठ प्रकार के शरबतों (पानों) की बुद्ध ने आज्ञा दी है यदि यह उनमें से एक हो तो देने से पूर्व इसे छानन और साफ कर लेना आवश्यक

है। यदि यह तलछट से गाढ़ा हो रहा है तो बुद्ध ने इसकी कभी आज्ञा नहीं दी।

धीरे-धीरे राधी हुई खुबानी का रस, स्वभावतः ही, गाढ़ा होता है, और हम इसे शास्त्रविहित पानों से युक्तिपूर्वक बाहर समझ सकते हैं। पिनय में यह कहा है—‘आसव को स्वच्छ रीति से छानना चाहिए, यहाँ तक कि इसका रंग नरकट के पीले पत्ते के सदृश हो जाये।’

अभ्यागतों के स्वागत की प्रक्रियाएं ऐसी ही हैं, चाहे वे उपाध्याय हों चाहे शिष्य हों, चेले हों, अपरिचित हों या मित्र हों। दूसरे के द्वार पर पहुँचते ही, अपने कपड़ों और टोपी का ध्यान रखे बिना, शीत का सामना करते हुए या गरमी सहते हुए,—जिससे या तो हाथ और पैर सुन्न हो रहे होंगे या सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा होगा—जल्दी में होना (नीचे देखिए) कहना ठीक नहीं। जल्दी की ऐसी पद्धति नियम के बहुत विरुद्ध है।

जिस समय शिष्य धर्म के सिवा किसी और विषय पर व्यर्थ बातें कर रहा हो उस समय उसे एक ओर न बैठकर खड़े रहने देना उपाध्याय की भूल है। वास्तव में, क्या ऐसा मनुष्य धर्म की उन्नति की भारी आवश्यकता समझता है ?

सड़क पर या जमघट में उपर्युक्त वंदन उचित नहीं। परंतु मनुष्य को चाहिए कि हाथों को जोड़कर आगे बढ़ा दे, और सिर को झुकाकर मुह से पति (वंदे) कहे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—‘या मनुष्य केवल हाथ जोड़कर आगे कर देता है, ...और सिर को थोड़ा-सा नीचे झुका देता है।’ यह भी वंदन करने की रीति है।

25

शारीरिक रोग के लक्षणों पर

जैसा कि मैं पहले कह चुका हूँ, मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोड़ा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो, तो कारण ढूँढ़ना चाहिए, जब रोग का कारण मालूम हो जाये तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उषा-काल प्रायः ‘कफ का समय’ कहलाता है, जबकि रात के भोजन का रस, अभी बिखरा न होने के कारण, छाती के गिर्द लटक रहा होता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।

उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य उस समय ईधन डालता है जबकि आग पहले से भड़क रही है, तो यह डाला हुआ ईधन जल जायेगा, परंतु यदि मनुष्य उस आग पर घास डाल देता है जो अभी भभक नहीं रही है, तब घास वैसी की वैसी पड़ी रहेगी, और आग जलेगी तक नहीं।

साधारण भोजन के अतिरिक्त हलके भोजनों की आज्ञा बुद्ध ने दी है, चाहे चावल का पानी हो या चावल हों, भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए।

धर्म का पालन करते हुए यदि कोई केवल चावल के पानी पर निर्वाह कर सके, तो और कोई वस्तु नहीं खानी चाहिए, परंतु यदि मनुष्य को शरीर के पोषण के लिए चावल की रोटियों की आवश्यकता हो तो उनके खाने में उसे कोई दोष नहीं। जब मनुष्य के सिर में पीड़ा होती है और वह शैया पर लेट जाता है तब यह न केवल गेग ही कहलाता है, वरन् जब खाने से मनुष्य को दुःख होना है तब रोग का कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जब औषधि से गेग की शांति न हुई हो तब वैद्य की आज्ञा से किसी भी अनिर्दिष्ट समय में भोजन किया जा सकता है। बुद्ध कहता था कि 'ऐसी दशा में भोजन किसी एकान्त स्थान में देना चाहिए' अन्यथा अनुचित समय में भोजन का निषेध है। आयुर्वेद, जो कि भारत की पाच विद्याओं में एक है, बतलाता है कि वैद्य, रोगी के कठस्वर और मुखमंडल को देखने के अनंतर चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है।

यदि यह इस विद्या के मर्म को नहीं समझता, तो उचित रीति से कर्मे की इच्छा रखते हुए भी, भूलें कर बैठेगा। चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरण¹ ये हैं—पहले में, सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे में, गले से ऊपर प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का; तीसरे में, शरीर के रोगों का; चौथे में, भूतावेश का; पाचवें में, अगद औषधि (अर्थात्, प्रतिविष) का; छठे में, बालकों के रोगों का; सातवें में, आयु को बढ़ाने के उपायों का; आठवें में, शरीर और टांगों को पुष्ट करने की रीतियों का वर्णन है। (1) व्रण दो प्रकार के हैं, भीतरी और बाहरी; (2) गले के ऊपर का रोग सारा वही है जो सिर और मुख पर होता है, (3) कठ के नीचे का प्रत्येक रोग 'शारीरिक' रोग कहलाता है, (4) 'भूतावेश' आसुरी आत्माओं का आक्रमण है, और (5) 'अगद' विषों के प्रतीकार के लिए औषधि है; (6) 'बालकों' परंतु आयुर्वेद के 5 से तात्पर्य भ्रूणावस्था से लेकर लड़के के सोलहवें वर्ष के बाद तक है, (7) 'आयु को बढ़ाना' शरीर को बचाना है जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे, और (8) 'शरीर और टांगों को पुष्ट करने' का अर्थ शरीर और अवयवों को दृढ़ और नीरोग रखना है। ये आठ कला में पूर्व काल में आठ पुस्तकों में थीं; परंतु पीछे से एक मनुष्य ने उन्हें संक्षिप्त करके एक गट्ठा बना दिया। भारत के पाच खंडों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते हैं, और इसमें भली-भांति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय

¹ ये आयुर्वेद के आठ विभागों से पूर्णतः मिलते हैं।

जनता वैद्यो का बड़ा सम्मान और व्यापारियों का बहुत आदर करती है, क्योंकि वे जीव-हिंसा नहीं करते, और वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हैं। मैंने भेषज विद्या का भली-भाँति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैंने अत को इसे छोड़ दिया है।

साधारणतः जो रोग शरीर में होता है वह बहुत अधिक खाने से होता है, परन्तु कभी-कभी यह अति परिश्रम, या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खाने से उत्पन्न हो जाता है; जब रोग इस प्रकार उत्पन्न होता है तब इसका परिणाम विषूचिका होता है, जिसके कारण मनुष्य को कई रातों तक लगातार पीड़ा-बुद्धि से दुःख उठाना पड़ता है।

वास्तव में, ऐसे परिणामस्वरूप होनेवाले रोग के कारण को न जानने और औषध करने (मूलार्थतः, शांत करने और रक्षा करने) की विधि को न समझने से पैदा होते हैं। कहा जा सकता है कि लोग बिना हेतु के जाने रोगमुक्त होने की आशा करते हैं, ठीक उन लोगों के सदृश, जो जलधारा को बंद करने की इच्छा रखते हुए, इसके सोते पर बांध नहीं बाधते; या उन लोगों के सदृश जो वन को काट डालने की कामना करते हुए, वृक्षों को उनकी जड़ों से नहीं गिराते, किन्तु धारा या कोंपलों को अधिक-से-अधिक बढ़ने देते हैं।

क्या यह खेद की बात नहीं है कि रोग मनुष्य को उसका कर्तव्य और व्यवसाय करने से रोक देता है ? मनुष्य के लिए अपने गौरव तथा प्रसाद को खो बैठना वास्तव में कोई छोटी बात नहीं, इसलिए मैं उपर्युक्त बातों का वर्णन कर रहा हूँ जिन्हें मुझे आशा है कि पाठक एक सुदीर्घ पुनरावृत्ति बताकर आपत्ति नहीं करेंगे। मैं चाहता हूँ कि एक पुराना रोग बहुत-सी औषधियाँ खर्च किए बिना ही शांत हो जाय और नया रोग रुक जाय, और इस प्रकार वैद्य को आवश्यकता न हो;—तब शरीर (अर्थात् चार भूतों) की स्वस्थ अवस्था और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग, चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन से दूसरों का तथा अपना हित कर सकें तो क्या यह उपकार की बात नहीं है ?

परन्तु विष खाना, या मृत्यु और जन्म, प्रायः मनुष्य के पूर्व कर्म का फल होता है; फिर भी इसका यह तात्पर्य नहीं कि मनुष्य उस दशा को दूर करने या बढ़ाने से सकोच करे जो वर्तमान जीवन में रोग को उत्पन्न करती या उसे हटाती है।

1 मूलार्थतः — 'रात का भोजन पचने के पहले सबेरे का भोजन, और सबेरे का भोजन पच जाने से पहले दोपहर का भोजन करने से।'

ओषधि देने के नियम

प्रत्येक प्राणी चार महाभूतों के शात कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओं के एक-दूसरे के वाद आने से, शारीरिक दशा में विकास और परिवर्तन कभी बद नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए।

इसलिए लोकज्येष्ठ (बुद्ध) ने स्वयं चिकित्सा-शास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश दिया था, जिसमें उन्होंने कहा था—‘चार महाभूतों के स्वास्थ्य (शब्दार्थ, परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

1. पृथ्वी-तत्त्व के बढ़ने से, शरीर को आलसी और भारी बनाना।
2. जल-तत्त्व के इकट्ठा हो जाने से, आंख में मैल या मुह में राल का बहुत अधिक होना।
3. अग्नि-तत्त्व से उत्पन्न हुए अतिप्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना।

4. वायु-तत्त्व के जगमग प्रभाव के कारण श्वास का प्रचंड वेग।’

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रातःकाल अपनी जांच करनी चाहिए। यदि जांच करने पर चार महाभूतों में कोई दोष जान पड़े, तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शरबत या जल न पीना चाहिए, क्योंकि इस विद्या में इसका सबसे कड़ा निषेध है। इस उपवास को, कभी-कभी एक-दो दिन तक, कभी-कभी चार-पांच दिन तक जारी रखना होता है, जब तक कि रोग बिलकुल शांत न हो जाय। रोग की निवृत्ति अवश्य ही हां जायेगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर से दबाना या सहारना, जितना अधिक हो सके गरम जल पीना, और वमन लाने के लिए कंठ में उगनी डालना चाहिए; जब तक भोजन का अवशिष्टांश बिलकुल न निकल जाये, पानी का पीना और फिर वमन-द्वारा निकालना जारी रखना चाहिए।

यदि मनुष्य ठंडा जल पीवे तो कोई हानि नहीं, और गरम जल में सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम-से-कम, उपचार आरंभ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए, और पहली बार भोजन दूसरे दिन सवेरे खाना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार और उपाय करना चाहिए। प्रचंड ज्वर की दशा में, जल द्वारा ठंडक पहुंचाने का निषेध है, ‘डूबते हुए भारीपन’ (1) और ‘कांपनेवाली सरदी’ की अवस्था में सबसे उत्तम इलाज आग के निकट रहना है, परंतु (यड-त्सजे) नदी और (बेर) गिरिमाला के दक्षिण में अवस्थित गरम और गीले

स्थानों में इस नियम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इन प्रातः में जब ज्वर होता है तब जल से ठंडा करना गुणकारी होता है। जब वायु का दबाव हो रहा हो, तब सबसे उत्तम उपाय घायल और पीडायुक्त स्थान पर तेल मलना, और उसे गरम किए हुए बिछौने पर गरम करना है। यदि मनुष्य उस पर गरम तेल मले तो भी अच्छा परिणाम होता है। कभी-कभी हम देखते हैं कि लगभग दस दिन तक कफ कंठ में भरा रहता है, मुँह और नाक से लगातार पानी बहता है, और इकट्ठा हुआ श्वास, वायु की नली में बंद होने के कारण कंठ में तीव्र पीडा उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में, वाणी के अभाव से, बोलना कठिन होता है, और सब भोजन स्वादहीन हो जाते हैं।

उपवास एक बड़ी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषज-विद्या के साधारण नियम, अर्थात् बिना किसी क्वाथ या अन्य औषधि के प्रयोग के चंगा करने के अनुसार है। कारण है कि जब आमाशय खाली होता है तब प्रचंड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सोख जाता है तब श्लेष्मल रोग निवृत्त हो जाता है, और जब भीतरी इंद्रिया विश्राम में होती हैं और बुरा सास बिखर जाता है तब कड़ी ठंड स्वभावतः ही दूर हो जाती है। यदि इस रीति का अवलंब किया जाय तो अवश्य ही रोग-शान्ति हो जाती है।

उपवास सरल और अद्भुत औषधि है, क्योंकि निर्धन और धनवान् दोनों समान रूप से इसका अनुष्ठान कर सकते हैं। क्या यह महत्त्व की बात नहीं है ?

शेष सब रोगों में—जैसा कि मुँहासा या किसी छोटे फोड़े का सहसा निकल आना, रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना; हाथों और पैरों में प्रचंड पीडा, आकाश के विकारों (जैसा कि बिजली), वायु-गुण, या खग तथा बाण से शरीर की हानि; गिर पड़ने से घायल हो जाना; तीव्र ज्वर या विषूचिका, आधे दिन की सग्रहणी, सिर-पीडा, हृदयव्याधि, नेत्र-रोग या दंत-पीडा—भोजन से बचना चाहिए। हरीतक (या, की) की छाल, सोठ और चीनी लो, और तीनों को समान मात्रा में तैयार करो, पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूंदों से चीनी के साथ मिलाओ, और फिर गोलिए बना लो। प्रतिदिन सवेरे अधिक-से-अधिक कोई दस गोलिया एक मात्रा में खाई जा सकती हैं, और भोजन का प्रयोजन बिल्कुल नहीं रहता। अतिसार की दशा में, नीरोग होने के लिए कोई दो-तीन मात्राएँ पर्याप्त हैं। इस गोली से बहुत बड़ा लाभ होता है, क्योंकि यह रोगी को सिर के घूमने, ठंड और अजीर्ण से मुक्त कर देती है, इसीलिए मैं यहां इसका उल्लेख कर रहा हूँ। यदि चीनी न हो तो लसलसी मिठाई या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रतिदिन हरीतक का टुकड़ा दांतों से काटे और उसका रस निगले तो जीवन-पर्यंत उसे कोई रोग न होगा। ये बातें, जिनसे भेषज-विद्या बनी है, शक्र देवेन्द्र से भारत को पांच विद्याओं

मे से एक के रूप में चली आ रही है और उस देश के पाँचों भागों के लिए इसी पर चलते हैं। इसमें सबसे महत्त्व का नियम उपवास है।

विषय, जैसे कि साण के काटे की चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नहीं करनी चाहिए। उपवास की अवस्था में, घूमना और काम करना बिल्कुल छोड़ देना चाहिए।

जो मनुष्य लंबी यात्रा कर रहा है, उसे उपवास में चलने से कोई हानि नहीं परंतु जिस रोग के लिए वह उपवास कर रहा हो, वह जब निवृत्त हो जायें, तब उसे अवश्य विश्राम करना चाहिए, और ताज़ा उबला हुआ भात खाना और भली-भाँति उबला हुआ कुछ मसूर का जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठंड मालूम हो तो शेषोक्त जल को कुछ काली मिर्च, अदरक या पिप्पली के साथ पीना चाहिए। यदि जुकाम मानूम हो तो काश्मिरी प्याज (पलांडु) या जंगली राई लगानी चाहिए।

चिकित्सा-शास्त्र में कहा है—‘साठ के सिवा चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज सगदी को दूर कर देती है।’ परंतु यदि दूसरी चीजों को साथ में मिला लिया जाये तो भी अच्छा है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शांत रखना और विश्राम देना चाहिए। ठंडा जल नहीं पीना चाहिए, दूसरे भोजन वैद्य के परामर्शानुसार करने चाहिए। यदि चावली का पानी पिया जायेगा तो कफ के बढ़ने का डर रहेगा। ठंड के रोग में खाने से कुछ हानि न होगी; ज्वर के लिए वेद्यक का क्वाथ वह है जो कडवे गिंसेंग (*Aralia quinquefolia* की जड़) को भली-भाँति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी अच्छी है। मुझे अपनी जन्म-भूमि को छोड़े बीस से अधिक वर्ष बीत चुके हैं, और केवल यह और गिंसेंग का क्वाथ ही मेरे शरीर की ओषधि रही है और मुझे कदाचित् ही कभी कोई घोर रोग हुआ है।

पश्चिमी भारत के लाट¹ देश में, जो लोग रोगग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते हैं। जब तक वह रोग, जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णरूप से शांत नहीं हो जाता तब तक वे कभी भोजन नहीं करते। मध्य भारत में उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जबकि दक्षिणी सागर के द्वीपों में दो अथवा तीन दिन हैं। इसका कारण प्रदेश, रीति और शरीर की रचना के भेद हैं।

(भारत में) लोग किसी प्रकार का प्याज नहीं खाते। मेरा मन ललचा जाता था और मैं उसे कभी-कभी खा लेता था, परंतु धार्मिक उपवास करते समय वह

1 बृहत्संहिता 69, 11 में मालव, भरोएच, सूरत (सुराष्ट्र), लाट और सिंधु का उल्लेख एक ही समूह में है।

दुःख देता और पेट को हानि पहुँचाता है। इसके अतिरिक्त यह नेत्र-दृष्टि का खराब करता, रोग को बढ़ाता और शरीर को दुर्बल करता जाता है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नहीं खाती। बुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दे और जो बात सदेव है उसे छोड़कर जो उपयोगी है उसका अनुष्ठान करे, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नहीं करता तो इसमें वैद्य का कोई दोष नहीं।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाये तो इससे शरीर को सुख और धर्म-कार्य को पूर्णता प्राप्त होगी, और इस प्रकार अपना और दूसरों का उपकार होगा। यदि इस रीति को अस्वीकृत किया जायेगा तो इसका परिणाम दुर्बल शरीर और सकुचित ज्ञान होगा, और दूसरों की तथा अपनी सफलता सर्वथा नष्ट हो जायेगी।

27

पूजा में दायीं ओर को फिरना

‘दायीं ओर को घूमना’ संस्कृत में प्रदक्षिणा कहलाता है। उपसर्ग ‘प्र’ के अनेक अर्थ हैं, और अब, इस शब्द के अश के रूप में, यह ‘गिर्द घूमना’ प्रकट करता है। दक्षिण का अर्थ है ‘दाया’, और यह प्रायः प्रत्येक पूज्य और उचित बात को बतलाता है। इसलिए वे (भारतीय लोग) दायें हाथ को दक्षिण कहते हैं, जिससे सूचित यह होता है कि दायें के पीछे चलना उचित और सम्मानयुक्त है। इसलिए यह प्रदक्षिणा की प्रक्रिया के योग्य है। दक्षिणा का (स्त्रीलिंग संज्ञा के रूप में) अर्थ ‘दान’ भी है। भारत के पाँचो खंडों में सर्वत्र सब लोग पूर्व को ‘सामने’ और दक्षिण को ‘दाया’ कहते हैं, यद्यपि मनुष्य इसी रीति से दाया और बाया नहीं कह सकता (अर्थात्, उत्तर के लिए बाया नहीं कहा जा सकता)। हम सूत्रों में यह पद पढ़ते हैं—‘तीन बार प्रदक्षिणा करना’, परंतु इसका अनुवाद केवल ‘बुद्ध के पार्श्व के गिर्द घूमना’ करना अशुद्ध है। सूत्रों में यह पद—‘दायी ओर को तीन बार गिर्द-गिर्द घूमना’, प्रदक्षिणा की पूरी व्याख्या है, और एक दूसरा संक्षिप्त वर्णन भी है—‘दायीं ओर’ को न कहकर, ‘लाख बार गिर्द घूमना’।

परंतु दायीं ओर को या बाई ओर को चलना क्या है, इसका निश्चय करना कुछ कठिन होगा। यदि मनुष्य अपने दायें हाथ की ओर चलता है, तो क्या यह दायी ओर को चलना है? अथवा क्या यह अपने बायें हाथ की ओर को चलना है? एक बार मैंने चीन में एक विद्वान् का समाधान सुना था, कि ‘बायीं ओर

1 अर्थात् महापरिनिब्बान, अ 6,46, पदविखणम् कत्वा।

का र्द्ध गिर्द घूमने का अर्थ यह है कि मनुष्य अपना दाया हाथ (उस चक्र के भीतर रखे (जो कि यह बनाता है¹), और 'बायी ओर को इर्द-गिर्द घूमने' का अर्थ है अपना बाया हाथ उस चक्र के भीतर रखना, और इसलिए, वास्तव में, जब मनुष्य अपने बाय हाथ की ओर इर्द-गिर्द घूमता है, तब 'प्रदक्षिणा' हो जाती है। यह केवल उस विद्वान् की सम्मति है, और बिलकुल ठीक नहीं है। इसने अनजानों को उचित विधि के विषय में हैरान कर दिया है, और कुछ प्रसिद्ध लोगों को भी, जो अत्यनुरोध से इससे सहमत हो गए हैं, भटका दिया है। अब केवल सिद्धांतों से अनुमान करके, हम इस विषय का निर्णय कैसे करें ? यह बात तभी हो सकती है जब, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को छोड़कर, केवल सस्कृत-पुस्तकों पर ही विश्वास किया जाय। दाये हाथ की ओर चलना (अर्थात् दाई ओर को न फिरना) प्रदक्षिणा है, और बाये हाथ की ओर चलना बायी ओर के इर्द-गिर्द घूमना है। यह नियम बुद्ध का नियत किया हुआ है, और हमारे विवाद से परे है।

इसके आगे (हम) 'उचित समय' और 'अनुचित समय' का वर्णन करेंगे। जिस मूत्र में 'उचित समय' का वर्णन है उसमें विविध अवस्थाओं के अनुरूप समय के विषय में भिन्न-भिन्न ढंग हैं। परंतु, चार निकायों के विनय-ग्रंथों में यह एकमत से कहा गया है कि दोपहर (मूलार्थतः अश्व-समय, अर्थात् बारह बजे) भोजन के लिए उचित है। यह (सूर्य की घड़ी की) छाया एक धागे जितनी धोड़ी भी गुजर जाये, तो (भोजन के लिए) यह समय अनुचित कहलाता है। जो मनुष्य (समय के व्यक्तिगत क्रम के) दोष से अपने आपको बचाता है, वह यदि ठीक दिग्भाग लेना चाहता है तो उसे रात को ध्रुव नक्षत्र को जाचना, और तत्काल दक्षिण ध्रुव (अर्थात् 'दक्षिणी नक्षत्र' की दिशा)² को ध्यान-पूर्वक देखना होगा; और (ऐसा करने के पश्चात्), यह (दक्षिण और उत्तर की) ठीक रेखा का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है। फिर उसे एक उचित स्थान पर मिट्टी का एक छोटा-सा चबूतरा बनाना होता है। यह चबूतरा गोल बनाया जाता है। इसका व्यास एक फुट और ऊंचाई पांच इंच होती है। इसके मध्यवर्ती भाग में एक पतली-सी छड़ी गाड़ी जाती है। या, भोजन करने की बांस की छड़ी-जैसी पतली, एक कील पत्थर के मंच पर गाड़ी जाती है, और इसकी ऊंचाई चार अंगुल लंबी होनी चाहिए। अश्व-समय (दोपहर) की ठीक घड़ी में (मंच पर पड़ी हुई छड़ी की) छाया के साथ-साथ निशान खींच दिया जाता है। यदि छाया उस निशान से गुजर गई हो तो मनुष्य को खाना नहीं चाहिए।

- 1 निस्मदेह भारतीय रीति के अनुसार यह ठीक समाधान है, परंतु इन्सिग इसके विरुद्ध कहता है।
- 2 समय को हर बार देखने के लिए इन बातों को देखने की आवश्यकता है--(i) मध्याह्न की दिशा (जा ध्रुव नक्षत्र को देखकर मालूम होती है), (ii) वह समय जब एक अधिक दक्षिणी (और अतः अधिक शीघ्रता से चलनेवाला) नक्षत्र ऊर्ध्वसीमा (meridian) में से गुजरता है।

भारत में ऐसी (घड़ियां) प्रायः सर्वत्र बनाई जाती हैं, और ये वेला-चक्र अर्थात् समय के पहिए, कहलाती हैं। छाया मापने की रीति यह है कि छड़ी की छाया को उस समय देखा जाये जबकि वह छोटी-से-छोटी हो। इस समय मध्याह्न होता है। परन्तु जवूडीप में, स्थानों की स्थिति में भिन्नता होने के कारण, छायाओं की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, लो¹ के प्रातः में कोई छाया नहीं होती; परन्तु अन्य स्थानों की अवस्था भिन्न है। फिर उदाहरणार्थ, श्री भोज देश में, आठवें मास के मध्य में (अर्थात् जल-विषुव के लगभग), हम देखते हैं कि वेला-चक्र की छाया न लंबी होती है, न छोटी। उस दिन खड़े होनेवाले मनुष्य की कोई छाया नहीं पड़ती। वसंत के मध्य में (अर्थात् महाविषुव के समय के लगभग) भी यही अवस्था होती है। सूर्य एक वर्ष में दो बार ठीक सिर के ऊपर से गुजरता है। जब सूर्य दक्षिण में चलता है, तब (मनुष्य की) छाया उत्तर की ओर पड़ती है, और दो-तीन फीट लंबी हो जाती है, और जब सूर्य उत्तर में होता है, तब (मनुष्य के) दक्षिण पार्श्व में छाया उतनी ही होती है। चीन में उत्तर भाग में छाया की लंबाई दक्षिण भाग से भिन्न होती है, उत्तर-देश में द्वार सदा सूर्य के सामने बनाए जाते हैं। जब चीन के पूर्वी समुद्रतट (है-तुंग) पर मध्याह्न होता है तब अभी क्वन-हसी (अर्थात् चीन के अलग्गट शें-सी के पश्चिम के प्रदेश) में नहीं होता। इस प्रकार नैसर्गिक भेद होने के कारण एक ही अवस्था में सार्वत्रिक होने पर हठ नहीं किया जा सकता। इसलिए विनय में कहा है—‘प्रत्येक स्थान में वहां के मध्याह्न के अनुसार समय का निश्चय किया जाता है।’ क्योंकि प्रत्येक भिक्षु पवित्र नियमों के अनुसार आचरण करना चाहता है, और प्रतिदिन खाना आवश्यक है, इसलिए नियत समय पर खाने के लिए उसे छाया को नापने में सावधान रहना चाहिए। यदि वह इसे भी पूरा नहीं कर सकता, तो दूसरी आज्ञाओं का कैसे पालन कर सकता है? इसलिए विश्रुत मनुष्यों को, जो नियमों पर चलते और उनका प्रचार करते हैं, और जिन्हें जटिल और सूक्ष्म नियमों को देखकर आश्चर्य नहीं होता, समुद्र-यात्रा में भी अपने साथ सूर्य-घड़ी रखनी चाहिए, और स्थल पर तो इसे रखना और भी अधिक आवश्यक है। भारत में कहावत है कि ‘जो कीड़ों के लिए पानी को और मध्याह्न के लिए समय को देखता है वह विनय-उपाध्याय कहलाता है।’

इसके अतिरिक्त, भारत के बड़े-बड़े विहारों में जल-घड़ियां बहुत बर्ती जाती हैं। ये और इन्हे देखते रहने के लिए कुछ लड़के अनेक पीढियों के राजाओं के

1 लो-प्रातः संभवतः मध्य भारत है। ‘लो’ चीन की राजधानी और ‘जो’ कुछ आकाश के नीचे है उस सबका केंद्र था। शायद ‘इत्सिंग’ ने एक बार इसका व्यवहार मध्य भारत के लिए कर लिया हो, यद्यपि वह बात बड़ी विचित्र मालूम होती है।

दिए दान होते हैं, ताकि भिक्षुओं को बताते रहे कि इतने बजे हैं। एक तांबे के बासन में पानी भर दिया जाता है, और उसमें एक तांबे का प्याला तैरता रहता है। यह प्याला पतला और कोमल होता है, और इसमें तो शाग (ग्रस्थ) जल आता है। इसकी पेदी में सुई के नाके जितना छोटा-सा एक छेद कर दिया जाता है, जिसमें से पानी ऊपर आता है; वर्ष के समय के अनुसार यह छेद छोटा या बड़ा कर दिया जाता है। घंटों (की लबाई) को माप कर इसे अच्छी तरह से बनाना चाहिए।

प्रातःकाल से आरंभ करके, प्याले के पहली बार डूबने पर, डके की एक चोट बजाई जाती है, और दूसरी डुबकी पर दो चोटे, तीसरी डुबकी पर तीन चोटे। परंतु प्याले की चौथी डुबकी पर डंके की चार चोटों के अतिरिक्त, शंख की दो फूके, और डके की एक और धडक की जाती है। यह पहला पहर कहलाता है, अर्थात् उस समय सूर्य पूर्व में (खस्वस्तिक और दिड मडल के बीच) होता है। जब प्याले की चार डुबकियां दूसरी बार पूरी हो चुकती हैं, तब (डंके की) चार चोटे पूर्ववत् लगाई जाती हैं, और शंख भी बजाया जाता है, जिसके पश्चात् (डके की) दो और चोटे लगाई जाती हैं। यह दूसरा पहर कहलाता है, अर्थात् ठीक अश्व-समय (अर्थात् दोपहर का आरंभ) है। यदि पिछली दो चोटें बज चुकी हों तो भिक्षु भोजन नहीं करते, और यदि कोई खाता हुआ पकड़ा जाय तो विहार की रीति के अनुसार उसे निकाल देना होता है। अपराह्न में भी दो पहर होते हैं, जिनकी घोषणा पूर्वाह्न की तरह ही की जाती है। रात को चार पहर होते हैं। वे दिन के पहरों के सदृश होते हैं। इस प्रकार एक दिन एक रात की बाट से आठ पहर बनते हैं। जब रात का पहला पहर समाप्त होता है तब कर्मदान, विहार की एक अटारी में डका बजाकर, सबको इसकी घोषणा करना है। यह नालंद-विहार में जल-घड़ी का नियम है। सूर्यास्त और सूर्योदय के समय द्वार के बाहर डंका ('एक गजल') बजाया जाता है। ये अनावश्यक काम सेवक ('शुद्ध मनुष्य') और द्वारपाल करते हैं। सूर्यास्त से लेकर उषाकाल तक, न तो भिक्षुओं को कभी घंटा बजाने का काम करना पड़ता है और न यह उन सेवकों ('शुद्ध मनुष्यों') का काम है। यह काम तो कर्मदान का है।

महाबोधि और कुशीनगर के विहारों में जल-घड़ियों की व्यवस्था कुछ भिन्न है। वहां सवेरे और दोपहर के बीच सोलह बार प्याला डुबाया जाता है।

दक्षिण-समुद्र के पूलो कडोर (Pulo Condore) देश में, पानी से भरा हुआ तांबे का एक बड़ा बासन (या घड़ा) वर्ता जाता है। इसकी पेदी में एक छेद खोल दिया जाता है जिसमें से पानी बाहर निकलता है। हर बार जब घड़ा खाली हो जाता है तब एक बार डका बजा दिया जाता है, और जब चार चोटें लगाई जाती हैं तब दोपहर हो जाता है। यही क्रिया सूर्यास्त होने तक की जाती है, दिन के समय के सदृश रात के भी आठ पहर होते हैं, जिससे सब मिलकर सोलह पहर

बन जाते हैं। यह जल-घड़ी भी उस देश के राजा का दान है।

उन जल-घड़ियों के प्रयोग के कारण, घने बादलों और अंधेरे दिन में भी, अश्व-समय (अर्थात्) दोपहर के विषय में किसी प्रकार की भूल नहीं होनी, और जब कई गतों तक बराबर वर्षा जारी रहती है, पहरों को भूल जाने का कोई डर नहीं होता। (चीन के विहारों में) ऐसी घड़ियां लगाने की जरूरत है। इसके लिए राजा से सहायता मागनी चाहिए, क्योंकि सब के लिए यह एक बड़ी आवश्यक चीज है।

जल-घड़ी लगाने के लिए, पहले दिन और रात (की लंबाई) को गिनना, और फिर उन्हें पहरों में बाटना होता है। प्रातःकाल से लेकर मध्याह्न तक प्याले की आठ डुबकियां हो। यदि ऐसा हो जाय कि (दोपहर तक) आठ से कम डुबकियां हो तो प्याले के छेद को थोड़ा-सा चौड़ा कर देना चाहिए। परंतु इसे ठीक करने के लिए एक अच्छे कारीगर की आवश्यकता है। जब दिन या रात क्रमशः छोटी हो जाती है तब (पानी की) आधी डोई और मिला देना चाहिए, और जब दिन या रात क्रमशः लंबी हो जाये तब आधी डोई निकाल देनी चाहिए।

परंतु इसका उद्देश्य 'समय' की घोषणा करना है, इसलिए कर्मदान के लिए अपने कमरे में (उसी प्रयोजन के लिए) एक छोटे प्याले का व्यवहार युक्तिसंगत है और उसकी आज्ञा भी है।

यद्यपि चीन में (रात के समय) पांच पहर, और भारत में चार पहर होते हैं, परंतु विनेता की शिक्षा के अनुसार, केवल तीन ही पहर हैं, अर्थात् एक रात तीन भागों में विभक्त की गई है। पहले और तीसरे में स्मरण, (प्रार्थनाओं का) जाप, और ध्यान किया जाता है, और मध्यवर्ती पहर में भिक्षुगण, अपने विचारों को बांधकर (या, एकाग्रता के साथ) सोते हैं। रोग की अवस्था को छोड़कर, जो ऐसा नहीं करते वे नियम को भंग करने के अपराधी ठहरते हैं, और यदि वे इसे पूजा-भाव से करते हैं तो इनसे उनका अपना और दूसरों का भला होता है।

28

पूजा की पवित्र वस्तुओं को साफ़ करने में औचित्य के नियम

तीन पूज्यो (तीन रत्नों) की पूजा से बढ़कर और कोई पूजा विनीत और पूर्ण प्रज्ञा के लिए चार आर्य-सत्यो के ध्यान से उच्चतर और कोई सड़क (हेतु) नहीं। परंतु इन सत्यां के अर्थ इतने गंभीर हैं कि ये गंवार लोगों की समझ से दूर हैं, परंतु पवित्र प्रतिमा (अर्थात् बुद्ध की मूर्ति) को सब कोई स्नान करा सकता है। यद्यपि गुरुदेव निर्वाण को प्राप्त हो चुके हैं, परंतु उनकी प्रतिमा मौजूद है और हमें आस्था के साथ उसका पूजन करना चाहिए, जैसे कि हम उन्हीं के सामने हों। जो लोग

उसे निरंतर धूप आर पुष्प चढ़ाते हैं, उनके विचार पवित्र हो जाते हैं और जो लोग उसकी मूर्ति को सदा स्नान कराते हैं वे अंधकार¹ में लपेटनेवाले अपने पापों को दबाने में समर्थ हो जाते हैं। जो लोग अपने आपको इस काम में लगाते हैं, उन्हें अदृश (अविज्ञप्त) पुरस्कार मिलेंगे, और जो लोग दूसरों को इसके करने का उपदेश देते हैं, वे दृश्य (विज्ञप्त) कर्म से अपना तथा दूसरों का भन्ना करते हैं। इसलिए जो लोग पुण्योपार्जन की कामना रखते हैं, उन्हें अपने मन को इन कर्मों में लगाना चाहिए।

भारतीय विहारों में, जब भिक्षु लोग अपराह्न में प्रतिमा को स्नान कराने जाते हैं, तब घोषणा के लिए कर्मदान घंटा बजाता है। विहार के आंगन में एक जडाऊ छत्र तानने और मंदिर के पार्श्व में सुगंधित जल के घड़े पंक्तियों में रखने के पश्चात् सोने, चादी, तांबे या पत्थर की एक मूर्ति उसी धातु के बासन में रखी जाती है, और लड़कियों का एक दल वहां बाजा बजाता है। फिर मूर्ति का सुगंध से अभिषेक करके उस पर सुगंधित जल डाला जाता है।

सुगंध इस प्रकार तैयार की जाती है—कोई सुगंध का वृक्ष, जैसा कि चंदन की लकड़ी या एलवा की लकड़ी लेकर एक चिपटे पत्थर पर पानी के साथ पीसो, यहा तक कि इसका कीचड़ बन जाय, तब इसे मूर्ति पर मलकर उसे पानी से धो डालो।

धो चुकने के बाद, इसे साफ सफेद कपड़े से पोंछ दिया जाता है, फिर यह मंदिर में रख दी जाती है, जहा सब प्रकार के सुंदर पुष्प जुटाए जाते हैं। यह प्रक्रिया विहार में रहनेवाले भिक्षु कर्मदान के प्रबंध में करते हैं।

विहार के अकेले कमरों में भी भिक्षु लोग प्रतिदिन मूर्ति को ऐसी सावधानी से स्नान कराते हैं कि कोई भी प्रक्रिया छूटने नहीं पाती। अब पुष्पों के विषय में सुनिए। किसी भी प्रकार के फूल, वृक्षों से या पौधों से लेकर चढ़ाए जा सकते हैं। सुगंधित फूल सभी ऋतुओं में निरंतर खिलते हैं और अनेक लोग ऐसे हैं जो बाजारों में उन्हें बेचते हैं।

तांबे की मूर्तियों को, चाहे वे बड़ी हो या छोटी, बारीक राख या ईटों के चूर्ण के साथ रगड़कर और उन पर शुद्ध जल डालकर, चमकाना चाहिए, यहा तक कि वे दर्पण के सदृश पूर्ण रूप से स्वच्छ और सुंदर हो जायें। बड़ी मूर्ति को मास के मध्य और अंत में सारा भिक्षु-संघ स्नान कराए और छोटी मूर्ति को, यदि संभव हो तो, प्रतिदिन प्रत्येक भिक्षु अकेला नहलाए। ऐसा करने से, मनुष्य थोड़े व्यय से बड़ा पुण्य प्राप्त कर सकता है।

1 मूलार्थतः 'आलस्य से उपजा हुआ कर्म'

जिस जल से मूर्ति को स्नान कराया गया है, उस जल को यदि दाँ उगलियों पर लेकर सिर पर डाल दिया जाये तो यह 'शुभ शकुन का जल' कहलाता है, जिससे मनुष्य सौभाग्य की कामना कर सकता है। मूर्ति पर चढ़ाए हुए फूलों को न तो सूघना चाहिए, और न, जब वे उठा भी लिये जाएं, उन्हें न पाँव के नीचे रौंदना चाहिए, उन्हें तो एक स्वच्छ स्थान में अलग रख देना चाहिए। भिक्षु के सारे जीवन में ऐसा कभी न होना चाहिए कि वह मूर्ति को स्नान कराना भूल जाय और यदि वह उन सुंदर पुष्पों को भी चढ़ाने की परवाह नहीं करता, जो सब कही खेतों में पाए जाते हैं, तो दोषी है। उस फूलों को चुनने और मूर्तियों को नहलाने के कष्ट से बचकर, केवल उद्यानों और सरोवरो को देखते तथा विथाम करते हुए ही, आलसी और शिथिल न हो जाना चाहिए और न उसे पूजा के कर्मों को केवल खोलकर और साधारण उपासना करके अपनी पूजा को आलस्यपूर्वक समाप्त कर देना चाहिए। यदि ऐसी अवस्था होगी तो गुरु और शिष्य की परंपरा टूट जाएगी और पूजा की रीति आप्त-वचन के अनुसार न होगी।

भारत में भिक्षु और साधारण लोग मिट्टी के चैत्य या मूर्तियाँ बनाते हैं, अथवा रेशम या कागज़ पर बुद्ध की प्रतिमा छापते हैं, और जहाँ कहीं वे जाते हैं, चढ़ावा चढ़ाकर उसका पूजन करते हैं। कभी-कभी वे चिता बनाकर और उसे ईंटों के साथ घेरकर बुद्ध के स्तूप बनाते हैं। कभी-कभी वे इन स्तूपों को एकांत मैदानों में बनाकर छोड़ आते हैं और ये गिर-पड़कर खडहर हो जाते हैं। इस प्रकार कोई भी मनुष्य की पूजा की चीज़ें बनाने में लग सकता है। फिर जब लोग सोने, चादी, तांबे, लोहे, मिट्टी, लाख, ईंटों और पत्थर की प्रतिमाएँ और चैत्य बनाते हैं, अथवा जब वे हिममय बालुका (मूलार्थतः बालु-हिम) का ढेर लगाते हैं, तब प्रतिमाओं या चैत्यों में दो प्रकार के शरीर रखते हैं—(1) गुरुदेव का अवशिष्टांश, (2) कारणत्व की शृंखला की गाथा।

वह गाथा इस प्रकार है—

‘सर्व वाते (धर्म) किसी हेतु से उत्पन्न होती है।

तथागत ने वह हेतु प्रकट कर दिया है।

वह हेतु निदान नष्ट किया जा चुका है;

महाश्रमण (बुद्ध) की ऐसी ही शिक्षा है।’

यदि हम इन दो को मूर्तियों या चैत्यों में रखेंगे तो हमें प्रचुर सुख प्राप्त

1. काश्यप मूलपाठ इस प्रकार देता है :—

‘ये धर्मा हेतुप्रवृत्तस्तेषां हेतुं तथागत उवाच।

तेषां च यो विरोध एव वादी यः ।’

हागे यही कारण है कि सूत्र दृष्टांतों में मूर्तिया या चैत्य बनाने का पुण्य अकथनीय बताते हैं। यदि मनुष्य जौ के दाने के समान छोटी प्रतिमा, या छोटे उन्नाव के परिमाण का चैत्य बनाकर उस पर एक गोल प्रतिमा या एक छोटी सुई के सदृश छड़ी रख दे, तो भी उससे उत्तम जन्म के लिए एक विशेष हेतु प्राप्त हो जाता है, और यह सात समुद्रों के समान असीम होगा, और पुण्यफल अगले चार जन्मों तक बना रहेगा। इस विषय का सविस्तार वर्णन अलग सूत्रों में मिलता है।

अध्यापकों तथा दूसरे लोगों को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। पवित्र प्रतिमा का स्नान कराना एक ऐसा पुण्य-कर्म है जिसके फल से प्रत्येक जन्म में बुद्ध से मिलाप होता है, और धूप तथा पुष्पों का चढ़ाना प्रत्येक आगामी जन्म में सुख और संपत्ति का देनेवाला है। आप करो, और दूसरों को ऐसा करने की शिक्षा दो, तब तुम्हें अपरिमेय सुख मिलेंगे।

29

स्तोत्रगान-प्रक्रिया

बुद्ध के नामों का उच्चारण करके उसकी पूजा करने की रीति दिव्य भूमि (चीन) में लोग जानते हैं, क्योंकि यह प्राचीन समय से चली आ रही है (और इसका अनुष्ठान किया जा रहा है) परंतु बुद्ध का गुणानुवाद करके उसकी स्तुति करने की रीति का प्रचार वहां नहीं रहा। शेषोक्त रीति प्रथमोक्त से अधिक महत्त्व की है, क्योंकि वास्तव में, केवल उसके नामों का सुनना ही उसके ज्ञान की श्रेष्ठता का अनुभव करने में हमें सहायता नहीं देता; किंतु वर्णनात्मक स्तोत्रों में उसका गुणानुवाद करने से हम समझ सकते हैं कि उसके गुण कितने बड़े हैं। पश्चिम (भारत) में भिक्षु लोग चैत्य-वदन और साधारण पूजा तीसरे पहर देर से या सायंकाल संध्या-समय करते हैं। सभी एकत्रित भिक्षु अपने विहार के द्वार से बाहर निकलकर, धूप और पुष्प चढ़ाते हुए, स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा करते हैं। वे सब घुटनों के बल बैठ जाते हैं, और उनमें से अच्छा गानेवाला एक भिक्षु, श्रुतिमधुर, शुद्ध और मजुल स्वर में गुरुदेव के गुणों का वर्णन करनेवाला स्तोत्र गाना आरंभ करता है, और दस-बीस श्लोक गाता है। तब वे क्रमशः विहार के उस स्थान में लौट आते हैं, जहां वे साधारणतया इकट्ठे हुआ करते हैं। जब वे सब बैठ जाते हैं तब एक सूत्रपाठी, सिंहासन पर चढ़कर, एक छोटा-सा सूत्र पढ़ता है। यथोचित परिमाण का सिंहासन प्रधान भिक्षु के समीप रखा जाता है। ऐसे अवसर पर जो धर्मग्रंथ पढ़ जाते हैं, उनमें से 'तीन भागों में पूजा'¹ प्रायः उपयोग में लाई जाती है। यह पूजनीय अश्वघोष का किया

1 मूलार्थतः तीन बार खोली हुई पूजा।

हुआ संग्रह है। पहले भाग में, जो दस श्लोको का है, तीन पूज्यों (त्रिरत्न) की स्तुति का भजन है। दूसरा भाग बुद्ध-वचनों की बनी हुई कुछ पवित्र पुस्तको का संग्रह है। स्तोत्र के बाद, और बुद्ध के वचनों के पाठ के बाद, पूजा के तीसरे भाग के रूप में, दस से अधिक श्लोको का एक अतिरिक्त भजन होता है। इसमें मनुष्य के पुण्य को परिपक्व करने की कामना प्रकट करनेवाली प्रार्थनाएँ होती हैं। ये तीनों भाग एक-दूसरे के वाद अविच्छिन्न रूप से आते हैं। इसी से इसका नाम—तीन भागोवाली पूजा निकला है। जब यह समाप्त हो जाती है, तब सभी एकत्रित भिक्षु 'सुभाषित' कहते हैं, अर्थात् 'अच्छा कहा', सु—अच्छा, और भाषित—कहा। ऐसे शब्दों-द्वारा धर्म-पुस्तको को उत्तम कहकर उनकी सराहना की जाती है। वे कभी इस शब्द के स्थान में 'साध' अर्थात् 'अच्छा किया' कहते हैं।

सूत्र-पाठी के उत्तर आने पर, प्रधान भिक्षु उठकर सिंहासन को नमस्कार करता है। यह कर चुकने के बाद वह पुण्यात्माओं¹ के आसनो को प्रणाम करता है, और तब अपने स्थान पर वापस आ जाता है। अब दूसरे दर्जे का भिक्षु उठकर पहले भिक्षु के सदृश ही उनको प्रणाम करता और पीछे से प्रधान भिक्षु को नमस्कार करता है।

जब वह अपने स्थान पर लौट आता है तब तीसरे दर्जे का भिक्षु वही प्रक्रियाएँ करता है, और उसी रीति को सारे भिक्षु क्रमशः करते हैं। परंतु यदि एक बहुत बड़ा समूह उपस्थित हो तो बाकी भिक्षु सबके-सब एक ही बार सभा को नमस्कार करके स्वेच्छानुसार वापस चले जाते हैं। उपर्युक्त वर्णन उन क्रियाओं का है जिनका अनुष्ठान पूर्वी आर्य देश (पूर्वी भारत) के अतर्गत ताम्रलिप्ति² के भिक्षु करते हैं।

नालंद विहार में भिक्षुओं की संख्या बहुत बड़ी है, और एक स्थान में इतने लोगों का इकट्ठा होना कठिन है। इस विहार में आठ महाशालाएं (हॉल कमरे) और तीन सौ कोठरियां हैं। प्रत्येक भिक्षु के सुभीते के लिए पूजा केवल अलग-अलग ही हो सकती है। इसलिए रीति यह है कि प्रतिदिन एक स्तोत्र गानेवाले को भेजा जाता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भजन गाता हुआ घूमता है। उसके आगे-आगे धूप और फूल लिये हुए विहार के साधारण सेवक और बच्चे³ जाते हैं। वह एक महाशाला से दूसरी में जाता है, और प्रत्येक में पूजा के भजन गाता है। वह हर बार उच्च स्वर से नया पांच श्लोक बोलता है और उसकी आवाज़ चारों

1 'पुण्यात्माओं' से अभिप्राय बौद्धिमानों और अर्हतों से है।

2 एक प्राचीन राज्य और नगर (अब हुगली के मुहाने पर, तमलुक) इस्सिग के समय में यह भारत और चीन व्यापार का केंद्र था।

3 'वे उपासक जो भिक्षु के निवास पर मुख्यतः धर्म-ग्रंथों के अध्ययन के लिए आते हैं, और जिनकी इच्छा अपने बाल मुड़ाने और काला चोला पहनने की होती है 'बच्चे' (अर्थात् 'मानव') कहलाते हैं।

और सुनाई देती है। सध्या-समय वह इस कर्तव्य को समाप्त कर देता है। इस स्तोत्रगायक को विहार की ओर से प्रायः कोई विशेष पूजा (भेट) दी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य हैं, जो गंध कुटी (मंदिर) की ओर मुह किए, अकेले बैठे हुए, हृदय में बुद्ध का गुण-गान करते हैं। कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं, जो मंदिर में जाकर, (एक छोट-से दल में) अपने शरीरों को सीधा रखते हुए एक-दूसरे के साथ घुटनों के वल बैठ जाते हैं, और, अपने हाथों को पृथ्वी पर रखकर, अपने सिरों से पृथ्वी को छूते हैं, और इस प्रकार 'त्रिगुणित वदना' करते हैं। ये हैं पूजा की विधियाँ जो पश्चिम में (अर्थात् भारत में) प्रचलित हैं। बूढ़े और दुर्बल भिक्षुओं को पूजा करते समय छोटी-छोटी चटाइयों का उपयोग करने की आज्ञा है। यद्यपि (चीन में) बुद्ध की प्रशंसा के भजन चिरकाल से विद्यमान हैं, परंतु व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उनके उपयोग की रीति भारत (मूलार्थतः 'ब्रह्मराष्ट्र') में प्रचलित रीति से कुछ भिन्न है।

यह सच है कि जब स्वर को बहुत लंबा कर दिया जाता है, तब गाए हुए भजन का अर्थ समझना कठिन होता है। परंतु एक निपुण व्यक्ति को 'एक सौ पचास श्लोकों का स्तोत्र,'¹ चार सौ श्लोकों का स्तोत्र' या कोई और प्रशंसा का भजन रात को गाते सुनना बड़ी ही मनोरम चीज है। उस समय एकत्रित भिक्षु उपवास की रात को (जैसी की उपोसथ की रात होती है) बहुत चुपचाप रहते हैं। भारत में पूजा के समय गाने के लिए अनेक स्तोत्र बड़ी सावधानना-पूर्वक परपरा से चले आ रहे हैं, क्योंकि प्रत्येक सुधी विद्वान् ने जिस किसी व्यक्ति को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझा है, उसकी श्लोकों में प्रशंसा की है। ऐसा मनुष्य पूजनीय मातृचेत था, जो अपनी महान् साहित्यिक बुद्धि और सद्गुणों के कारण, अपने काल के सभी विद्वानों से बढ़ा हुआ था। उसके विषय में यह कथा सुनाई जाती है। अपने जीवन-काल में, बुद्धदेव एक बार अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए एक वन के लोगों में विचर रहे थे। वन की एक बुलबुल ने बुद्ध को, स्वर्णगिरि के समान प्रतापशाली और अपने पूर्ण लक्षणों से अलंकृत देखकर अपना मधुर स्वर निकालना आरंभ किया, मानो वह उनकी स्तुति गा रही है। बुद्ध ने, अपने शिष्यों की ओर पीछे देखकर, कहा—'यह पक्षी मेरे दर्शन से हर्षविश में, बेसुध होकर सुरीले राग अलाप रहा है। इस उत्तम कर्म के कारण, मेरे प्रयाण (निर्वाण) के पश्चात् यह

1 डेढ़ सौ श्लोकों और 400 श्लोकों के स्तोत्र मातृचेत के हैं। जिन दिनों इस्तिग नालंद विहार में रहता था (सन् 675 ई. से सन् 685 तक) उसने 150 श्लोकों का चीनी में अनुवाद, और फिर पीछे से (सन् 708 ई.) उसका संशोधन किया। यह 'सार्धशतक-बुद्धप्रशंसागाथा' कहलाती है। 400 श्लोकों का चीनी में अनुवाद नहीं हुआ था।

पक्षी मनुष्य-जन्म पाएगा, और इसका नाम मातृचेट¹ होगा। यह सच्ची चाह के साथ मेरे गुणगान करेगा।' पहले, एक-दूसरे धर्म के अनुयायी के रूप में जब वह मनुष्य-जन्म में आया तब मातृचेट एक यति था, और महेश्वरदेव की पूजा करता था। इस देवता का पुजारी होने के दिनों में, उसने उसकी प्रशंसा में स्तोत्र बनाए थे। परंतु इस बात का पता लग जाने पर कि उसके जन्म² की भविष्यवाणी हो चुकी है, वह रंगदार चोला पहनकर बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया, और सासारिक चिंताओं से मुक्त हो गया। वह बहुधा बुद्ध की प्रशंसा तथा कीर्ति-गान में ही लगा रहता और अपने पिछले पापों के लिए पश्चात्ताप करता था। तब से वह बुद्ध के उत्तम दृष्टांत पर चलने का अभिलाषी रहता था, और उसे खेद होता था कि मैं परम गुरु (बुद्ध) की केवल प्रतिमा ही देख सका हूँ, स्वयं उनके दर्शन नहीं कर सका, इस भविष्य कथन (व्याकरण) की ससिद्धि में उसने अपने पूरे साहित्यिक बल से बुद्ध के सद्गुणों की प्रशंसा से भजन लिखे।

उसने पहले एक चार सौ श्लोकों का स्तोत्र बनाया, और तत्पश्चात् एक-दूसरा डेढ़ सौ श्लोकों का। वह प्रायः छः पारमित्तों का वर्णन और जगन्मान्य बुद्ध के उत्कृष्ट गुणों की व्याख्या करता है। ये मनोहर रचनाएँ सुंदरता में स्वर्गीय पुष्पो के समान हैं, और उनमें वर्णित उच्च सिद्धांत माहात्म्य में पर्वत के उच्च शिखरों की प्रतियोगिता करने हैं। अतएव भारत में जो भी स्तोत्र बनाता है, वह उसे साहित्य का पिता समझकर, उर्सा की शैली का अनुकरण करता है। यहां तक कि बोधिसत्त्व असंग और बसुबंधु जैसे मनुष्यों ने भी उसकी बड़ी प्रशंसा की है।

सर्वत्र भारत में यह रीति है कि भिक्षु बननेवाले प्रत्येक मनुष्य को, ज्यों ही वह पांच और दस शील सुना सकता है, मातृचेट के दो भजन सिखला दिए जाते हैं। यह क्रम महायान और हीनयान दोनों संप्रदायों में प्रचलित है। इसके छः कारण हैं। पहले, इन स्तोत्रों से हमें बुद्ध के महान् और गंभीर गुणों का ज्ञान हो जाता है। दूसरे, उनसे हमें श्लोक बनाने का ढंग मालूम हो जाता है। तीसरे, उनसे भाषा³ की शुद्धता निश्चित हो जाती है। चौथे, उनको गाने से छाती बढती है। पाचवे, उनका उच्चारण करने से मनुष्य को सभा में घबराहट नहीं होती। छठे, उनके उपयोग से नीरोग जीवन बढ़ता है। जब मनुष्य इन्हीं सुनाने में समर्थ हो जाता है, तब वह दूसरे सूत्र सीखने लगता है। परंतु ये सुंदर साहित्यिक रचनाएं अभी तक चीन में नहीं लाई गईं। अनेक लोगों ने उन पर टीकाएं लिखी हैं, और उनके अनुकरण भी थोड़े नहीं स्वयं बोधिसत्त्व ने, जिसने ऐसा ही एक अनुकरण रचा था, डेढ़ सौ

1. इतिहास समझता है 'मातृ माता चेट लड़का या बच्चा।'

2. मूलार्थतः 'उसे नाम की ले चुकी है'

3. शब्दार्थतः 'ये बोधिसत्त्व की इन्द्रिय अर्थात् जीभ को शुद्ध कर देते हैं।'

श्लोको में से प्रत्येक क पहल एक एक श्लोक बढा दिया जिसस वे सब तीन सौ श्लोक हो गए, और मिश्रित भजन (सम्भवतः संयुक्त प्रशंसा) कहलात ह मृगदाव के शाक्यदेव नामक एक विश्रुत भिक्षु ने 'जिन' के प्रत्येक श्लोक के साथ फिर एक-एक श्लोक और जोड दिया, इसलिए उनकी सख्या चार सौ पचास हो गई। ये 'दोहरे संयुक्त' स्तोत्र कहलाते है।

जो लोग धार्मिक कविताएं बनाते है वे इन्ही का नमूना सामने रखते है। बोधिसत्व नागार्जुन ने कविता में एक पत्र लिखा था। यह 'सुहृत्लेख' अर्थात् 'घनिष्ठ मित्र के नाम पत्र' कहलाता है। यह उसके जेतक नाम के बूढे दानपति को समर्पित किया गया था, यह दानपति दक्षिण भारत में एक बडे देश का राजा था। जिसका नाम सद्वाहन, या शातवाहन था। उस रचना का सौंदर्य आश्चर्यजनक है और सम्मार्ग के विषय में उनके उपदेश उत्साहवर्धक है। उसकी दया, उसकी वधुता से बढी हुई है, और लेख के अर्थ अनेक है। वह लिखता है कि हमें 'तीन पूज्यो'¹ (अर्थात् त्रिरत्न) का सम्मान और उनमें विश्वास करना चाहिए और अपने माता-पिता का पालन-पोषण करना चाहिए। हमें शील रखना, और पाप-कर्मों से बचना चाहिए।

हमें मनुष्यों को तब तक अपना सगी नहीं बनाना चाहिए जब तक कि हम उनका चरित्र न जान ले। हमें धन और सौंदर्य को अति मलिन वस्तुएं समझना चाहिए। हमें अपने गृह-कार्यों की भली-भांति व्यवस्था करनी चाहिए, और सदा स्मरण रखना चाहिए कि संसार स्थायी नहीं। वह प्रेता और तिर्यग्योनि की अवस्थाओं का पूर्ण रूप से वर्णन करता है, और वैसे ही देवों, मानवों और नारकी आत्माओं की अवस्थाएं बताता है। वह और लिखता है कि चाहे हमारे सिर पर आग जल रही हो, हमें इसे बुझाने में कोई समय नष्ट नहीं करना चाहिए, किंतु 'कारणत्व की शृंखला' की सच्चाइयों का चिंतन करते हुए, नित्य अपने मोक्ष पर दृष्टि रखनी चाहिए।

वह हमें तीन प्रज्ञाओं का आचरण करने का उपदेश देता है ताकि हम अष्ट आर्य मार्गों को स्पष्ट रूप से समझ लें, और वह हमें चार आर्य-सत्त्यों की शिक्षा देता है, ताकि हम सिद्धि की दोहरी² प्राप्ति का अनुभव कर लें। अवलोकितेश्वर

1 नीचे लिखे तीन वाक्य ही त्रिरत्न है—

(i) मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ क्योंकि वह दो-पैरवालों में सबसे पूज्य है।

(ii) मैं धर्म की शरण लेता हूँ क्योंकि वह कामना से मुक्ति दिलानेवाली चीजों में सबसे अधिक पूज्य है।

(iii) मैं संघ की शरण लेता हूँ क्योंकि वह सभाओं में सबसे अधिक पूज्य है।

2 काश्यप कहता है सिद्ध की दोहरी प्राप्ति उस बड़ी प्रज्ञा और बड़ी दया की प्राप्ति है जो कि एक बुद्ध में होती है।

की तरह हमे मित्रों और शत्रुओं में कोई भेद नहीं रखना चाहिए तब हम बुद्ध अमितायुस् के प्रताप से, परलोक में सदा के लिए सुखावती में रहेंगे। वहाँ से मनुष्य मर्त्यलोक पर मोक्ष की श्रेष्ठ शक्ति का भी प्रभाव डाल सकता है।

भारत में विद्यार्थी लोग शिक्षा आरम्भ करते ही इस पत्र को कविता में याद कर लेते हैं, परंतु बहुत पक्के भक्त आयु-पर्यंत इसे अपने अध्ययन का एक विशेष विषय बना रखते हैं। जिस प्रकार, चीन में, युवक भिक्षुगण अवलोकितेश्वर के विषय में सूत्र (सद्धर्म-पुडरीक में अध्याय-24) और बुद्ध का अंतिम उद्बोध (संक्षिप्त महापरिनिर्वाणसूत्र) पढ़ते हैं। जातकमाला नामक इसी प्रकार का एक दूसरा ग्रंथ है। जातक का अर्थ है 'पूर्व जन्म' और 'माला' का 'हार'; भाव यह है कि बोधिसत्त्व (पीछे से बुद्ध) से पूर्व जन्मों में किए गए कठिन कार्यों की कथाएँ एक स्थान में पिरोई गई हैं। जन्म-कथाओं की रचना पद्य में करने का उद्देश्य एक सुंदर शैली में, जो सर्वसाधारण को प्यारी और पाठकों को चिन्ताकर्षक मालूम हो, सार्वत्रिक मोक्ष की शिक्षा देना है। एक बार राजा शीलादित्य¹ ने, जिसे साहित्य से अत्यंत प्रीति थी, आज्ञा दी—'हे कविता के अनुरागियों, कल सवेरे अपनी कुछ कविताएँ लाकर मुझे दिखलाओ।' जब उसने उन्हें इकट्ठा किया तब उनकी पाँच सौ गठरियाँ बनी, और परीक्षा करने पर, जान पड़ा कि उनमें से बहुत-सी जातक-मालाएं हैं। इस वृत्तांत से मनुष्य समझता है कि जातकमाला प्रशंसात्मक कविताओं के लिए सबसे सुंदर (प्रिय) विषय है। राजा शीलादित्य ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को, जिसने एक नाग के स्थान में अपने आपको सौंप दिया था, श्लोकबद्ध किया था। इस अनुवाद का संगीत (शब्दार्थ, तार और बासुरी) का रूप दिया गया था। वह इसे बाजो के साथ गवाता था और साथ-साथ नृत्य और अभिनय भी होता था। इस प्रकार उसने इसे अपने समय में सर्वप्रिय बनाया। महासत्त्व चंद्र (मूलार्थतः 'चंद्र अधिकारी', संभवतः चंद्रदास) ने, जो पूर्वी भारत में एक विद्वान् मनुष्य था, राजा विश्वांतर के विषय में, जिसे अब तक सुदान कहा जाता है, एक काव्यमय गीत की रचना की और भारत के पाँचों देशों में सभी लोग इसे गाकर नाचते हैं। अश्वघोष ने भी कुछ काव्यमय गीत और सूत्रालंकारशास्त्र लिखा था। उसने बुद्धचरितकाव्य भी रचा था। इस विस्तीर्ण ग्रंथ का यदि अनुवाद किया जाये तो इसके दस से अधिक पुस्तक-खंड बन जायेंगे। इसमें तथागत के जीवन के—उस समय से लेकर जब वह अभी राजभवन में ही था, शाल वृक्षों की पंक्ति के नीचे उसके अंतिम समय तक—मुख्य सिद्धांतों और कार्यों का वर्णन है। इस प्रकार सभी घटनाएँ एक ही कविता में बता दी गई हैं।

¹ कन्नौज का राजा शीलादित्य।

यह भारत के पाचो भागों और दक्षिणी सागर के देशों में सर्वत्र पढ़ा या गया जाता है। वह थोड़े-से शब्दों में अनेक प्रकार के अर्थ और भाव भर देता है, जिससे पाठक के मन को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है और वह कविता को पढ़ते-पढ़ते थकता नहीं। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक को पढ़ना एक पुण्य-कार्य समझना चाहिए, क्योंकि इसमें श्रेष्ठ सिद्धांत संक्षिप्त रूप में दिए हुए हैं।

30

विधिविरुद्ध वंदना

वन्दन के विषय में स्पष्ट नियम है। दिन और रात में छः बार उपासना-विषयक अभ्यास करना ठीक है। इसके लिए या तो फुर्ती से हाथ-पैर हिलाने चाहिए, या एक कमरे में चुपचाप निवास करते हुए भिक्षा लाना, धूतागों को पूरा करना और आत्म-संतोष के विद्वात पर आचरण करना चाहिए। और उचित यह है कि केवल तीन कपड़े (त्रिचीवर) धारण किए जायें और विलास की कोई वस्तुएं न रखी जायें; ससार के प्रलोभनों से भागते हुए, मनुष्य को सदा मोक्ष का ही ध्यान रखना चाहिए। संप्रदाय के एक ही नियम और प्रक्रिया को विविध रीतियों से करना ठीक नहीं है। भिक्षु का चोला पहनने वाले मनुष्य के लिए बाजार-जैसे स्थानों में साधारण भक्तजनों को प्रणाम करना भी ठीक नहीं। विनय-पुस्तकों में ऐसे आचरणों का निषेध है। बुद्ध ने कहा—‘केवल दो समूह ऐसे हैं जिनको तुम्हें प्रणाम करना चाहिए। एक तो, तीन रत्न, दूसरा, बड़े भिक्षु।’ कुछ लोग ऐसे हैं, जो लोगों से रुपया लेने के लिए बुद्ध की मूर्ति को राज-मार्ग में ले आते हैं और इस प्रकार पूजा की पवित्र चीजों को मैल और धूल से अपवित्र करते हैं। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर को झुकाते, मुख को घायल करते, जोड़ों को काट डालते या खाल को हानि पहुंचाते हैं और इस प्रकार मानो किसी अच्छे उद्देश्य के लिए (इंद्रिय-संयम के चिह्नों का) झूठा दिखलावा करके उपजीविका पैदा करना चाहते हैं। ऐसी रीतियां भारतवर्ष में नहीं हैं। भविष्य में ऐसे व्यापारों से लोगों को भटकने मत दो।

31

पश्चिम में शिक्षा की रीति

महामुनि (बुद्ध) के एक ही वाक्य में ‘तीन सहस्र’ श्लोकों (की सभी भाषाओं) का समावेश है। यह ‘पांच मार्गों’ पर चलनेवालों की योग्यता के अनुसार, सात विभक्ति

1 पांच जातियां—देव, मानव, पशु, प्रेत और नरक।

और नौ पुरुष प्रत्ययो¹ (के साथ ममाप्त होनेवाले शब्दों) में सिखला दिया जाता है, और मोक्ष का एक साधन है। यह केवल विचार पर ही असर करनेवाले सिद्धांत का भंडार है और स्वर्ग का राजा (इंद्र) अनिर्वचनीय भावों की इस पवित्र पुस्तक की रक्षा करता है। शब्दों में प्रकट करने से मनुष्य की बुद्धि उसकी विविध अवस्थाओं और मानसिक क्षमताओं के अनुसार विकसित होती है। यह मनुष्य को घबराहट से निकालकर सत्य के अनुरूप बनाता है और उसे निर्वाण प्राप्त कराता है।

²परमार्थ-सत्य, 'सबसे बड़ी सच्चाई', सवृत्ति-सत्य, 'गौण या छिपी हुई सच्चाई'। पुराने अनुवादकों ने शेषोक्त का अर्थ 'सांसारिक सच्चाई' किया है, परंतु इससे मूल के अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होते। अर्थ यह है कि साधारण बातें वास्तविक अवस्था को छिपा लेती हैं, उदाहरणार्थ, घड़े जैसी प्रत्येक वस्तु में, वास्तव में केवल मिट्टी होती है, परंतु लोग झूठे विशेषण से उसे घड़ा समझते हैं। शब्द की अवस्था में सब मधुर स्वर शब्द ही हैं, पर लोग भूल से उसे गीत समझते हैं। केवल आंतरिक बुद्धि ही काम करती है, और कोई व्यक्ति विषय नहीं है। परंतु अविद्या बुद्धि को ढक देती है, और एक विषय के अनेक रूपों की मायामयी सृष्टि होती है। ऐसी अवस्था होने से मनुष्य नहीं जानता कि मेरी अपनी बुद्धि क्या है, और वह समझता है कि वस्तु का अस्तित्व मन से बाहर है। उदाहरणार्थ, मनुष्य अपने सामने पड़ी हुई रस्सी को साप समझ सकता है। इस प्रकार सांप की कल्पना भ्रांति से रस्सी के साथ लगा दी जाती है, और सच्ची बुद्धि चमकने से बंद हो जाती है। इस प्रकार यथार्थता या सच्ची अवस्था का (भ्रांत संबंध से) ढक जाना 'संवृत्ति' कहलाता है।

व्याकरण को संस्कृत में शब्द-विद्या कहते हैं। यह पांच विद्याओं³ में से एक है, शब्द का अर्थ है 'वाणी', और विद्या, 'विज्ञान'।

1. सूत्र

सारी शब्द-विद्या का आधार सूत्र है। इस नाम का अनुवाद 'छोटा वचन'⁴ किया जा सकता है; और यह इस बात का द्योतक है कि महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की एक

2 सात विभक्तियों को व्याकरण में 'सुप्' कहते हैं। देशी वैयाकरण केवल सात विभक्तियां मानते हैं, और सबोधन को प्रथमा विभक्ति के अंतर्गत कर देते हैं। नौ प्रत्ययों को व्याकरण में 'तिङ्' कहते हैं, जिसका अर्थ है धातु की रूप-सिद्धि में सारे पुरुष प्रत्यय।

2 इसे 'शब्दानुशासन' भी कहते हैं। भ. दत्त।

3 पांच विद्याएं ये हैं—(i) शब्दविद्या, अर्थात् 'व्याकरण और अभिधान-रचना', (ii) शिल्पस्थानविद्या, (iii) चिकित्साविद्या, (iv) हेतुविद्या, और (v) अध्यात्मविद्या।

4 अधिक मूलार्थतः, 'जो बोलने में छोटा और अर्थ में स्पष्ट है।'

साक्षेप्त रूप में व्याख्या की गई है इसमें 1000 श्लोक हैं यह एक पाणिनि की रचना है जो प्राचीन काल में एक बहुत बड़ा विद्वान् था कहता है कि उसे दैवी ज्ञान था, महेश्वरदेव उसे सहायता देते थे, और उसके तीन नेत्र थे; आजकल के भारतवासियों का प्रायः इसमें विश्वास है। वच्चे आठ वर्ष की आयु में इस सूत्र को सीखना आरम्भ करते हैं, और आठ मास में इसे रट सकते हैं।

2. धातु पर पुस्तक

यह 1,000 श्लोकों की है और इसमें विशेष रूप से व्याकरण की धातुओं का वर्णन है। यह उतनी ही उपयोगी है जितना कि उपर्युक्त सूत्र।

3. तीन खिलों पर पुस्तक

खिल का अर्थ है 'ऊजड़ भूमि'। इसका यह नाम इसलिए है कि (व्याकरण) यह (भाग) उस रीति के सदृश है जिससे किसान अनाज के लिए खेत तैयार करता है। इसे हम ऊजड़ भूमि के तीन टुकड़ों पर पुस्तक कह सकते हैं। (1) अष्टधातु, 1,000 श्लोक है, (2) वेन-च (मंड या मुंड), इसमें भी, 1,000 श्लोक है; (3) उणादि, यह भी 1,000 श्लोकों का है।

1. अष्टधातु—इसमें सात विभक्तियों (सुप्) दस लकारों¹ और अठारह अतिमा (तिङ् 2x9 पुरुष-संबन्धी प्रत्ययों) का वर्णन है।

क. सात विभक्तियाँ। प्रत्येक सज्ञा की सात विभक्तियाँ और प्रत्येक विभक्ति के तीन वचन होते हैं, अर्थात् एकवचन, द्विवचन और बहुवचन; इसलिए प्रत्येक सज्ञा के सब मिलाकर इक्कीस रूप होते हैं। उदाहरणार्थ, शब्द 'पुरुष' को लीजिए। यदि एक पुरुष से तात्पर्य हो तो यह 'पुरुषः' होता, दो हों तो 'पुरुषौ' और तीन (या अधिक) हों तो 'पुरुषाः'। सज्ञा के इन रूपों को गुरु और लघु (सम्भवतः, 'स्वरयुक्त और स्वरहीन') या खुले सांस से और बंद सांस से उच्चारण किए जानेवाले (शायद 'खुली स्वरवाली या बंद स्वरवाली सज्ञाएँ') भी कहा जाता है। सात विभक्तियों के अतिरिक्त आठवीं—संबोधन (आमन्त्रित)—भी है, जो आठ विभक्तियाँ पूरी कर देती है। जैसे पहली विभक्ति के तीन वचन हैं, वैसे ही बाकी सबके हैं। इनके रूप बहुत ज्यादा होने से यहाँ नहीं दिए गए। सज्ञा सुबंत कहलाती है और (पदसिद्धि से) इसके (3x8) चौबीस रूप होते हैं।

ख. दस लकार। (किया के कालों के लिए) ल के साथ दस चिह्न हैं; क्रिया की रूपसिद्धि (मूलार्थतः उच्चारण) में तीन कालों, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य

1 इसका संकेत पाणिनि के लट्, लङ्, लिट्, लिङ्, लुट्, लुङ्, लृट्, लृङ्, नेट्, लोट् की ओर है।

का भेद प्रकट किया जाता है।

ग. अठारह तिङ्। ये (क्रिया के तीन वचनों के) उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुष के रूप हैं और योग्य और अयोग्य, या इस और उस¹ के भेद दिखलाते हैं।

इस प्रकार (एक काल में) प्रत्येक क्रिया के अठारह भिन्न-भिन्न रूप हैं, जो तिङत कहलाते हैं।

2. वेन-च (मंड या मुंड में) — (धातु का एक या अनेक प्रत्ययो से) सयुक्त करके शब्दों के बनाने का वर्णन है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में पेड़ के अनेक नामों में से एक नाम 'वृक्ष'² है। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय के लिए नाम, सूत्र के नियमों के अनुसार, जो बीस से अधिक श्लोकों के बने हैं, (अक्षरों को) इकट्ठा जोड़कर बनाया जाता है।

3. उणादि—यह प्रायः वही है जो कि उपर्युक्त (मंड) है। भेद केवल इतना है कि जिस बात की एक में पूर्ण रूप से व्याख्या की गई है वह दूसरे में संक्षेप से लिखी गई है, और व्युत्क्रमम्।

तीन खिलों की पुस्तक को लड़के दस वर्ष की आयु में सीखना आरम्भ करते हैं, और तीन वर्ष तक परिश्रम के साथ पढ़ने से उन्हें अच्छी तरह समझ जाते हैं।

4. वृत्ति-सूत्र (काशिका वृत्ति)

यह ऊपर के सूत्र (अर्थात् पाणिनि के सूत्र) की टीका है। पहले समयों में अनेक टीकाएं रची गई थीं, और उन सबमें उत्तम है।

यह सूत्र का पाठ देती और इसके अनेक प्रकार के अर्थों की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है। इसमें सारे 18,000 श्लोक हैं। यह ब्रह्माड³ के नियमों और देवताओं तथा मनुष्यों की मर्यादाओं को प्रकट करती है। पंद्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति को पढ़ना आरम्भ करते हैं, और पांच वर्ष में इसे समझ लेते हैं।

यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जाये, तो उन्हें सबसे पहले (व्याकरण के) इस ग्रंथ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय, यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम फेंक दिया जायेगा। ये सब ग्रंथ कठस्थ होने चाहिए।

1. यहाँ 'आत्मनेपद और परस्मैपद' होना चाहिए था। 'यह और वह' शायद 'आत्मने' और 'परस्मे' को प्रकट करने की एक अस्पष्ट रीति हो, क्योंकि चीनी में इन परिभाषाओं के लिए कोई पर्याय नहीं। फिर भी, 'योग्य और अयोग्य' बहुत विचित्र है।

2. वृक्ष एक उणादि शब्द है जो ब्रश्च के साथ स् और कित् लगाने से बना है।

3. व्याकरण की एक टीका के लिए 'विश्वब्रह्माड' में जो कुछ है उस सारे के नियम' कहना विचित्र जान पड़ता है, और यह बात काशिका पर घटती नहीं। इस वाक्य का अर्थ 'सूत्र में जो कुछ है उस सारे के नियम' लिया जा सकता है, जैसा कि म. फूजीशीमा ने लिया है। मेरा अनुवाद काश्यप और कसावरा से मिलता है।

परंतु यह नियम उच्च बुद्धि के लोगो के लिए ही लागू है। मध्यम या थोड़ी योग्यता के मनुष्यों के लिए उनकी इच्छाओं के अनुसार एक भिन्न उपाय (विधि) का अवलंबन करना चाहिए। उन्हें दिन-रात घोर परिश्रम के साथ अध्ययन करना, और एक पल भी व्यर्थ के विश्राम में न खोना चाहिए।

यह वृत्ति-सूत्र जयादित्य¹ की रचना है। वह बहुत बड़ी योग्यता का मनुष्य था, उसकी साहित्यिक शक्ति बहुत आश्चर्यजनक थी। वह बात को एक ही बार सुनकर समझ लेता था, उसे दुबारा सिखाने का प्रयोजन नहीं होता था। वह तीन पूज्यो (अर्थात् त्रिरत्न) का आदर करता था और सदा पुण्य-कर्म किया करता था। उसकी मृत्यु हुए आज कोई तीस वर्ष हुए हैं (सन् 661-662)। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात्, विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरंभ करते हैं और हेतुविद्या तथा अभिधर्म-कोश में लग जाते हैं। न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र² के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान करते हैं; और जातकमाला के अध्ययन से उनकी ग्रहण-शक्ति बढ़ती है। इस प्रकार अपने उपाध्यायो से शिक्षा पाते और दूसरो को शिक्षा देते हुए वे प्रायः मध्य भारत के नालद-विहार में, या पश्चिमी भारत के बलभी (बला) देश में दो-तीन वर्ष व्यतीत करते हैं। ये दोनों स्थानों में प्रसिद्ध और प्रवीण मनुष्य दल के दल इकट्ठे होकर संभव और असंभव सिद्धांतों पर विवाद करते हैं और जब ज्ञानियों-द्वारा उन्हें अपने मतों की विशिष्टता का निश्चय हो जाता है तब वे अपने पांडित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो जाते हैं। अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता (मूलार्थतः 'खंग की तीक्ष्ण नोक') की परीक्षा के लिए वे राजा की सभा में जाकर (अपनी योग्यताओं का) तीक्ष्ण शस्त्र उसके सामने रख देते हैं, वहां वे व्यावहारिक शासन में अधिक पाने के उद्देश्य से अपनी कल्पनाएँ उपस्थित करते और अपनी (राजनीतिक) योग्यता प्रदर्शित करते हैं। जब वे विवाद-भवन में उपस्थित होते हैं तब अपने आसन³ को उठाकर अपनी आश्चर्यजनक चतुराई प्रमाणित करने की चेष्टा करते हैं।

जब वे नास्तिकवाद का खंडन करते हैं तब उनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो जाते हैं और अपनी हार स्वीकार करते हैं। तब उनकी कीर्ति-ध्वनि से (भारत

1 इसने वामन के साथ मिलकर काशिकावृत्ति की रचना की थी। काशिका का मूलपाठ बनारस-संस्कृत-कॉलेज में हिंदू-धर्म-शास्त्र के महोपाध्याय पंडित बालशास्त्री ने (1876, 1878) प्रकाशित किया था। बालशास्त्री ने 1, 2, 5 और 6 जयादित्य के, और शेष वामन के ठहराए हैं।

2 यह नागार्जुन की बनाई हेतुविद्या की भूमिका है।

3 मूलार्थतः 'आसनो को बढ़ाना या दुगुना करना'। यह बहुत स्पष्ट नहीं। काश्यप कहता है कि यह एक भारतीय रीति थी कि जब एक मनुष्य शास्त्रार्थ में हार जाता था तो उसको अपना आसन विजेता के लिए छोड़ देना पड़ता था, जो उसे लेकर अपने आसन में मिला लेता था। इतिहास इस परिभाषा का व्यवहार अपने 'प्रसिद्ध शिक्षकों के वृत्तांत' में भी करता है।

के) पाचो पर्वत गूँज उठते हैं और उनकी प्रसिद्धि मानो चारों सीमाओं के ऊपर से वहने लगती है। उन्हें भूमि मिलती है और उनकी पदोन्नति की जाती है; उनके विख्यात नाम, पुरस्कार के रूप में, उनके ऊँचे द्वारों पर सफेदी से लिखे जाते हैं। इसके पश्चात् जो व्यवसाय उन्हें पसंद हो उसे वे कर सकते हैं।

6. चूर्णि

इसके अनंतर वृत्ति-सूत्र पर चूर्णि नाम की एक टीका है, जिसमें 24,000 श्लोक हैं।

यह पतजलि की रचना है। फिर, इसमें भी पहले सूत्र (पाणिनि) देकर अस्पष्ट बातों की व्याख्या (मूलार्थतः 'खाल को छंदना') और इसमें वर्णित नियमों का विश्लेषण किया गया है, और यह अनेक कठिनाइयों को साफ करके¹ पिछली वृत्ति² की व्याख्या करती है। प्रौढ़ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेते हैं।

7. भर्तृहरि-शास्त्र

इसके अनंतर भर्तृहरि-शास्त्र है³। यह पूर्वोल्लिखित चूर्णि की टीका है और भर्तृहरि नाम के एक परम विद्वान् की रचना है। इसमें 25,000 श्लोक हैं और मानव-जीवन तथा व्याकरण-शास्त्र के नियमों का पूर्ण रूप से वर्णन है। यह अनेक वशों के उत्थान और पतन के कारण भी बताती है। ग्रंथकार विद्यामात्र के सिद्धांत से भली-भांति परिचित था और उसने हेतु तथा उदाहरण पर बड़ी कुशलता से विचार किया है। यह विद्वान् भारत के पाचो खंडों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग सब कहीं ('आठों दिशाओं में') जानते थे। उसका 'तीन रत्नों' (अर्थात् रत्नत्रय) में अगाध विश्वास था और वह 'दोहरे शून्य'⁴ का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिंगन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया, परंतु सांसारिक वासनाओं के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार में फिर गृहस्थी में लौट गया। जब तक

1. चूर्णि का अर्थ है पीसना और उसका व्यवहार पतजलि की टीका के नाम के रूप में होता है। निम्नोक्त इसका संकेत पतजलि के महत्वपूर्ण ग्रंथ, महामाष्य की ओर है।

2. क्या यह कात्यायन के वार्तिक की 'वृत्ति' कहा गया है, अथवा व्याडिप्रणीत सग्रह की? यह विद्वानों को विचारना चाहिए। हो सकता है, महाभाष्य से पहले भी कोई वृत्ति पाणिनि के अष्टक पर हो।—भगवद्दत्त।

3. इस ग्रंथ का वास्तविक नाम त्रिपदी है। इसमें महाभाष्य के प्रथम तीन पादों की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रंथ बर्लिन के पुस्तकालय में है। उसी का फोटो मद्रास के राजकीय हस्तलिखित ग्रंथों के सग्रह में है।—भगवद्दत्त।

4. 'दोहरा शून्य', अर्थात् 'आत्मा और धर्म दोनों खाली दिखलावा हैं'।

कारण और कार्य की सच्चाई में मनुष्य का पूरा-पूरा विश्वास न हो, वह उसके सदृश उत्साह-पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। उसने आत्मनिंदा से भरे हुए ये श्लोक लिखे हैं—

ससार के प्रलोभन के द्वारा मैं गृहस्थी में लौट आया।

सांसारिक सुखों के मुक्त होकर मैं फिर परिव्राजक का चोला पहनता हूँ।

ये दो मनोवेग किस प्रकार

मुझे बालक समझकर मेरे साथ खेल रहे हैं ?

वह धर्मपाल¹ का समकालीन था। एक बार जब मठ में प्रव्रजित (वनकर रहता) था, सांसारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी में लौट जाने की हुई है। परंतु वह दृढ़ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक गाड़ी लाने को कहा। कारण पूछने एक उसने उत्तर दिया—‘यह वह स्थान है जहां मनुष्य पुण्य-कर्म करता है और उन लोगों के निवास के लिए है जो शील रखते हैं। अब मेरे भीतर मनोरोग पहले ही प्रबल हो चुका है और मैं सर्वोत्तम धर्म पर चलने में असमर्थ हूँ। मेरे जैसे मनुष्य को प्रत्येक प्रदेश से यहाँ आए हुए परिव्राजकों की सभा में घुसना नहीं चाहिए।’

तब वह उपासक की अवस्था में वापस चला गया और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर, सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए हैं (सन् 651-652)।

8. वाक्य-पदीय

इनके अतिरिक्त वाक्य-पदीय है। इसमें 700 श्लोक हैं, और इसका टीकाभाग 7,000 श्लोकों का है। यह भी भर्तृहरि की ही रचना है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण-द्वारा समर्थित अनुमान पर, और व्याप्ति-निश्चय की युक्तियों पर, एक प्रबंध है।

- 1 एक के सिवाय बाकी सब संस्करणों में ‘धर्मपाल’ है, परंतु एक में ‘धर्म के अनेक उपाध्याय’ है जो कि लेख की भूल जान पड़ती है, क्योंकि पहले उपाध्यायों का उल्लेख किए बिना कोई मनुष्य ऐसा नहीं कह सकता है कि ‘वह धर्म के अनेक उपाध्यायों का समकालीन था’। इतिहास ने पहले कभी कहीं ‘धर्म के उपाध्यायों’ का उल्लेख नहीं किया। उसने ऊपर जिन व्याकरणों (अर्थात् पाणिनि, जयादित्य और पतंजलि) का उल्लेख किया है उनमें से केवल एक जयादित्य को ही बौद्ध लिखा गया है, परंतु भिक्षु नहीं। इसलिए वह ‘धर्म का उपाध्याय’ नहीं। इसलिए पूर्वार्ध से हम कोई दूसरा पाठ ग्रहण करने पर विवश हैं। अनेक पाठों से मिलाने के बाद, जापानी संस्करण ने ‘धर्मपाल’ रखा है, और एक ही पुस्तक में मिलनेवाले ‘धर्म के अनेक उपाध्याय’ पाठ को छोड़ दिया है। ‘धर्मपाल’ पाठ के विषय में किसी प्रकार का भी संदेह नहीं। दुर्भाग्य से म फूजीसामा के पास एक बुरी पुस्तक थी, और उसने अनिश्चित रूप से अनुवाद किया है। ऊपर का लेख लिख चुकने के बाद मैंने देखा है कि काश्यप के पाठ में ‘शास्त्र का एक उपाध्याय’, ‘धर्मपाल’ है। इससे भी हमारे पाठ धर्मपाल की पुष्टि होती है और किसी संदेह की गुंजाइश नहीं रह जाती।

9. पेइ-न

इसके अनंतर पेइ-न (संभवतः संस्कृत 'बेडा' या 'वेडा')¹ है।² इसमें 3,000 श्लोक हैं, और इसका टीका-भाग 14,000 श्लोकों में है। श्लोक-भाग भर्तृहरि-की रचना है और टीका-भाग शास्त्र के उपाध्याय, धर्मपाल का माना जाता है। यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गभीर रहस्यों की धार लेती है और इसमें मनुष्य-दर्शन (मूलार्थतः 'मानवी नियमों के तात्त्विक सौंदर्य') का वर्णन है। जो मनुष्य इस (पुस्तक) तक पहुँचता है उसे व्याकरण-शास्त्र का पूर्ण पंडित कहा जाता है। उपर्युक्त सभी पुस्तकों का अध्ययन भिक्षु और उपासक दोनों करते हैं, यदि ऐसा न करे तो वे 'बहुश्रुत' होने की प्रतिष्ठा नहीं पा सकते।

इनके अतिरिक्त भिक्षु लोग सारे विनय-ग्रंथ पढ़ते और सूत्रों तथा शास्त्रों का निरूपण करते हैं। वे नास्तिकों का विरोध इस प्रकार करते हैं जैसे मैदान के मध्य में पशुओं (मृगों) को भगा रहे हों और विवादों का समाधान इस प्रकार करते हैं जैसे उबलता हुआ पानी पाले को पिघला देता है। इस प्रकार वे सारे जबूद्वीप (भारत) में प्रसिद्ध हो जाते हैं, मनुष्यों और देवताओं से बढ़कर उनका सम्मान होता है, बुद्ध की सेवा क्या उसके धर्म की वृद्धि करते हुए वे सब लोगों को (निर्वाण तक) पहुँचा देते हैं। प्रत्येक पीढ़ी में ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते हैं। उनकी उपमा सूर्य और चंद्र से होती है, या उन्हें नाग और हाथी³ की तरह समझा जाता है। पहले समय में नागार्जुन, देव, अश्वघोष, मध्यकाल में वसुबन्धु, असंग, संगभद्र और भवविवेक; और अंतिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिंहचंद्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त ('मतिपाल' नहीं), गुणप्रभ, जिनप्रभ (या 'परमप्रभ') ऐसे मनुष्य थे।

इन महोपाध्यायों में से किसी में उपर्युक्त प्रकार के सद्गुणों में से किसी एक की भी, चाहें वह सासारिक हो या धार्मिक, कमी न थी। ये मनुष्य लोभ से रहित होकर, आत्मसंतोष का अभ्यास करते हुए, अनुपम जीवन बिताते थे। ऐसे

1 इस नाम की एक पुस्तक, अर्थात् वेडा-वृत्ति, डेक्कन कॉलेज, बंबई, में श्री स क भडारकर की हस्तलेखों की सूची में (1888, p 146, No 381) मिलती है; (Aufrecht's Catalogus Catalogorum p 198, under ganmambhodhi (जन्माम्भोधि)।

2 यह ग्रंथ प्रकीर्णक प्रतीत होता है। काशी-संस्करण में हस्तलेखाभाव से यह सारा नहीं छप सका। पूर्वोक्त संस्करण में यह समग्र छपेगा। इस पर काश्मीरी पंडित हेलराज की बृहत् टीका है। धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।—भगवद्दत्त।

3 काश्यप कहता है कि यह 'नाग और हाथी' नहीं, किंतु यह 'नाग-हाथी' है, क्योंकि सबसे अच्छे प्रकार का हाथी 'नाग' कहलाता है। उसका कथन ठीक जान पड़ता है, ऐसा ही पालि में 'एते नागा महापज्जा' (समतपासाटिका, पृष्ठ 313) है।

चरित्र के मनुष्य नास्तिक अथवा दूसरे लोगों में बहुत कम पाए गए हैं (इत्सिंग की टीका) इनके जीवन-चरित भारत के दस धर्मशील मनुष्यों (या भदतों) की 'जावनी' (जिन-जिनप्रभ) में सविस्तार दिए गए हैं।

धर्मकीर्ति ने ('जिन' के पश्चात्) हेतुविद्या को और सुधारा; गुण-प्रभ के विनय-पिटक के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया, गुणमति ने अपने आपको ध्यान-संप्रदाय के अर्पण कर दिया और प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खंडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार अमूल्य रत्न अपने सुंदर वर्णों का प्रकाश विस्तीर्ण और अथाह सागर में करते हैं, जहां केवल हेल मछलिया ही रह सकती हैं, और जिस प्रकार औषधीय जड़ी-बूटियां अपने सर्वोत्तम गुण अपरिमेय ऊँचाईवाले गंधमादन पर्वत पर उपस्थित करती हैं, उसी तरह सब प्रकार के योग्य मनुष्य उन लोगों में पाए जाते हैं जो विशाल और व्यापक बुद्ध-धर्म के अनुयायी हैं। चाहे जिस विषय की आवश्यकता हो, ये लोग उसी स्थान पर ग्रंथ रच सकते थे। ऐसे मनुष्य केवल एक ही बार सुनकर, दो ग्रंथों¹ के विषयों को कठस्थ कर सकते थे। तब उन्हें एक पुस्तक को सौ बार पढ़ने का क्या प्रयोजन था?

(इत्सिंग की टीका)—एक नास्तिक ने 600 श्लोक बनाए और उनके साथ वह धर्मपाल से विवाद करने लगा; धर्मपाल ने अपने विपक्षी के श्लोकों को, सभा के सामने केवल एक बार सुनकर, समझ और याद कर लिया था²।

भारत के पाँचों भागों में ब्राह्मण सर्वत्र सबसे अधिक माननीय (वर्ण) समझे जाते हैं। जब वे एक स्थान में एकत्र होते हैं तब दूसरे तीन वर्णों के साथ नहीं मिलते, और मिश्रित वर्णों के लोगों का मेल-जोल तो उनके साथ और भी कम है। जिन धर्म-ग्रंथों का वे पूजन करते हैं वे वेद हैं, जिनमें कोई 1,00,000 मंत्र हैं,³ वेद के मुख से दूसरे मुख में चले आ रहे हैं। वे कागज या पत्तों पर नहीं लिखे गए⁴। प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे ब्राह्मण रहते हैं जो 1,00,000 मंत्रों को सुना सकते हैं। प्रबल मानसिक शक्ति प्राप्त करने के लिए भारत में दो परंपरागत रीतियाँ हैं। एक तो, बार-बार कठस्थ करने से बुद्धि विकसित हो जाती है, दूसरे, वर्णमाला

- 1 'दो ग्रंथ', 'संभवन' नास्तिक के 600 श्लोक दो ग्रंथों में थे। इत्सिंग का एक ग्रंथ से तान्त्रिक प्रायः 300 श्लोक होता है।
- 2 यह कथा ह्यून-त्सांग के दृष्टान्त में पूर्ण रूप से दी गई है।
- 3 यह जनोक्ति बहुत पुरानी प्रतीत होती है। पुराणों में भी ऐसा ही उल्लेख है। इस समय ऋग्वेद में 10,589, यजुर्वेद में 1,975, सामवेद में लगभग 1,800 और अथर्ववेद में लगभग 6,000 मंत्र हैं। कुल मिलाकर कोई 20,000 मंत्र बनते हैं। शतपथब्राह्मण 10।4।2।23।24।। में ऋषि, यजु और साममंत्रों की संख्या 24,000 बृहति छंद के परिमाण की कही है।—भगवद्दत्त।
- 4 कम-से-कम उत्तरी भारत में अलबेरूनी के काल से कुछ पहले तक यही प्रथा जारी थी। देखें अलबेरूनी—भगवद्दत्त।

मनुष्य के विचारों को स्थिर कर देती है। इस रीति से, दस दिन या एक मास के अभ्यास के अनंतर, विद्यार्थी अनुभव करता है कि उसके विचार झरने के सदृश उठ रहे हैं, और जिस बात को उसने एक बार सुन लिया है उसे वह कठस्थ कर सकता है (उसे दुबारा पृष्ठने की आवश्यकता नहीं रहती)। यह कोई कल्पित कथा नहीं, क्योंकि मैंने स्वयं ऐसे मनुष्य देखे हैं।

पूर्वी भारत में चद्र नाम का (मूलार्थतः, 'चद्र-अधिकारी', शायद यह 'चंद्रदास' हो) एक महापुरुष रहता था। वह बोधिसत्त्व के सदृश महामति था। जब मैं, इस्तिग, उस देश में गया था तब वह अभी जीता ही था। एक दिन एक मनुष्य ने उससे पूछा—'कौन-सा अधिक हानिकारक है, प्रलोभन या विष ?' उसने तत्काल उत्तर दिया—'वास्तव में, इन दो में बड़ा भेद है; विष केवल उसी समय हानिकारक होता है जब उसे खा लिया जाये, परंतु दूसरे के चिंतन-मात्र से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है'।

काश्यप-मातंग और धर्मरक्ष¹ ने पूर्वी राजधानी लो (होनन-फू) में सुसमाचार का प्रचार किया; परमार्थ² की कीर्ति दक्षिणी सागर (अर्थात् ननकिंग) तक पहुंची थी, और पूजनीय कुमारजीव³ ने विदेश (चीन) के सामने धर्मशीलता का आदर्श उपस्थित किया था। पीछे से भदत ह्यून-त्सांग स्वदेश में अपना व्यवसाय करता रहा। इस रीति से, भूत और वर्तमान में, आचार्यों ने बुद्ध-धर्म की ज्योति (या 'बुद्ध के सूर्य') को दूर-दूर तक फैलाया है।

जो लोग 'भाव' और 'अभाव' के सिद्धांतों को सीखते हैं उनके लिए स्वयं त्रिपिटक ही उनका गुरु होगा, और जो लोग ध्यान और प्रज्ञा का अभ्यास करते हैं उनके पथदर्शक सात बोधि-अंग⁴ होंगे।

पश्चिम में इस समय रहनेवाले (सबसे विख्यात) आचार्य ये हैं,—ज्ञानचद्र, जो धर्म का एक गुरु है, (मगध में) तिलढ⁵ विहार में रहता है; नालंद विहार में

1. ये चीन में पहले दो भारतीय बौद्ध थे, वे चीन में सन् 67 में आए और उन्होंने अनेक सूत्रों का अनुवाद किया। Nanjio's App. II, I and 2

2. परमार्थ चीन में सन् 548 में आया, और उसने इकतीस ग्रंथों का अनुवाद किया।

3. कुमारजीव चीन में सन् 401 के लगभग आया, और उसने पचास संस्कृतपुस्तकों का चीनी में अनुवाद किया। Nanjio's App. II 59, 104-105

4. बोधि के सात अंग, अर्थात् स्मरण, निरूपण, उत्साह, हर्ष, प्रशान्ति, चित्तन और समचित्तता। दे. Childers S.V. बोज्झणों, Burnouf कमल, 796, Kasawara, धर्मसंग्रह, 49; महाव्युत्पत्ति 39

5. तिलढ विहार ह्युसांग का तिलढक है (Julien, Memoires, vin, 440, and Vie, IV, 211) इस्तिग इस विहार को अपने वृत्तांत में नालंद से दो योजन की दूरी पर लिखता है (देखो Chavmes, p. 46 note आधुनिक तिल्लार, नालंद के पश्चिम में Cf Cunningham, Ancient

रत्नसिंह, पूर्वी भारत में दिवाकर मित्र¹; और अति दक्षिण प्रांत में तथागत गर्भ रहता है। दक्षिणी सागर के श्रीभोज में शाक्यकीर्ति निवास करता है, जिसने शिक्षा-प्राप्ति के लिए भारत के पांचो देशों की यात्रा की थी और इस समय श्रीभोज (सुमात्रा) में है।

ये लोग अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए समान रूप से प्रसिद्ध हैं, प्राचीनों के बराबर हैं और ऋषियों के चरण-चिह्नो का अनुसरण करने के लिए उत्सुक हैं। जब वे हेतुविद्या की युक्तियां समझ लेते हैं तब जिन (हेतुविद्या का बड़ा सुधारक) के सदृश बनने की आकांक्षा करते हैं, यांगार्चार्य के सिद्धांत को चखते हुए वे उत्साहपूर्वक असंगवाद का अनुसंधान करते हैं।

जब वे 'नास्ति' पर सवाद करते हैं तब चतुराई से नागार्जुन का अनुकरण करते हैं; जब 'अस्ति' का वर्णन करने लगते हैं तब संघभद्र की शिक्षा को संपूर्ण रूप से थाह लेते हैं। मैं, इत्सिंग, इन आचार्यों के साथ ऐसी घनिष्ठता से वार्तालाप किया करता था कि उनसे व्यक्तिगत रूप से अमूल्य उपदेश प्राप्त कर सकता था (शब्दार्थ, मैं उनके आसनों और लिखने के फलकों के निकट गया और उनके प्रशंसनीय शब्दों को ग्रहण किया और उनसे हर्षित हुआ)।

मुझे सदा इस बात से बड़ी प्रसन्नता हांती है कि मुझे व्यक्तिगत रूप से उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला था जो अन्यथा मैं कभी प्राप्त न कर सकता, और मैं पुरानी टीकाओं का नवीनो के साथ मिलान करके अपने पिछले अध्ययन की स्मृति को ताजा कर सकता था।

मेरी एकमात्र कामना यह है कि मैं उस प्रकाश को पाऊं जो एक काल से दूसरे काल को मिलता रहा है। मुझे संतोष इसी बात में है कि मैंने (प्रातःकाल) धर्म सीख लिया है, और मेरी इच्छा धूल की भांति उठनेवाले सैकड़ों सदेहों को मिटा देने की है, और (यदि मेरी इच्छा सवेरे पूरी हो जाय तो) सायंकाल को मर जाने से मुझे कोई खेद नहीं होगा।

गृध्रकूट पर पीछे पड़े रह जानेवाले थोड़े-से रत्नों को अब तक भी बटोरते हुए, मैंने कुछ अत्युत्तम रत्न पाए हैं; नागनदी (=अजिर्वती) में सौपी हुई मणियों की खोज करते हुए मुझे कुछ अत्युत्कृष्ट मणियां मिली हैं। रत्नत्रय की अदृष्ट सहायता और राजकृपा के दूर तक पहुंचनेवाले प्रभाव से मैं अपनी यात्रा-रूपी धारा को पूर्व की ओर मोड़ने में समर्थ हुआ, और ताम्रलिप्ति² से पोत पर सवार होकर श्री भोज में आ पहुंचा।

1. हर्षचरित, (कश्मीर संस्करण, पृ 488 तथा 497) में एक दिवाकर मित्र का बौद्ध भदंत के रूप में उल्लेख है। म. फूजिसीमा भूल से शक्रमित्र लिखता है। देखो जूलियन, (Methode pour Dechiffrer les Noms Sanscrits, p 70)

2. हुगली के मुहाने के निकट. पूर्वी भारत में एक प्राचीन व्यापारिक बंदरगाह।

यहा आए मुझे चार से अधिक वर्ष हो चुके है। यहा मैं विविध रीतियो से अपने समय को काम मे लगा रहा हूँ और मैंने अभी इस स्थान को छोडकर स्वदेश जाने का निश्चय नहीं किया।

32

केशों के विषय में नियम

भारत के पाचो खंडों में सर्वत्र बिना सिर मुडाए कोई भी मनुष्य सारी अतिम प्रतिज्ञाए (मूलार्थत 'पूर्ण शील') नहीं ले सकता, न विनय में इसके लिए कोई उदाहरण है और न पुराने समय मे कभी कोई ऐसी रीति ही थी। क्योंकि यदि भिक्षु भी साधारण उपासक जैसे ही स्वभाव रखता है तो वह दोषो से बच नहीं सकता। यदि मनुष्य शीलो पर चल नहीं सकता तो उसका उन पर चलने की प्रतिज्ञा लेना व्यर्थ है।

इसलिए यदि मनुष्य का मन भिक्षु होने पर लगा हो तो उसे चाहिए कि सिर मुंडने के लिए कहे, रगा हुआ चोला पहने, अपने विचारों को पवित्र करे और मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाए। उसे पाच और फिर दस शीलों का पालन करने में न चूकना चाहिए। जिसने सभी शीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा शुद्ध अतःकरण से की है उसे विनय-पुस्तको के अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

(इत्सिंग की टीका)—आठ शास्त्र ये है—

1. विद्यमान विशति (-गाथा)-शास्त्र या विद्यामात्रसिद्धि (वसुबन्धु-कृत)।
2. विद्यामात्रसिद्धि-त्रिदशशास्त्र-कारिका (वसुबन्धु-कृत)।
3. महायानसपरिग्रह-शास्त्रमूल (असंग-कृत)।
4. अभिधर्म (-संगीत)-शास्त्र (असंग-कृत)।
5. मध्यांतविभाग-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत)।
6. निदान-शास्त्र (उल्लंख-कृत)।
7. सूत्रालकार-टीका (असंग-कृत)।
8. कर्मसिद्ध-शास्त्र (वसुबन्धु-कृत)।

यद्यपि उपर्युक्त शास्त्रो मे वसुबन्धु के कुछ ग्रंथ है, परंतु (योग-पद्धति मे) सफलता असंग की मानी जाती है (इसलिए असंग के ग्रंथो मे वसुबन्धु की पुस्तको का समावेश है)।

जो भिक्षु हेतुविद्या में अपने आपको विख्यात करना चाहता है उसे 'जिन' के आठ शास्त्रो को संपूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।

वे ये है—

1. तीन लोकों के ध्यान का शास्त्र मिला नहीं)

2 सवलक्षणध्यान-शास्त्र (कारिका) (जिन-कृत)।

3. विषय के ध्यान का शास्त्र (जिन-कृत)। संभवतः आलवन-प्रत्यय ध्यान-शास्त्र (नजियों की नामावली, सं. 1173)।

4. हेतुद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

5. हेत्वाभासद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

6. न्यायद्वार (तारक)-शास्त्र (नागार्जुन-कृत)।

7. प्रज्ञपति-हेतु-संग्रह (?) शास्त्र (जिन-कृत)।

8 एकीकृत अनुमानो पर शास्त्र (नहीं मिला)।

अभिधर्म का अध्ययन करते समय उसे छः पादों¹ का संपूर्ण पाठ करना चाहिए और आगमों² को सीखते समय चार निकायों के सिद्धांतों का अखंड रूप से निरूपण करना चाहिए। इन सब पर अधिकार हो जाने के पश्चात् भिक्षु नास्तिकों और विवाद करनेवालों का सफलतापूर्वक मुकाबिला कर सकता है और धर्म की सच्चाइयों की व्याख्या करके सबको बचाने में समर्थ हो जाता है। वह दूसरों को ऐसे उत्साह के साथ शिक्षा देता है कि उसे थकावट मालूम ही नहीं होती। वह अपने मन में 'दोहरे शून्य' के चिंतन का अभ्यास करता है। वह 'आठ श्रेष्ठ मार्गों' द्वारा अपने हृदय को शांत करता है, सावधानी से 'चार ध्यानो' में लग जाता है और सात स्कंधों³ के नियमों का ठीक-ठीक पालन करता है।

1 अभिधर्म पर ये छ निबंध हैं, और इन सबका संबंध सर्वास्तिवादनिकाय से है, सख्या 1276, 1277, 1281, 1282, 1296 और 1317

2 आगम (त्रिपिटक का एक विभाग) ये हैं—

(i) दीर्घागम (30 सूत्र, तुलना कीजिए दीर्घनिकाय, 34 सुत्त)।

(ii) मध्यमागम (222 सूत्र, तुलना कीजिए, प्रज्जिमनिक, 152 सुत्त)।

(iii) सम्युक्तागम (सम्युत्तनिकाय, 7760 सुत्त)।

(iv) एकीत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय, 9557 सुत्त)।

पालि में पांच निकाय हैं, पाचया खुद्दकनिकाय (15 भाग) है।

2 सात स्कन्धों में भिक्षुओं से सबंध रखनेवाले विशेष अपराध हैं—

(i) पाराजिक पाप वह है जिसके लिए भिक्षु को निकाल दिया जाता है।

(ii) संघादिशेष अपराधों की संख्या तेरह है। इनके लिए रोक और पश्चात्ताप की आवश्यकता होती है, परंतु निकाल देने की नहीं।

(iii) स्थूलात्याय एक घोर अपराध (धुल्लच्चय) है।

(iv) प्रायश्चित्तिक अपराधों की संख्या बानबे है, और उनके लिए अंगीकार और क्षमा (पाचित्तिय) का प्रयोजन है।

(v) नैसर्गिक सख्या में तीस है। वे प्रायश्चित्तिक पाप हैं, जिनके साथ जर्नी (निस्तग्गिय) भी है।

(vi) दुष्कृत (दुक्कत)।

(vii) दुर्भाषित (दुब्भाषित)।

देखो आपत्तिखंडे चाइस्टर का पालि अभिधान बुल्लवग्ग 9. 3. 3.

जो लोग इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं वे उच्चकोटि के हैं।

कुछ लोग ऐसे हैं जो यद्यपि उपर्युक्त महात्माओं की तरह आचरण नहीं कर सकते, पर घर के कामों में बहुत बधे हुए नहीं। उनका जीवन सरल तथा निष्कपट है, और वे सासारिक चिंताओं को छोड़ देने की इच्छा रखते हैं। यदि उनसे कोई चीज मांगी जाये तो वे पात्र को दे देते हैं।

वे बहुत सादा वस्त्र रखते हैं, और केवल शिष्टता का ध्यान रखते हैं। वे आठ उपदेशों (शील) का दृढ़ता से पालन करते और आयुपर्यंत उद्यमशील बने रहते हैं।

आठ उपदेश ये हैं—(1) हत्या न करना, (2) चोरी न करना, (3) व्यभिचार न करना, (4) झूठ न बोलना, (5) मदिरा न पीना, (6) न सगीत में प्रसन्न होना, न हार पहनना और न सुगंधित पदार्थों से अभिषेक करना, (7) ऊंचे और चौड़े पलंग का उपयोग न करना, (8) निषिद्ध समयों में भोजन न करना।

वे तीन पूज्यों (अर्थात् तीन रत्नों) में विश्वास रखते और उनका सम्मान करते हैं और अपने आपको निर्वाण-प्राप्ति में लौलीन करके (या निर्वाण को लक्ष्य बनाकर) अपने विचारों को उसी पर एकाग्र कर देते हैं।

इन व्यक्तियों की पदवी क्रम में (उच्च श्रेणियों से) दूसरी है।

ऐसे लोग भी हैं जो, (सांसारिक कार्यों की) सीमाओं में रहते हुए, अपनी स्त्रियों का भरण-पोषण तथा बच्चों का पालन और शिक्षण करते हैं। वे अपने श्रेष्ठ लोगों की सम्मानपूर्वक पूजा और अपने से नीचे लोगों पर दया करते हैं।

वे पांच उपदेशों की ग्रहण और उनका पालन करते हैं और सदा उपवास के चार दिन (उपवसथ) मनाते हैं।

उपवास के चार दिन ये हैं—

(क) कृष्णपक्ष में, अष्टमी और चतुर्दशी या दशमी और अमावस्या। (ख) शुक्लपक्ष में, अष्टमी और पूर्णिमा।

इन दिनों में मनुष्य को आठ उपदेश लेने चाहिए। यह क्रिया 'पवित्र अनुष्ठान' कहलाती है। यदि मनुष्य बाकी सात को छोड़कर केवल आठवां उपदेश ('निर्दिष्ट समय के सिवा भोजन न करना') ही लेता है तो उसे बहुत थोड़ा पुण्य (मूलार्थतः 'सुख का हेतु') मिलता है। आठवे उपदेश का प्रयोजन दूसरे सात उपदेशों के उल्लंघन से बचता है, न कि व्यर्थ में पेट को भूखा रखना।

वे दूसरों के प्रति सहानुभूति का बर्ताव करते और अपने आपको सावधानी से संयम में रखते हैं। वे कोई निर्दोष व्यवसाय करते हैं और अधिकारियों को कर देते हैं। ऐसे लोग भी अच्छे मनुष्य समझे जाते हैं।

निर्दोष व्यवसाय से अभिप्राय वाणिज्य से है, क्योंकि इससे जीवों की हानि नहीं होती। इस समय भारत में वाणिकों को किसानों से अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा

जाता है, इसका कारण यह है कि कृपि से अनेक कृमियों के प्राणों की हानि होती है। रेशम के कीड़े पालने या पशु-वध करने से मनुष्य को भारी पाप लगता है।

वर्ष भर में करांडो जीवों की हानि होगी। ऐसे व्यापार को चिरकाल तक करते रहने से, चाहे वह दोपयुक्त न समझकर ही किया जाता रहा हो, मनुष्य को अगले जन्मों में असख्य रीतियों से इसका प्रतिफल भोगना पड़ेगा। जो ऐसा व्यवसाय नहीं करता वह 'निर्दोष' कहलाता है।

परन्तु कुछ दुर्मति लोग ऐसे हैं जो, पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए, तीन शरणों (अर्थात् बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण) को नहीं जानते और अपने जीवन में एक भी उपदेश का पालन नहीं करते। ये लोग, जिनको यह ज्ञात नहीं कि निर्वाण पूर्ण शांति की अवस्था है, कैसे जान सकते हैं कि उनके अगले जन्म चक्र की भांति घूमेंगे ?

इस भ्रम में पड़े हुए वे पाप पर पाप करते चले जाते हैं। ये लोग सबसे नीच श्रेणी के हैं।

33

मृत्यु के पश्चात् कार्यों का प्रबंध

मृत भिक्षु के कार्यों के प्रबंध की रीति का विनय में पूर्ण रूप से वर्णन है। मैं यहां संक्षेप से बहुत आवश्यक बातें देता हूँ। सबसे पहले इस बात का पता लेना चाहिए कि कोई ऋण तो नहीं; मृत व्यक्ति कोई मृत पत्र तो नहीं छोड़ गया और रुग्णावस्था में कौन उसकी सेवा करता रहा है। यदि ऐसी अवस्था हो तो संपत्ति का बंटवारा राजनियम के अनुसार होना चाहिए। जो संपत्ति बच जाये उसे उचित रूप से बांट देना चाहिए।

उदान (त्रिपिटक का एक भाग) का एक श्लोक है—

‘भूमि, घर, दुकाने, बिछौने की सामग्री,
तांबा, लोहा, चमड़ा, उस्तरे, बर्तन,
कपड़े, छडियाँ, पशु, पेय पदार्थ, भोजन,
ओषधि, पलग, तीन प्रकार की—
बहुमूल्य वस्तुएं, सोना, चादी इत्यादि,
विविध वस्तुएं—बनी हुई या बिना बनी हुई;
इनको, इनके गुणों के अनुसार, विभाज्य
अथवा अविभाज्य ठहराना चाहिए।
जगति-पूज्य बुद्ध ने यह विधान किया था।’

इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है- भूमि, घर, दुकाने, बिछाने की सामग्री, ऊनी आसन और लोहे या ताबे के उपकरण बाटे नहीं जा सकते। परंतु शेषोक्त में से बड़े और छोटे लोहे के कटोरे, ताबे के छोटे कटोरे, दरवाजों की चाभिया, सुइया, वरमे, उम्तरे, चाकू, लोहे की डोइया, कासे की चीजे, कुल्हाड़े, छेनिया इत्यादि ओर साथ ही उनकी थैलिया, मिट्टी के वर्तन अर्थात् प्याले-प्यालिया, पीने और साफ करने के पानी के लिए कुडिक, तेल के घड़े और पानी के वासन बाटे जा सकत है, बाकी नहीं। लकड़ी और बास के उपकरण, चमड़े के विछौने, क्षीर की सामग्री, दास और दासिया; मदिरा, भोजन, अनाज, भूमि और घर, ये सब प्रत्येक प्रात से आकर एकत्र होनेवाले भिक्षुओं की संपत्ति बना देनी चाहिए। इनमें से जगम वस्तुएं सब के उपयोग के लिए कोपागार में रखी जानी चाहिए। भूमि, घर, ग्राम्य-वाटिकाएं, भवन—जो स्थावर है—भी संघ की ही संपत्ति हो जाते हैं। यदि वस्त्र या कोई अन्य पहनने योग्य वस्तुएं रह जाये, चाहे वे चोले हों, रंगी हुई बिना रंगी स्नान करने की कमीजे हो, या मोमजामे हो; बटलोइया, स्लीपर या जूते, ये सब उसी स्थान पर उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाट देने चाहिए। जिस कपड़े में बाहो का एक जोड़ा हो वह बाटा नहीं जा सकता, किंतु सफेद वस्त्र जो दोहरा बनाया जाता है, अपने इच्छानुसार बाटा जा सकता।

बुद्ध की जांबूनदवर्ण मूर्ति के सामने लंबी-लंबी छड़ियों का झड़ों के रूप में उपयोग किया जाता है। पतली छड़िया भिक्षुओं को दे दी जाती हैं ताकि वे उन्हें धातु की छड़ियों के रूप में व्यवहार करें।

(इत्तिग की टीका)—‘जांबूनदवर्ण’ नामक प्रतिमा की उत्पत्ति का वर्णन विनय में है। जब बुद्ध सघ में नहीं होते थे तब भिक्षु लोग बहुत विनीत नहीं रहते थे, इस अवस्था से विवश होकर धनाढ्य अनाथ पिंडव ने बुद्ध से इस प्रकार पूछा—‘मे, सघ के सम्मुख रखने के लिए, तेरी जांबूनदवर्ण (सोने के रंग की) प्रतिमा बनाना चाहता हूँ।’ गुरुवर ने यह प्रतिमा बनाने की आज्ञा उसे दे दी।

धातु की छड़ी संस्कृत में ‘खम्बर’¹ कहलाती है, और (छड़ी लेकर चलने से उत्पन्न होनेवाले) शब्द को दिखलाती है। पुराने अनुवादक ने इसका अनुवाद ‘धातु की छड़ी’ किया है, क्योंकि शब्द धातु से उत्पन्न होता है; आप चाहे तो इसे ‘छड़ी की धातु’ कह सकते हैं। जैसा कि मैंने स्वयं देखा है, पश्चिम (भारत) में जिस छड़ी का व्यवहार किया जाता है उसकी चोटी पर लोहे का एक चक्र जड़ा होता

1 यह नाम यद्यपि ठीक संस्कृत नहीं, पर ऐसा जान पड़ता है कि इसका व्यवहार बोद्धो की छड़ी के लिए होता था। देखिए महाव्युत्पत्ति, 268, ह्यूनयसाग, II, 509 तुलना कीजिए, ‘कनर-दंड’, महावग्ग 5, 6, 2, चुल्लवग्ग 8, 6, 3 और जातक 1, 9.

हे चक्र का व्यास दो तीन इंच होता है और इसमें मध्य में चार पांच अंगुल लंबा नली के आकार का धातु का एक सिरा होता है। स्वयं लाठी, साफ या खुरदरी लकड़ी की बनी होती है। इसकी लंबाई मनुष्य की भृकुटी तक पहुंचती है। चोटी के चक्र से कोई दो इंच नीचे लोहे की एक जंजीर बांधी जाती है, जिसके छल्ले गोल या अंडाकार होते हैं और एक तार को झुकाकर और इसके सिंगे को एक-दूसरे छल्ले में जोड़कर बनाया जाता है। प्रत्येक छल्ला इतना बड़ा बनाया जाता है कि जिसमें से तुम अपना अंगूठा डाल सको। ऐसी छ या आठ जंजीरें चोटी के चक्र में से बांधी जाती हैं। ये जंजीरें लोहे या तांबे की होती हैं। ऐसी लाठी रखने का प्रयोजन गांव में भिक्षा लेते समय गांवों या कुत्तों को दूर रखना है। यह आवश्यक नहीं कि इसको इस प्रकार उठाने का विचार किया जाय कि जिससे बाढ़ें थक जायें। इसके अतिरिक्त, कुछ लोग मूर्खता से सारी लाठी लोहे की ही बनाते और उसकी चोटी पर लोहे के चार चक्र लगा देते हैं। यह बहुत भारी होती है और एक साधारण व्यक्ति के लिए इसे उठाए फिरना कठिन होता है। यह मूल-नियमों के अनुरूप नहीं।

चतुष्पाद, हाथी, घोड़े, खच्चर, सवारी के गधे 'राजपरिवार' को दे दिए जाते हैं। सांड और भेड़े बाटी नहीं जानी चाहिए, किंतु वे सारे समाज की होती हैं। टोप, कवच इत्यादि वस्तुएं भी राजपरिवार में भेज देनी चाहिए। सुइयों, बरमो, चाकुओं या धातु की लाठियों के सिरों को दे देने के बाद फुटकर शस्त्र उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बांट दिए जाते हैं। यदि वे सबके लिए पर्याप्त न हों तो केवल बड़े भिक्षु ही उन्हें ले लें।

जाल जैसी वस्तुओं की खिड़कियों के लिए जालियां बना ली जाती हैं। अच्छे प्रकार के रंग, जैसे कि पीला सिंदूरी, आसमानी, नीला, हरा, मूर्तियां और इर्द-गिर्द के अलंकारों को रंगने के लिए मदिरा में भेज दिए जाते हैं।

श्वेत और लाल मिट्टी और घटिया नीले पदार्थ एकत्रित भिक्षुओं में बांट दिए जाते हैं। द्राक्षमदिरा यदि खट्टी होने के निकट हो तो भूमि में गाड़ दी जाती है, और इसके सिरका बन जाने पर भिक्षु इसका उपयोग कर सकते हैं। परंतु यदि यह मीठी ही बनी रहे तो इसे फेंक देना चाहिए, किंतु इसे बेचा न जाय। क्योंकि बुद्ध ने कहा—'तुम भिक्षु लोगो, जिन्होंने मुझसे दीक्षा पाई है, न तो किसी दूसरे को मदिरा दो और न आप ही इसका सेवन करो। अपने मुख में इतनी थोड़ी भी मदिरा न डालो जितनी कि नरक के सिरे से गिरी हुई एक बूंद होती है।' यदि मनुष्य मदिरा के साथ मिलाकर आटा, मदिरा के तलछट से बना हुआ जूस खाता है तो वह अपराध करता है। इस विषय में मनुष्य को संदेह में नहीं रहना चाहिए, क्योंकि विनय में इसके निषेध के लिए एक नियम है।

औषधीय पदार्थ, प्रयोजन के समय रोगियों को देने के लिए, एक पवित्र भंडार में रखे जाने चाहिए। बहुमूल्य पत्थर, रत्न और ऐसी ही दूसरी वस्तुएं दो भागों में विभक्त की जाती हैं, एक तो धार्मिक प्रयोजनों (धम्मिक) के अर्पण होता है और दूसरा भिक्षुओं के अपने उपयोग के लिए (सधिक) रहता है। प्रथमोक्त भाग धर्म-पुस्तकों के नकल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण या सजावट में खर्च होता है। दूसरा भाग उपस्थित भिक्षुओं में बांट दिया जाता है। ऐसी वस्तुएं, जैसे कि रत्न-जडित कुरसिया, बेच देनी चाहिए और उनका मूल्य उपस्थित जनों को दे दिया जाये।

लकड़ी की कुरसिया साझे की संपत्ति बना दी जाती हैं। परंतु धर्म-पुस्तकों तथा उनकी टीकाएँ किसी को नहीं देनी चाहिए, किंतु उन्हें 'संप्रदाय' के लोगों के पाठ के लिए एक पुस्तकालय में रख देना चाहिए। जो पुस्तकें बौद्ध-धर्म की न हो उन्हें बेच डाला जाये, और (उनसे प्राप्त हुआ धन) उस समय निवास करनेवाले भिक्षुओं में बांट दिया जाये। यदि लेखपत्र और ठेके तत्काल देय हों तो (रुपया) वसूल करके चटपट बांट देना चाहिए; यदि वे तत्काल देय न हो तो लेखपत्र कोष में रख छोड़ने चाहिए, और जब उनकी अवधि पूरी हो जाये, तब (रुपया) संघ के उपयोग के अर्पण कर दिया जाय। सोना, चादी, गड़ा हुआ तथा बिना गड़ा हुआ माल, कौड़िया (कपर्द) और मुद्राएँ, बुद्ध, धर्म तथा संघ के लिए, तीन भागों में बांट दी जाती है। बुद्ध का भाग मंदिरों, उन स्तूपों—जिनमें पवित्र बाल या नाखून रखे हुए हैं—और अन्य खंडहरों के जीर्णोद्धार में व्यय किया जाता है।

धर्म का भाग धर्म-पुस्तकों की नकल कराने और 'सिंहासन' के निर्माण तथा सजावट में लगाया जाता है। दूसरा संघ का भाग मठ में रहनेवाले भिक्षुओं में बांट दिया जाता है।

भिक्षु के छः परिष्कार^१ रोगी धात्री को दिए जाते हैं। बाकी की टूटी हुई चीजें उचित रूप से बांट दी जायें।

इस विषय का संपूर्ण वर्णन बड़ी विनय में मिलता है।

34

संघ की साधारण संपत्ति का उपयोग

सभी भारतीय विहारों में भिक्षु को कपड़े मठ में रहनेवाले भिक्षुओं (के साझे की पूजा) से दिए जाते हैं। खेतों और उद्यानों की उपज और वृक्षों तथा फलों से होनेवाली

१ तुलना कीजिए क्तुद्धिससघ।

२ देखो परिच्छेद 10.

आय कपड़ा का व्यय पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष भागों में बांट दी जाती है।

भारतीय विहारों को भूमि की विशेष जागीरे मिली हुई हैं, जिनकी आय से भिक्षुओं को वस्त्र दिए जाते हैं। कुछ चीनी मंदिरों में भी ऐसी ही अवस्था है। खेत देनेवाले के मूल सकल्प के कारण विहार में (रहनेवाला) कोई भी व्यक्ति—चाहे वह भिक्षु हो या साधारण भक्त—उसी स्रोत से दान ले सकता है। परंतु यदि वह भोजन नहीं करता तो यह किसी का दोष न होगा। यह माना गया है संप्रदाय को जा दान मिलता है—चाहे वह खेत हो चाहे घर, या कोई क्षुद्र वस्तु,—वह भिक्षुओं के भोजन और आच्छादन के लिए दिया जाता है। इस विषय में कुछ भी सदेह नहीं। यदि उपकारी का वास्तविक संकल्प निष्कपट रूप से उदार था, तो दान के लाभ सबके लिए समझे जा सकते हैं, चाहे यह केवल देव-मंदिर को ही भेंट दिया गया हो।

इसलिए संप्रदाय, जब तक वह दाता के वास्तविक संकल्प को पूरा करता है, बिना किसी दोष के, जैसा चाहे दानों का उपयोग कर सकता है।

परंतु चीन में, कोई व्यक्ति प्रायः विहार की संपत्ति से वस्त्र नहीं ले सकता, इसलिए उसे इस आवश्यकता के लिए पहले से उपाय करना पड़ता है, जिससे वह अपने विशेष कार्यों को भुला देता है। यह नहीं कि जिसको भोजन और कपड़ा मिल जाता है वह बिना किसी शारीरिक या मानसिक श्रम के जीवन व्यतीत करता है, किंतु यह एक सच्ची बात है कि यदि मनुष्य केवल ध्यान और उपासना में लगा हुआ विहार में रहे तो वस्त्र और भोजन की चिंता का कुछ भी प्रयोजन न होने से वह बहुत स्वतंत्र हो सकता है।

जिसके पास पासु (धूल के ढेर) के (चिथड़ों से बनाए हुए) तीन चीवरों के सिवा और कुछ नहीं, जो द्वार-द्वार से भोजन की भिक्षा करता और अरण्य में वृक्षों के नीचे रहता है, वह यति का पवित्र जीवन व्यतीत करता है¹। मोक्ष-मार्ग पर मनुष्य का लक्ष्य जितना अधिक दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है उतना ही उसका आंतरिक ध्यान और ज्ञान बढ़ता है। बाहर से प्रेम और दया दिखलाने से मनुष्य का मन मुक्ति-घाट की ओर जाता है। जो जीवन इस रीति से समाप्त होता है वह सर्वोच्च है। भिक्षुओं के चीवर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं की साझे की संपत्ति में से दिए जाने चाहिए, और प्रत्येक वस्तु—जैसे कि बिछौने के कपड़े, इत्यादि—समान रूप से बांटी जानी चाहिए और किसी एक ही व्यक्ति को नहीं दी जानी चाहिए; इस प्रकार उन्हें विहार की संपत्ति की रक्षा अपनी निज की संपत्ति से भी अधिक सावधानी से करनी चाहिए।

¹ पुराने बौद्धों का ऐसा जीवन अभी इस्लाम के समय में भी मौजूद था।

यदि अनेक दान हो तो विहार को चाहिए कि बड़े को पुण्यार्थ दे के छोट को रख ले। यह बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल है, क्योंकि उसने स्पष्ट कहा है—‘यदि तुम वस्तुओं का यथोचित रीति से उपयोग करोगे तो तुममें कोई दोष न मिलेगा। तुम यथेष्ट रूप से अपना निर्वाह कर सकोगे और श्रमपूर्वक आजीविका को तलाश करने के कष्ट तथा व्यय से मुक्त हो जाओगे’।

विहार के लिए बहुत-सा धन, सड़े हुए अनाज से भरे हुए खाते, अनेक दास और दासिया, कोषागार में इकट्ठा किया हुआ रुपया और खजाना रखना, और इनमें से किसी भी चीज का उपयोग न करना, जबकि सारे मदस्य निर्धनता से दुःख पा रहे हो, अनुचित है। बुद्धिमानों को सदा सत्यासत्य का ठीक निर्णय करके उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

कुछ विहार ऐसे हैं जो वहाँ रहनेवालों को भोजन नहीं देते, किन्तु, प्रत्येक वस्तु उनमें बाट देते हैं और उन्हें अपने भोजन के लिए स्वयं उपाय करना पड़ता है। ऐसे विहार किसी परदेशी को वहाँ निवास करने की आज्ञा नहीं देते। इस प्रकार जो लोग किसी प्रदेश से आते हैं उन्हें ये विहार स्वयं अधर्म-संगत जीवन बिताने का प्रलोभन देते हैं (‘या ऐसे विहार के अधिकारी उन सब भिक्षुओं के जीवन की अधर्म-संगत रीति के लिए उत्तरदाता होंगे जो उनके ससर्ग में आते हैं’)। जो लोग ऐसा अधर्म-संगत आचरण कराते हैं उन्हें इसका कुफल अवश्य मिलेगा, और उनके सिवा किसी दूसरे को भावी परिणाम न भोगने पड़ेगा।

35

शरीर का जलाना अधर्मसंगत है

बुद्ध-भिक्षुओं के लिए अध्ययन की केवल एक ही पद्धति है। जिन लोगों ने अभी अध्ययन आरम्भ ही किया है वे विक्रांत और विश्रुत बनने पर तत्पर हैं, पर अपने धर्म-ग्रंथों का उन्हें कुछ ज्ञान नहीं। वे उन लोगों का अनुसरण करते हैं जो उंगलियों को जला देना धर्मनिष्ठा का काम और आग से अपने शरीर को नष्ट कर डालना प्रशंसा का कर्म समझते थे। वे ऐसे कामों को अपने हृदय में ठीक समझते हुए अपनी ही प्रवृत्ति पर चलते हैं। यह सच है कि सूत्रों में ऐसे कर्मों के कुछ उल्लेख हैं, परन्तु वे भक्तजनों के लिए हैं, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर उनके लिए न केवल अपने कोष, वरन् अपना जीवन दे देना भी ठीक है। इस प्रकार इसका संकेत स्वयं भिक्षुओं की ओर नहीं। क्यों ? प्रव्रजितों को अपने आपको दृढ़तापूर्वक विनय के नियमों की सीमा में ही रखना चाहिए। यदि वे उनके उल्लघन का अपराध नहीं करते तो उनका आचरण सूत्रों के अनुकूल है। यदि वे किसी उपदेश का उल्लघन

करते ह तो उनका आज्ञानुवातिता म दाप ह

भिक्षु होने क कारण उन्हें घास का एक तिनका भी नष्ट न करना चाहिए, चाहे सारा मंदिर घास से ढका हुआ हो। चाहे वे किसी एकाकी खेत में भूख से मर रहे हों, उन्हें चावल का एक दाना भी न चुराना चाहिए। परंतु सर्वसत्त्वप्रियदर्शन¹ के ऐसे भक्तजन के लिए अपनी बाह को भी भूनकर भोजन देना ठीक है। बोधिसत्त्व ने अपने लड़को और लड़कियां तक का दान कर दिया था, परंतु भिक्षु को देने के लिए लड़का और लड़की ढूंढने का प्रयोजन नहीं। महासत्त्व ने अपने-नेत्र तथा शरीर दे दिया था, परंतु भिक्षु का ऐसा करने का प्रयोजन नहीं। हिस् एन यू (ऋषि² नदित) ने अपना जीवन सौंप दिया था, परंतु यह कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसका अनुकरण विनय के विद्यार्थी के लिए अच्छा हो।

राजा मेत्रीवल ने अपनी बाल दे दी थी, परंतु भिक्षु को उसके उदाहरण का अनुकरण नहीं करना चाहिए। मैंने अभी सुना है कि (चीन या भारत के, संभवतः चीन के) युवक अपने आपको वीरतापूर्वक धर्म-अनुष्ठान के अर्पण करते हुए, शरीर जला देने को बुद्धत्व प्राप्त करने का एक साधन समझते हैं, और एक-दूसरे के बाद अपने जीवनो का परित्याग करते हैं।

ऐसा नहीं होना चाहिए। क्योंकि देहातरगमन की दीर्घ अवधि के पश्चात् मनुष्य-जन्म प्राप्त करना कठिन है। एक सहस्र बार मनुष्य-जन्म पाने पर भी हो सकता है कि मनुष्य को प्रज्ञा प्राप्त न हो, न वह सात बोध्यगों³ को सुने और न तीन पूज्यो (रत्नत्रय) को मिले। अब हमें एक उत्कृष्ट स्थान में निवास मिला है और हमने प्रशंसनीय धर्म को धारण किया है। सूत्रों के केवल थोड़े-से श्लोक पढ़कर ही अपने क्षुद्र शरीर को छोड़ देना व्यर्थ है। हमारे अनित्यता पर ध्यान करना आरंभ करने से इतनी जल्दी बाढ़, हम ऐसी नि सार बलि को बड़ा कैसे समझ सकते हैं ?

हमें चार प्रकार के उपकारों⁴ का बदला चुकाकर उपदेशों का ठीक-ठीक पालन करना और प्राणियों⁵ की तीन श्रेणियों को बचाने के लिए ध्यान में लग जाना चाहिए। ठीक जिस प्रकार अतल सागर में तैरते समय मनुष्य ने पवन से भरा हुआ थैला पकड़ रखा हो, उसी प्रकार हमें अनुभव करना चाहिए कि एक छोटे-से अपराध में भी कितना बड़ा भय है। पतली बरफ़ पर दौड़ते हुए घोड़े के काटा लगाने के सदृश,

1 अपने शरीर को जला देने इत्यादि की कथा मुद्धर्मपुडरीक, अंश 22 में है।

2 काश्यप क अनुसार यह मैत्रीवल की उपाधि थी, जिसका जातक जातकमाला (8वीं) में मिलता है। कर्म का संस्करण, पृष्ठ 11 देखिए।

3 चाइल्डम का S V बोज़गंगा।

4 (i) बुद्ध, (ii) गंगा, (iii) माता-पिता और (iv) उपकारियों क उपकार

5 कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक, अर्थात् त्रिभव।

प्रज्ञा-प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करते समय हमें पूरी तरह से होशियार रहना चाहिए।

इस प्रकार आचरण करने और अच्छे मित्रों की सहायता से हमारा मन जीवन के अंतिम क्षण तक अचल रहेगा। ठीक तौर पर सकल्प बना लेने पर, हमें भावी बुद्ध मैत्रेय के मिलाप की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम (हीनयान का) 'छोटा परिभोग' प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें पवित्रीकरण की आठ अवस्थाओं के द्वारा उसे लेना चाहिए। परंतु यदि हम (महायान के) 'बड़े परिभोग' के क्रम पर चलना सीखते हैं तो हमें तीन असंख्य कल्पों के द्वारा अपने कार्य को संपन्न करने का यत्न करना चाहिए।

मैंने कभी कोई ऐसा कारण नहीं सुना कि क्यों हम दुःसाहस से अपना जीवन दे दें। आत्महत्या का पाप पहली श्रेणी के निषेधों को तोड़ने के दूसरे दर्जे पर है। यदि हम विनय-पुस्तकों का सावधानी से निरूपण करें तो हम आत्महत्या की आज्ञा देनेवाला कोई वचन कभी न पाएंगे।

बुद्ध के अपने शब्दों में ही इंद्रियों को वश में करने की महत्त्वपूर्ण रीति बताई गई है। कामनाओं को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को जलाने से क्या लाभ? बुद्ध ने तो बधिया करने की भी आज्ञा नहीं दी, परंतु दूसरी ओर उसने स्वयं तालाब में मछलियों को छोड़ देने के लिए उभारा है। बुद्ध का वचन हमें किसी भारी उपदेश का उल्लंघन और अपनी मनमानी करने का निषेध करता है। यदि हम अपने शरीरों को जलाने जैसे किसी अनुष्ठान की शरण लेते हैं तो हम उसकी श्रेष्ठ शिक्षा का परित्याग करते हैं। परंतु हम उन लोगों के विषय में विचार नहीं कर रहे हैं जो विनय-नियमों को बिल्कुल धारण न करके बोधिसत्त्व के अनुष्ठान का अनुकरण, और दूसरों के कल्याण के लिए अपने आपको बलि कर देना चाहते हैं।

36

पास खड़े होनेवाले अपराधी हो जाते हैं

शरीर को जलाने का ऐसा कर्म बहुधा आंतरिक निष्कपटता दिखलाने की एक रीति समझी जाती है। दो-तीन दृढ़-सृहृद आपस में मिलकर युवा विद्यार्थियों को अपने जीवन नष्ट कर डालने की प्रेरणा करने के लिए सपत्ति कर लेते हैं। जो इस रीति से पहले नष्ट होते हैं उन्हें स्थूल¹ अपराध लगता है, और जो लोग पीछे से उनके उदाहरण का अनुकरण करते हैं वे पाराजिक² अपराधी बनते हैं, क्योंकि वे (आत्महत्या

1 घोर अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S.V. थूलो।

2 पहले और सवने बुरे अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S.V.

का निषेध करनेवाले) नियम को ताड़कर फल प्राप्ति की इच्छा करते हैं, और आदशों के उल्लंघन से मृत्यु की तलाश करते हुए, अपने कुनिर्मित सकल्प पर दृढ़ता से डटे रहते हैं। ऐसे लोगो ने कभी बुद्ध के सिद्धांत का अध्ययन नहीं किया। यदि सतीर्थ इस अनुष्ठान के लिए उभारें तो उन्हें पाप लगता है (जिसका प्रायश्चित्त नहीं हो सकता), ठीक जिस प्रकार जब सुई की आख टूट जाती है (तब फिर यह दुबारा नहीं बन सकती)। जो लोग दूसरे से कहते हैं कि तुम अपने आपको आग में क्यों नहीं फेंक देते वे (ऐसा) पाप करते हैं (जो दूर नहीं हो सकता), जिस प्रकार कि टूटा हुआ पत्थर जुड़ नहीं सकता। मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। लोकोक्ति है—‘दूसरों के उपकारों का बदला देना अपने जीवन नष्ट कर डालने से, और चरित्र-गठन अपने नाम के कलंकित करने से अच्छा है।’ भूखे सिंह को अपना शरीर देना बोधिसत्त्व का ही मोक्ष का काम था। श्रमण के लिए यह उचित नहीं कि वह एक जीते कबूतर के स्थान में अपने शरीर से मांस काटकर दे। बोधिसत्त्व का अनुकरण करना हमारी शक्ति में नहीं। मैंने स्थूल रूप से बता दिया है कि त्रिपिटक के अनुसार कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित। बुद्धिमानों को पूर्ण रूप से मालूम होना चाहिए कि अनुकरण करने के लिए कौन-सा अनुष्ठान ठीक है।

गंगा नदी में प्रतिदिन अनेक मनुष्य अपने आपको डुबाते हैं। बुद्ध—गया के पर्वत पर भी बहुधा आत्महत्याएं होती रहती हैं। कुछ लोग अपने आपको भूख से मारते हैं और कुछ नहीं खाते। कई लोग वृक्ष पर चढ़कर अपने आपको नीचे गिरा देते हैं।

जगत्पूज्य (बुद्ध) ने इन भटकाए हुए मनुष्यों को नास्तिक ठहराया है। कई लोग जान-बूझकर अपने पुरुषत्व को नष्ट करके हिजडे बन जाते हैं।

ये कर्म विनय-शास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल हैं। वे लोग भी, जो ऐसे अनुष्ठानों को अनुचित समझते हैं, डरते हैं कि यदि हम ऐसे कामों को रोकेंगे तो हमें पाप लगेगा। परंतु यदि मनुष्य ऐसी रीति से अपना जीवन नष्ट करता है तो उसके अस्तित्व का बड़ा उद्देश्य खो जाता है।

इसी कारण बुद्ध ने इसका निषेध किया था। बढ़िया भिक्षुओं और विज्ञ उपाध्यायों ने उपयुक्त हानिकारक रीति से कभी आचरण नहीं किया।